MPSA-02

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

MPSA-02

संस्कृत साहित्य समीक्षा सिद्धान्त

MPSA-02

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

संस्कृत साहित्य समीक्षा सिद्धान्त

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

अध्यक्ष

प्रोफेसर (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

संयोजक/समन्वयक तथा सदस्य

संयोजक :

प्रो. (डॉ.) गणेशीलाल सुथार
परामर्शदाता (संस्कृत)
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)
पूर्व निदेशक, पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ
पूर्व आचार्य, संस्कृत विभाग, **जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर**

सदस्य :

1. **प्रो. (डॉ.) राजेन्द्र आई. नाणावटी** (राष्ट्रपति-सम्मानित)
   इमेरिटॅस फेलो (यू.जी.सी.)
   पूर्व निदेशक, ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट
   महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ोदा (गुजरात)

2. **डॉ. कलानाथ शास्त्री** (राष्ट्रपति-सम्मानित)
   अध्यक्ष, आधुनिक संस्कृतसाहित्य-पीठ
   जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर
   पूर्व अध्यक्ष, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर (राजस्थान) एवं
   अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ.प्र.)

3. **डॉ. सुषमा सिंघवी**
   पूर्व सहआचार्य, संस्कृत विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
   निदेशक
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केन्द्र-जयपुर

4. **प्रो. (डॉ.) कमलेश कुमार चोकसी**
   आचार्य, संस्कृत विभाग, भाषा-संकाय
   गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद (गुजरात)

5. **प्रो. (डॉ.) श्रीकृष्ण शर्मा**
   आचार्य, संस्कृत विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान)

सम्पादन एवं पाठ लेखन

सम्पादक (प्रथम खण्ड)
डॉ. रमाकान्त पाण्डेय
सह आचार्य, संस्कृत साहित्य-विभाग
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)
जयपुर परिसर, जयपुर

सम्पादक (द्वितीय खण्ड)
प्रो. (डॉ.) राजेन्द्र आई. नाणावटी
पूर्व निदेशक
ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट
महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ोदा (गुजरात)

सह-सम्पादक
डॉ. रानी दाधीच
प्रवक्ता
राजस्थान शिक्षा महाविद्यालय, ब्रह्मपुरी, जयपुर

लेखक

1. **डॉ. प्रभावती चौधरी** — **इकाई 1**
   सह-आचार्य, संस्कृत-विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
2. **डॉ. (श्रीमती) सरोज कौशल** — **इकाई 2**
   सह आचार्य, संस्कृत विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
3. **डॉ. सुदेश आहूजा** — **इकाई 3,11**
   व्याख्याता, संस्कृत विभाग
   राजकीय महाविद्यालय, कोटा
4. **डॉ. पुष्पा गुप्ता** — **इकाई 4, 6, 8**
   पूर्व व्याख्याता, संस्कृत विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, सिरोही
5. **डॉ. सरिता भार्गव** — **इकाई 5**
   व्याख्याता, संस्कृत विभाग
   राजकीय महाविद्यालय, कोटा
6. **डॉ. रमाकान्त पाण्डेय** — **इकाई 7, 14**
   सह-आचार्य, संस्कृत साहित्य-विभाग
   राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)
   जयपुर परिसर, जयपुर
7. **डॉ. दूलीचन्द शर्मा** — **इकाई 9, 13**
   अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
   राजकीय स्नातकोत्तर डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर
8. **डॉ. रामसिंह चौहान** — **इकाई 10**
   सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
9. **डॉ. रानी दाधीच** — **इकाई 12**
   प्रवक्ता
   राजस्थान शिक्षा महाविद्यालय, ब्रह्मपुरी, जयपुर

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच	प्रो. (डॉ.) अनाम जेटली	योगेन्द्र गोयल
कुलपति	निदेशक	प्रभारी अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा	संकाय विभाग	पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

उत्पादन : नवम्बर, 2009 ISBN No. : 13/978-81-8496-147-8

सर्वाधिकार सुरक्षित : इस सामग्री के किसी भी अंश की वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में 'मिमियाग्राफी' (चक्रमुद्रण) के द्वारा या अन्यथा पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

निदेशक (अकादमिक) द्वारा वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा के लिये मुद्रित एवं प्रकाशित।

दी डायमण्ड प्रिन्टिंग प्रेस, जयपुर द्वारा 500 प्रतियां मुद्रित।

MPSA-02

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

संस्कृत साहित्य समीक्षा सिद्धान्त

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई–1	काव्य–परिभाषा तथा काव्य भेद	1
इकाई–2	काव्यहेतु तथा प्रयोजन	19
इकाई–3	शब्द शक्ति – परिभाषा, भेद एवं स्वरूप	30
इकाई–4	काव्य के दोष तथा गुण : स्वरूप विवेचन	49
इकाई–5	वृत्ति, रीति एवं अलंकारो का स्वरुप विवेचन	79
इकाई–6	काव्यात्मान्वेषण एवं ध्वनि सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यो की उपस्थापनाएँ	99
इकाई–7	संस्कृत नाट्य की लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी परम्परा	118
इकाई–8	दशरूपक–विकल्पन – वस्तु, नेता तथा रस के आधार पर दशरूपक व उनके भेदोपभेदों का सोदाहरण विवेचन 128	128
इकाई–9	ध्वनिविरोधी आचार्यों के मत : विशेषतः धनञ्जय, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र तथा जयरथ के ध्वनिविरोधी तर्क	148
इकाई–10	रस का स्वरूप विवेचन एवं रस संख्या	163
इकाई–11	भरत की रसदृष्टि, रससूत्र तथा उसके व्याख्याकार	176
इकाई–12	राजशेखर रचित काव्यमीमांसा : प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन	196
इकाई–13	कुन्तक–रचित – वक्रोक्तिजीवितम्	214
इकाई–14	महिमभट्ट का अनुमितिवाद	234

इकाई 1

काव्य–परिभाषा तथा काव्य भेद

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 काव्यशास्त्र

1.2.1 काव्यशास्त्र शब्द के प्रयोग का आधार

1.2.2 उद्‌गम

1.2.3 वेदों में काव्यशास्त्र के बीज

1.2.4 कालविभाग

1.3 काव्य–परिभाषा

1.3.1 अदोषौ

1.3.2 सगुणौ

1.3.3 अनलङ्‌कृती पुनः क्वापि

1.3.4 काव्य की शब्दनिष्ठता

1.3.5 रसवत् का काव्यत्व

1.4 काव्य भेद

1.4.1 काव्य के बाह्यरूप के आधार पर

1.4.1.1 दृश्य काव्य

1.4.1.2 श्रव्य काव्य

1.4.1.3 निबद्ध काव्य

1.4.1.4 खण्ड काव्य

1.4.1.5 कोष

1.4.1.6 गद्यकाव्य

1.4.1.7 कथा

1.4.1.8 आख्यायिका

1.4.1.9 मिश्रकाव्य

1.4.2 अर्थ के आधार पर काव्य विभाजन

1.4.2.1 ध्वनि काव्य

1.4.2.2 अभिधामूला ध्वनि

1.4.2.3 चित्र काव्य

1.5 सारांश

1.6 शब्दावली

1.7 बोधप्रश्न

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे कि 'काव्य शास्त्र' शब्द के प्रयोग का आधार क्या रहा काव्यशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास का क्रम क्या है तथा काव्य शास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने काव्य की क्या परिभाषाएँ दी है तथा काव्य के भेदों के क्या आधार है ?

1.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप काव्य–शास्त्र के उद्‌भव व विकास का अध्ययन करेंगे। काव्य–शास्त्र की प्राचीनता तथा काव्य–शास्त्र के प्रमुख आचार्यों के काल–क्रम का अध्ययन करेंगे। काव्य के स्वरूप के विषय में आचार्यों के विविध मत एवं इस मत भिन्नता के कारण प्रतिपादित विविध काव्य लक्षणों का विस्तृत अध्ययन करेंगे। इसके अतिरिक्त काव्य के बाह्य आकार एवं अर्थ पर आधारित भेदों का अध्ययन भी करेंगे।

1.2 काव्यशास्त्र

संस्कृत शास्त्रों में काव्यशास्त्र या अलङ्कार शास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्य के स्वरूप एवं सौन्दर्य की परीक्षा करने वाला शास्त्र 'काव्यशास्त्र' है। इसका प्रारम्भिक शब्द 'काव्यालङ्कार' था, यही कारण है कि भामह, रुद्रट, वामन आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों का नाम काव्यालङ्कार रखा। भामह का काव्यशास्त्र पर कारिका रूप से लिखा गया ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' है। उद्‌भट के काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' तथा रुद्रट के ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' है। वामन ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कारसूत्र' रखा। यद्यपि इन ग्रन्थों में मात्र अलङ्कारों का ही वर्णन नहीं है, अपितु गुण, दोष, रीति, अलङ्कार आदि जिन तत्त्वों की काव्य सौन्दर्य के ज्ञान हेतु आवश्यकता है, उन सभी का वर्णन है। कालान्तर में 'काव्यालङ्कार' के स्थान पर 'अलङ्कारशास्त्र' अभिधान ही पाया जाता है। प्रतापरुद्रीय की टीका में 'अलङ्कारशास्त्र' के नाम के प्रतिपादन के लिए **'छत्रिन्याय'** का अवलम्बन किया गया है – 'यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्रमुच्यते।' जैसे अनेक व्यक्तियों के समूह में एक–दो छाताधारी होने पर भी 'छत्रिन्याय' से उन्हें छाताधारी कह दिया जाता है तथा 'छत्रिणो यान्ति' इस प्रकार का प्रयोग कर दिया जाता है, उसी प्रकार अलङ्कार को प्रधान मानकर अलङ्कारों के साथ रसादि का निरूपण करने वाले शास्त्र को अलङ्कार शास्त्र कह दिया जाता है।

1.2.1 काव्यशास्त्र शब्द के प्रयोग का आधार

आरम्भ के काव्यालङ्कार के साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग नहीं होता था। शास्त्र का सामान्य अर्थ **'शासनात् शास्त्रं'** शासन करने वाला होने से शास्त्र कहलाता है। शासन से तात्पर्य किसी कार्य

में प्रवृत्त करना या किसी कार्य से निवृत्त करना है। वेद, स्मृति, पुराणादि शास्त्र सत्कर्म में प्रवृत्ति एवं असत्कर्म से निवृत्ति करने का आदेश देते हैं। वेदान्त दर्शन के अनुसार केवल विधि–निषेध मात्र ही शास्त्र का प्रयोजन नहीं है अपितु किसी गूढ़ तत्त्व का शंसन करने वाले ग्रन्थ शास्त्र कहलाते हैं।

ग्यारहवीं शती में सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता भोजदेव ने मुख्य रूप से इस शास्त्र के लिए 'काव्यशास्त्र' पद का प्रयोग किया था –

यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते।।

सरस्वती0 2/138

अर्थात् विधि–निषेधपरक इस शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए क्योंकि इसी से लोकव्यवहार संचालित होता है। उन्होंने विधि–निषेध परक इस शास्त्र के छः भेद किए – काव्य, शास्त्र, इतिहास, काव्यशास्त्र, काव्येतिहास, शास्त्रेतिहास।

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्।।

सरस्वती0 2–139

साहित्य' शब्द का प्रयोग –

काव्यशास्त्र के लिए काव्यालङ्कार का प्रयोग काव्य–सौन्दर्य की विवेचना करने वाले शास्त्र के रूप में किया गया था। भामह– रुद्रटादि आचार्यों ने इसी कारण अपने ग्रन्थ के लिए काव्यालङ्कार शब्द का प्रयोग किया – किन्तु इसके साथ ही 'साहित्य' शब्द का प्रयोग भी प्राप्त होता है। आधुनिक काल में 'साहित्य' शब्द ही अधिक प्रचलित है, इसका श्रेय चौदहवीं शती के विश्वनाथ को ही अधिक जाता है। पठन–पाठन में विश्वनाथ रचित ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' के अधिक प्रचलित होने के कारण इस शास्त्र का नाम 'साहित्यशास्त्र' रूप में अधिक प्रचलित हो गया। भामह एवं कुन्तक ने शब्द व अर्थ के साहित्य के आधार पर काव्यलक्षण किए–

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।।

वक्रोक्ति 01/17

अर्थात् काव्य में सौन्दर्याधान के लिए शब्द व अर्थ दोनों की अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिणी स्थिति ही 'साहित्य' है। अन्यूनानतिरिक्तत्व का तात्पर्य है शब्द अर्थगौरव के अनुरूप हो न कम हो न अधिक। इसी प्रकार अर्थ शब्दसौन्दर्य के अनुरूप हो न कम हो न अधिक। राजशेखर ने **'पंचमी साहित्य विद्या इति यायावरीयः'** कहकर इस शास्त्र के लिए साहित्यविद्या शब्द का प्रयोग किया, यही कारण है कि ग्यारहवीं शती में रूय्यक ने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्यमीमांसा' एवं विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' रखा।

क्रियाकल्प शब्द का प्रयोग –

उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त इस शास्त्र के लिए प्राचीन काल में 'क्रियाकल्प' नाम भी प्राप्त होता

है जो अन्य सभी नामों से प्राचीन है। वात्स्यायन के कामसूत्र में 64 कलाओं में से एक है क्रियाकल्प। जो कि काव्यक्रियाकल्प का संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। 'ललितविस्तर' नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है।

टीकाकार जयमङ्गलार्थ ने इसका अर्थ **'क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालङ्कार इत्यर्थः'** किया है। वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड (अध्याय 94/4–10) में लवकुश के गान में राम की सभा में विविध विद्या विशेषज्ञों की उपस्थिति का वर्णन किया गया है। उसके साथ 'क्रियाकल्प तथा काव्यविद्– का वर्णन भी पाया जाता है।

क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के लिए 1. काव्यालङ्कार, 2. काव्यशास्त्र, 3. अलङ्कारशास्त्र, 4. साहित्यशास्त्र 5. क्रियाकल्प – इन पाँच नामों का प्रयोग प्रायः होता है।

1.2.2 काव्य का उद्गम

साहित्यशास्त्र के उद्गम के विषय में राजशेखर ने अपने–ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में पौराणिक शैली की एक आख्यानिका दी है। यद्यपि इसमें प्रामाणिक तत्त्व कम है, किन्तु काव्य के उद्गम के विषय में एक विचारधारा अवश्य प्राप्त होती है।

भगवान् श्रीकण्ठ ने परमेष्ठी आदि चौसठ शिष्यों को इसका उपदेश दिया। इनमें से प्रथम शिष्य स्वयंभू–ब्रह्मदेव ने अपनी इच्छा से उत्पन्न शिष्यों को इसका उपदेश दिया। इन इच्छाजन्य शिष्यों में सरस्वतीपुत्र 'काव्यपुरुष' था जो दिव्यदृष्टि एवं भविष्यदर्शी था। ब्रह्मदेव ने 'काव्यपुरुष' को काव्यविद्या का प्रचार करने का आदेश दिया। काव्यपुरुष ने अट्ठारह भागों में विभक्त काव्य–विद्या का उपदेश सहस्राक्षादि दिव्य विद्यास्नातकों को दिया, उन्होंने काव्यविद्या के एक–एक भाग में विशेषज्ञता प्राप्त करके अपने–अपने विषय पर पृथक्–पृथक् ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकार भिन्न–भिन्न विषयों की ग्रन्थ रचनाओं से काव्यविद्या अनेक भागों में विभक्त हो गई।

इस प्रकार राजशेखर ने काव्यविद्या के उद्गम का विचार किया। अन्य किसी भी ग्रन्थ में इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

1.2.3 वेदों में काव्यशास्त्र के बीज –

वेद–वेदाङ्ग एवं साहित्यशास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, किन्तु प्राचीन ऋषियों के मत में सभी सत्य विद्याओं की उत्पत्ति और विकास वेदों से ही हुआ। अतः अनुसन्धाताओं ने वेदों में प्रत्येक विद्या के बीज खोजने का प्रयत्न किया। इसी दृष्टि से 'साहित्यशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का वेदों में भी अन्वेषण करने का प्रयत्न किया गया। वेद स्वयं काव्यस्वरूप है तथा काव्य सौन्दर्य के सभी तत्त्व जैसे गुण, अलङ्कार, रीति, ध्वनि आदि का स्वरूप प्राप्त होता है। वेदों में रचना के माधुर्य, ओज एवं प्रसादादि गुणों के उदाहरण अनेक स्थानों पर प्राप्त होते हैं। उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों की वेदों में भरमार हैं –

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्व स्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उषती सुवासाः।।

ऋग्वेद – 10/71–4

वेद–वेदाङ्ग में इस प्रकार के अलङ्कारों, गुण एवं रीतियों के उदाहरण अनेक स्थानों पर भरे पड़े हैं। पाणिनीय व्याकरण में, तुल्य, उपमा आदि शब्दों की इन्हीं अर्थों में व्याख्या प्राप्त होती है।

1.2.4 कालविभाग

वैदिक साहित्य से लेकर विक्रम से लगभग 500 वर्ष पूर्व पाणिनि के काल तक अलङ्कारशास्त्र की स्थिति पर विचार किया गया। किन्तु इस काल में अलङ्कारशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख मिलते हुए भी उसका सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरूपण प्राप्त नहीं होता। उसका शास्त्रीय निरूपण मुख्यतः भरतमुनि से प्रारम्भ होता है। भरतमुनि (विक्रम पूर्व प्रथम शती) से लेकर 18वीं शती के पण्डितराज जगन्नाथ, आशाधर भट्ट तथा विश्वेश्वर पण्डित तक अलङ्कारशास्त्र के साहित्य का निर्माण होता रहा। इस काल को विद्वानों ने चार भागों में विभक्त किया है –

1. प्रारम्भिक काल (अज्ञातकाल से लेकर भामह तक)
2. रचनात्मक काल (भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक)
3. निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक)
4. व्याख्याकाल (मम्मटकाल से लेकर जगन्नाथ, विश्वेश्वर पण्डित तक)

प्रारम्भिक काल सातवीं शती के प्रारम्भ तक माना गया है। इस काल में भरत एवं भामह दो ही काव्यशास्त्र के आचार्य माने गए। भरत ने नाट्यशास्त्र एवं भामह ने काव्यालङ्कार की रचना की।

रचनात्मक काल साहित्यशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण काल है। इस काल में साहित्यशास्त्र के विविध सम्प्रदाय – अलङ्कार, रीति, रस एवं ध्वनि विषयक मौलिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस काल के प्रमुख आचार्य भामह, उद्भट, रुद्रट, दण्डी, वामन, लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक, आनन्दवर्धन आदि हुए।

निर्णयात्मक काल भी साहित्यशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण काल है। अभिवनगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट प्रमुख आचार्य हैं।

साहित्यशास्त्र का चौथा महत्त्वपूर्ण काल व्याख्याकाल के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल के प्रमुख आचार्य मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जयदेव, रुय्यक, अप्पयदीक्षित, शारदातनय, शिङ्गभूपाल, भानुदत्त आदि अनेक आचार्य हैं। राजशेखर, क्षेमेन्द्र, रूपगोस्वामी आदि इसी काल के आचार्य हैं।

कुछ विद्वानों ने ध्वनिसिद्धान्त को साहित्य शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त मानकर इस काल को तीन भागों में विभक्त किया –

1. पूर्वध्वनिकाल – प्रारम्भ से आनन्दवर्धन (800 विक्रम संवत्) तक।
2. ध्वनिकाल – आनन्दवर्धन से मम्मट तक (800 से 1000 विक्रम संवत् तक)
3. पश्चात् ध्वनिकाल – मम्मट से जगन्नाथ तक (1000 से 1750 वि.स. तक)

1.3 काव्य–परिभाषा

'काव्य का क्या स्वरूप है' इस विषय को लेकर प्रारंभिक काल से 18वीं शती तक पर्याप्त विचार किया गया। विविध आचार्यों ने पर्याप्त विचारपूर्वक काव्य लक्षणों का प्रतिपादन किया। इस काव्य–लक्षण विषयक विचार को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है –

1. शब्द व अर्थ का युगल काव्य – भामह, वामन, रुद्रट मम्मटादि।
2. केवल शब्द ही काव्य – दण्डी, पण्डितराज जगन्नाथ, जयदेव।
3. शब्द व अर्थ को महत्त्व न देकर रसवत् की ही काव्यता – भोज, विश्वनाथादि।

समस्त आचार्यों में मम्मट के काव्य लक्षण पर पर्याप्त विचार किया गया तथा काव्य लक्षण–विषयक विचार की दो सरणियाँ हो गई – 1. मम्मट के काव्यलक्षण खण्डन की 2. मम्मट का अनुसरण करने वाले आचार्य।

प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रदत्त काव्य–लक्षण इस प्रकार है –

1. शब्द व अर्थ के युगल को काव्य मानने वाले आचार्यों के काव्य लक्षण इस प्रकार है –
   - अ. भामह – शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। (काव्यालङ्कार सूत्रम् 1.16)
   - ब. वामन – काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। (काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति 2, 9)
   - स. रुद्रट – शब्दार्थौ काव्यम्। (काव्यालङ्कार 2, 9)
   - द. आनन्दवर्धन – सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। (ध्वन्यालोकः 1.1 वृत्ति)
   - य. मम्मट – तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। (काव्यप्रकाश 1, 8)
   - र. कुन्तक –शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
     बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि। (वक्रोक्तिजीवितम् 1.1)
   - ल. हेमचन्द्र – अदौषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्। (वाग्भट पृ. 18)
   - व. विद्यानाथ – गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्। (प्रतापरुद्रीयम् पृ. 42)
   - प. विद्याधर – वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः। (एकावली पृ. 1.13)

इस प्रकार अधिकांश आचार्यों द्वारा शब्द–अर्थ दोनों में काव्यत्व स्वीकार किया गया। इनमें सर्वाधिक प्राचीन एवं संक्षिप्त काव्यलक्षण भामह का है। 'सहितौ' शब्द का क्या अर्थ लेते हैं इसका विश्लेषण भामह ने नहीं किया।

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने अन्य आचार्यो की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक एवं स्पष्टरूप से काव्य का लक्षण करने का प्रयत्न किया। किन्तु इन समस्त काव्य लक्षणों में मम्मट का काव्य लक्षण अधिक विचारणीय है। क्योंकि मम्मट के काव्य–लक्षण में पूर्व परम्परा निहित है, मम्मट के परवर्ती आचार्यों में अधिकांश ने मम्मट का अनुसरण किया, जिन आचार्यों ने इस परम्परा को स्वीकार नहीं किया उनके लिये भी मम्मट सिद्धान्त ही खण्डन का प्रमुख विषय रहा है। अतः यहाँ मम्मट के लक्षण एवं उसके अन्य आचार्यों द्वारा कृत खण्डन का विस्तार से निरूपण किया जा रहा है।

मम्मट के काव्य–लक्षण में शब्द व अर्थ के तीन विशेषण दिए गए हैं – अदोषौ, सगुणौ, अनलङ्कृती पुनः क्वापि। यहाँ इन तीनो विशेषणों का विवेचन किया जा रहा है –

1.3.1 अदोषौ –

'अदोषौ' पद से मम्मट का तात्पर्य जानने से पहले हम विश्वनाथ कृत खण्डन का विचार करते हैं। विश्वनाथ ने अदोषौ पद के विविध प्रकार से अर्थ निरूपण करते हुए उसका खण्डन किया है।

1. सर्वथा दोषरहित शब्दार्थ को काव्य माना जाए तो काव्य प्रविरलविषय अथवा निर्विषय हो जाएगा अर्थात् काव्य मिलना कठिन अथवा असंभव हो जाएगा।
2. न्यक्कारो ह्ययमेव' श्लोक जो उत्तम ध्वनि का उदाहरण स्वीकार किया गया है वह विधेयाविमर्शदोष से दूषित है, दोषरहित की काव्यता स्वीकार करने पर प्रस्तुत श्लोक उत्तम काव्य का उदाहरण होने पर भी काव्यत्व से वंचित हो जाएगा। ऐसी स्थिति में लक्षण में अव्याप्ति दोष आएगा।

वस्तुतः विश्वनाथ की ये दोनों शङ्काएँ निराधार है, मम्मट ने दोष का लक्षण **'मुख्यार्थहतिर्दोषो'** अर्थात् जो रस को हानि पहुँचाए वह दोष है – इस रूप में रसापकर्षकाः दोषाः इस रूप से नित्य–अनित्य दोषों का निरूपण किया है। जो रस को हानि नहीं पहुँचाते वे श्रुतिकटुत्वादि अनित्य दोष है। अतः दोषरहित शब्द और अर्थ काव्य कहने से किसी प्रकार का लक्षण–दोष नहीं आता।

1.3.2 सगुणौ –

सगुणत्व विशेषण उत्तम काव्य के साथ मध्यम एवं अधम के काव्यत्व हेतु से किया गया है। यद्यपि विश्वनाथ ने अनेक युक्तियाँ देकर सगुणौ के स्थान पर 'सरसौ' पद को उपयुक्त माना है किन्तु मध्यम एवं अधम काव्य में लक्षण की अव्याप्ति न हो इसीलिए मम्मट ने सरसौ पद न देकर सगुणौ पद स्वीकार किया है क्योंकि उत्तम काव्य में तो सगुणत्व शब्दार्थ के रसाभिव्यंजकत्व के सामर्थ्य को व्यक्त करता है किन्तु मध्यम एवं अधम काव्य में सगुणत्व औपचारिक रूप से माना गया है क्योंकि सुकुमार वर्ण उपचारतः मधुर एवं कठोर एवं महाप्राण वर्ण उपचारतः ओजस्वी माने गए हैं।

1.3.3 अनलङ्कृती पुनः क्वापि –

मम्मट के अनुसार अलङ्कार युक्त शब्द एवं अर्थ काव्य हैं किन्तु यदि कभी अलङ्कार स्फुट न हो तो भी काव्यत्व की हानि नहीं है। इसके उदाहरण के रूप में मम्मट ने 'यः कौमारहरः स एव' श्लोक प्रस्तुत किया है। मम्मट के अनुसार यहाँ विशेषोक्ति अथवा विभावना कोई भी अलंङ्कार स्पष्ट नहीं है किन्तु विश्वनाथ ने उपर्युक्त श्लोक में विभावनाविशेषोक्ति मूलक सन्देहसङ्कर अलङ्कार माना है किन्तु यहाँ अलङ्कारों की स्पष्टता नहीं है।

शब्दार्थयुगल के काव्यत्व का खण्डन –

पण्डितराज जगन्नाथ शब्दार्थ युगल के काव्यत्व को स्वीकार नहीं करते। अतः उन्होंने मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन किया। उनके अनुसार शब्दार्थ युगल को काव्यशब्द से नहीं कहा जा सकता, प्रमाण का अभाव होने से। इसके विपरीत 'काव्यमुच्चैः पठ्यते' 'काव्यादर्थोऽवगम्यते' 'काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः' इत्यादि शिष्टजन प्रमाण काव्य की शब्दनिष्ठता को ही अभिव्यक्त करते हैं। किस शब्द का क्या अर्थ है इसमें शिष्टव्यवहार ही प्रमाण है।

किन्तु शब्दार्थयुगल के काव्यत्व में इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं है। मम्मट के वचन को यहाँ प्रमाण रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त शब्दार्थयुगल दोनों में काव्यत्व मानने पर क्या स्थिति रहती है – 1. क्या शब्द व अर्थ दोनों की व्यासज्य वृत्ति से काव्यता है अथवा 2. प्रत्येक पर्याप्त – तात्पर्य यह है कि शब्द व अर्थ दोनों की मिलकर काव्यता है अथवा दोनों में अलग–अलग काव्य व्यवहार है।

इनमें व्यासज्य वृत्ति से काव्यता स्वीकार करने पर श्लोकवाक्य की काव्यता नहीं बन सकेगी। यदि शब्द व अर्थ दोनों में अलग–अलग काव्यता स्वीकार करते हैं तो एक ही श्लोक में दो काव्य का व्यवहार होने लगेगा। क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों में 'काव्यत्व' पर्याप्त रहेगा।

विशेष्यांशस्य शब्दार्थौ का खण्डन करके पण्डितराज जगन्नाथ ने विशेषणांश का खण्डन भी किया है, उनके मत में काव्यलक्षण निरूपण में गुण–अलङ्कारादि का निवेश युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि 'गतोऽस्तमर्कः' आदि काव्यवाक्यों में इस लक्षण की अव्याप्ति होती है। उक्त वाक्य में वक्ता के भेद से प्रकरणानुसार अनेक अर्थों की प्रतीति होती है। यहाँ गुण एवं अलङ्कार का अभाव होने पर भी चमत्कारित्व है। अतः इसका काव्यत्व स्वीकार किया गया है।

इसके अतिरिक्त गुण तो शौर्यादिवत् आत्मा के धर्म है, शरीर के नहीं। इसी प्रकार अलंङ्कार हारादिवत् शोभावर्धक है, शरीर रूप नहीं।

इसी प्रकार अदोषौ पद भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि 'दुष्टं काव्यमिति' ऐसा व्यवहार देखा जाता है। अतः लक्षण की अव्याप्ति सिद्ध होती है। 'मूले महीरूहो वृक्षसंयोगी न शाखायाम्' से एक वृक्ष में तो संयोगी एवं असंयोगी व्यवहार हो सकता है, किन्तु एक काव्य में 'इदं काव्यं पूर्वार्द्धे काव्यम् उत्तरार्द्धे तु न काव्यम्' इस प्रकार का व्यवहार नहीं हो सकता।

यद्यपि जयदेव ने अलङ्कार रहित शब्द व अर्थ को काव्य मानने वालों का कटु शब्दों में खण्डन किया है –

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।।

चन्द्रालोक 1/8

अर्थात् अलङ्कार रहित शब्द व अर्थ को काव्य मानने वाले अग्नि को अनुष्ण क्यों नहीं मान लेते।

1.3.4 काव्य की शब्दनिष्ठता

दण्डी, जयदेव एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने शब्द की ही काव्यनिष्ठता स्वीकार की है। आचार्य दण्डी ने 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' काव्यलक्षण प्रस्तुत किया है। इष्ट अर्थात् मनोरम अर्थ से युक्त पदावली–शब्दसमूह काव्य का शरीर है। यद्यपि कुछ आचार्य इष्टार्थ–व्यवच्छिन्ना का तात्पर्य 'सहितौ' का निहितार्थ मानकर दण्डी के काव्यलक्षण को शब्दार्थोभयनिष्ठ स्वीकार करते हैं। किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि इसी इष्टार्थ को पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ कहकर लक्षित किया तथा शब्दार्थोभयनिष्ठता का तीव्र खण्डन भी किया।

पण्डितराज प्रदत्त काव्यलक्षण इस प्रकार है –

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। जिस अर्थ के ज्ञान से लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति होती है वह रमणीय है। आचार्य जगन्नाथ ने अपने काव्य लक्षण का त्रिविध परिष्कार किया है –

1. चमत्कार जनक भावना का विषयीभूत जो अर्थ है उसका प्रतिपादक शब्द काव्य है।
2. जिस शब्द के द्वारा उपस्थापित अर्थ की भावना हृदय में चमत्कार उत्पन्न करती है, उस चमत्कारजनकता के द्वारा अवच्छेदकतत्त्व काव्यत्व है।
3. पण्डितराज ने परम्परासम्बन्ध से 'चमत्कारत्ववत्व' की काव्यता स्वीकार की है।

चमत्कार लोकोत्तर–आनन्द की अपर पर्याय है तथा सहृदय जनों का अनुभव ही इसमें प्रमाण है। भावना पुनः पुनः अनुसन्धानरूपा अलौकिक आनन्द की उत्पत्ति का हेतु है। आचार्य जयदेव भी काव्य की शब्द निष्ठता स्वीकार करते हैं। उनके द्वारा प्रदत्त काव्य लक्षण द्रष्टव्य है :–

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्।।

अर्थात् दोष रहिता, लक्षण (अक्षरसहित आदि) सहिता, पांचाली – आदि रीतियुक्ता, श्लेषादिगुणसहिता, अलङ्कार, रस एवं अनेक वृत्तियों से युक्त वाणी काव्य कही जाती है। इस प्रकार जयदेव ने भी काव्य की शब्दनिष्ठता ही स्वीकार की है।

1.3.5 रसवत् का काव्यत्व

आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर रसात्मक वाक्य की ही काव्यता स्वीकार की है। यद्यपि वाक्य का लक्षण जो विश्वनाथ ने प्रस्तुत किया है उससे उनकी भी शब्द की काव्यनिष्ठता ही सिद्ध होती है।

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।

अर्थात् योग्यता, आकांक्षा एवं आसत्तियुक्त पदसमूह वाक्य कहलाता है। इस प्रकार पदसमूह वाक्य है एवं रसयुक्त वाक्य काव्य है। इस प्रकार रसवत् की ही काव्यता मानी गई है।

काव्य लक्षणों का पर्याप्त विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि शब्द व अर्थ दोनों के युगल की काव्यता ही अधिकांश आचार्यों को अभीष्ट है। जिन आचार्यों ने काव्य की शब्दनिष्ठता मानी है, उन्होंने भी प्रकारान्तर से लक्षण में अर्थ का समावेश कर दिया है। यही कारण है कि मम्मट का लक्षण सर्वाधिक परिष्कृत लक्षण के रूप में विद्वानों में आदृत है।

1.4 काव्यभेद

काव्यभेद निर्णय अलङ्कार शास्त्र का आवश्यक अंग है। अलङ्कार शास्त्र के आचार्यों द्वारा अपने अपने मतानुसार काव्यभेद प्रस्तुत किए गए हैं। काव्य भेद के मुख्य आधार दो रहे –

1. काव्य के बाह्य रूप के आधार पर
2. काव्य के अर्थ के आधार पर

1.4.1 काव्य के बाह्य रूप के आधार पर –

काव्य–नाट्य परम्परा के प्रथम आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित आचार्य भरत ने दृश्य **काव्यों का** वर्गीकरण किया। भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने काव्यों के वर्गीकरण का विशद विवेचन किया। काव्य के बाह्य रूप (विधा) के अनुसार वर्गीकरण करने में विश्वनाथ के साहित्यदर्पण को आधार रूप में लिया जा सकता है, क्योंकि इसमें अन्य आचार्यो द्वारा स्वीकृत प्रायः समस्त भेदों का समावेश हो जाता है। साहित्यदर्पण में विधा के आधार पर द्विविध वर्गीकरण किया गया है अ. दृश्य ब. श्रव्य

1.4.1.1 दृश्य काव्य – जो अभिनेय है अर्थात् जिनका अभिनय किया जाता है। दृश्य काव्य का अपर पर्याय है रूपक। आचार्य धनंजय ने रूपक, रूप एवं नाट्य तीनों ही शब्दों का प्रयोग दृश्य काव्य के लिये किया है :

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्।।

अर्थात् चतुर्विध अभिनय द्वारा धीरोदात्तादि अवस्थाओं का अनुकरण–तादात्म्यापत्ति नाट्य है, दृश्य होने से इसे रूप भी कहा जाता है, नटादि में नायकादि का आरोप होने से इसे रूपक भी कहा जाता है। रसाश्रित रूपक के दस भेद है।

विश्वनाथ ने दृश्यकाव्य का द्विविध विभाजन प्रस्तुत किया –

1. रूपक 2. उपरूपक

भरत ने रूपक के दस प्रकार एवं ग्यारहवीं नाटिका माना – दशरूपक इस प्रकार है– नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, समवकार, अङ्क, व्यायोग, वीथी, ईहामृग।

नाट्यदर्पणकार ने इन दस भेदों के साथ ग्यारहवीं नाटिका एवं 12वीं प्रकरणिका तथा 23 अन्य भेद स्वीकार किए।

विश्वनाथ ने दस रूपक एवं अट्ठारह उपरूपक माने हैं। इनमें दशरूपक तो भरतवत् ही है, उपरूपक निम्नलिखित हैं –

नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका प्रकरणी, हल्लीश, भाणिका।

आचार्य धनंजय ने दश रूपकों के साथ ग्यारहवां भेद नाटिका भी स्वीकार किया।

1.4.1.2 श्रव्यकाव्य – गद्य, पद्य एवं मिश्र भेद से श्रव्य काव्य का त्रिविध विभाजन किया गया है। श्रव्य काव्य केवल श्रवणयोग्य होता है।

पद्य –

छन्दोबद्ध पद को पद्य कहा जाता है। यदि यह अन्य निरपेक्ष हो तो मुक्तक कहा जाता है। अन्य सापेक्ष होने पर इसके कई भेद होते है। इस प्रकार मुख्य रूप से पद्य काव्य के द्विविध भेद किए जा सकते हैं – 1. अनिबद्ध काव्य 2. निबद्धकाव्य

अनिबद्ध काव्य वह है जिनमें सुनियोजित कथा की आवश्यकता नहीं है। सामान्यतः **इन्हें** मुक्तक कहा जाता है, एक, दो, तीन, चार या पांच श्लोकों की सम्बद्धता के **आधार पर** विश्वनाथ ने इसके पांच भेद किए हैं

1. मुक्तक – जहाँ दूसरे श्लोक की अपेक्षा के बिना एक श्लोक में काव्यत्व निहित हो।
2. युग्मक – जहाँ दो श्लोक परस्पर सम्बद्ध हो।
3. सन्दानितक – जहाँ तीन श्लोक परस्पर सम्बद्ध हो।
4. कलापक – जहाँ चार श्लोक परस्पर सम्बद्ध हो।
5. कुलक – जहाँ पांच या पांच से अधिक श्लोक सम्बद्ध हो।

1.4.1.3 निबद्धकाव्य –

निबद्धकाव्य ही प्रबन्ध काव्य है। इनमें सुनियोजित लम्बी कथा विद्यमान होती है। इसके त्रिविध भेद है। 1. महाकाव्य, 2. खण्डकाव्य 3. कोष।

महाकाव्य –

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते – अर्थात् सर्गो में आबद्ध पद्यमयी रचना महाकाव्य कहलाती है। जिसमें देव या उत्तमवंश का क्षत्रिय धीरोदात्त नायक होता है। एक ही वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी नायक हो सकते हैं, शृंगार, वीर एवं शान्त में से कोई रस प्रधान एवं अन्य सभी रस अङ्ग होते हैं, पुरुषार्थ चतुष्टय, प्रकृति वर्णन, युद्ध, विवाह, सन्धि, विरह इत्यादि का वर्णन होता है, आठ या आठ से अधिक सर्ग होते हैं। पुरुषार्थ चतुष्टय में से एक पुरुषार्थ की प्राप्ति प्रयोजन होता है। कथावस्तु ऐतिहासिक होती है। नाटक की समस्त सन्धियाँ होती है। एक सर्ग एक छन्द में ही होता है। सर्गान्त में छन्द परिवर्तन होता है। महाकाव्य का नामकरण प्रधान नायक अथवा कथावस्तु पर आधारित होता है। जैसे रघुवंशम् 'रघु' के नाम पर एवं 'कुमारसंभवम्' कुमार कार्तिकेय के जन्म की वृत्त पर रखे गए नाम है। कथा आख्यानों में विभाजित है।

रघुवंशम, शिशुपालवधम्, नैषधीयचरितम् आदि महाकाव्य के उदाहरण है।

1.4.1.4 खण्डकाव्य –

खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च – अर्थात् काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्ड काव्य होता है। इसका स्वरूप महाकाव्य सदृश होता है, किन्तु कथानक संक्षिप्त होता है। मेघदूत, गीतगोविन्द आदि खण्डकाव्य के उदाहरण है।

1.4.1.5 कोष –

परस्पर निरपेक्ष श्लोक समूह को कोष कहते हैं। वह यदि व्रज्या (वर्णमाला) के क्रम से बने तो अतिसुन्दर होता है। किन्तु कोष का यह लक्षण सुभाषितावली आदि पद्यसंग्रहों में अतिव्याप्त होता है। सजातियों के एक स्थान में सन्निवेश को व्रज्या कहते हैं।

पद्य काव्य का एक अन्य विभाजन महाकाव्य, खण्डकाव्य एवं स्तोत्रकाव्य के रूप में भी प्राप्त होता है, किन्तु कुछ आचार्यो ने स्तोत्रकाव्य को खण्डकाव्य में अन्तर्निहित माना है। स्तुतिपरक काव्यों को स्तोत्र काव्य कहते हैं – जैसे शिवमहिम्नस्तोत्रादि।

1.4.1.6 गद्यकाव्य –

विश्वनाथ ने गद्य को चार प्रकार का माना है – मुक्तक, वृत्तगन्धि उत्कलिकाप्राय,

चूर्णक। मुक्तक समासरहित होता है, वृत्तगन्धि में पद्य के अंश भी होते हैं, उत्कलिकाप्राय दीर्घसमास युक्त होता है तथा चूर्णक अल्पसमास युक्त होता है।

गद्यकाव्य का कथा एवं आख्यायिका के रूप में द्विविध विभाजन किया गया है।

1.4.1.7 कथा –

कथा में सरस वस्तु गद्य द्वारा ही बताई जाती है। इसमें कहीं कहीं आर्याछन्द व कहीं वक्त्र एवं अपरवक्त्र छन्द होते हैं। प्रारम्भ में पद्यमय नमस्कार एवं खलादिकों का चरित निबद्ध होता है जैसे – कादम्बरी।

1.4.1.8 आख्यायिका –

कथा के समान ही होती है। इसमें कविवंश वर्णन होता है। अन्य कवियों के वृत्तान्त एवं पद्य भी समाविष्ट होते हैं। कथाभागों का नाम 'आश्वास' रखा जाता है। आर्या, वक्त्र, अपरवक्त्र द्वारा आश्वास के प्रारम्भ में अगली कथा की सूचना दी जाती है जैसे – हर्षचरित। 'आख्यायिका की कथा नायक के मुख से ही होनी चाहिए' ऐसा कुछ आचार्यों का मत है, किन्तु दण्डी ने इस विषय में किसी प्रकार का नियम स्वीकार नहीं किया है। पंचतन्त्रादि इसके उदाहरण है।

अग्निपुराण में गद्य के पाँच भेदों का विवेचन मिलता है। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने 'गद्यकाव्यमीमांसा' में गद्य भेदों का विस्तृत विवेचन किया। उन्होंने गद्य को उपन्यास नाम देकर निम्नलिखित भेद बताए – कथा, कथानिका, कथन, आलाप, आख्यान, आख्यायिका, खण्डकथा, परिकथा, सङ्कीर्ण।

आचार्य विश्वनाथ ने दण्डी के – **"अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः"** कथनानुसार आख्यानादि भेदों को कथा एवं आख्यायिका के अन्तर्गत ही स्वीकार किया।

1.4.1.9 मिश्रकाव्य –

गद्यपद्यमयी काव्य रचना 'चम्पू' कहलाती है जैसे नलचम्पू। गद्यपद्यमयी राजस्तुति 'विरूद' कहलाती है – जैसे देशराजचरितचम्पू आदि। अनेक भाषाओं में निर्मित 'करम्भक' कहलाती है जैसे – षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली।

1.4.2 अर्थ के आधार पर काव्य विभाजन –

ध्वनि सिद्धान्त के उदय होने के पश्चात् काव्य विभाजन में ध्वनि केन्द्र बिन्दु बना। ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा ध्वनि (व्यङ्ग्यार्थ) की प्रधानता–अप्रधानता के आधार पर काव्य का त्रिविध विभाजन किया – ध्वनिकाव्य, गुणीभूत व्यङ्ग्य एवं चित्रकाव्य। काव्यप्रकाश में भी काव्यभेदों को इसी प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

1.4.2.1 ध्वनिकाव्य –

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि का लक्षण इस प्रकार किया है –

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। अर्थात् जहाँ शब्द अथवा अर्थ स्वयं को गौण बनाकर उस अर्थ को प्रकट करते हैं, वह काव्य विशेष ध्वनिकाव्य कहा

गया है। आचार्य मम्मट ने ध्वनिकाव्य को ही उत्तम काव्य कहा तथा इसका लक्षण इस प्रकार किया –

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। अर्थात् जहाँ वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य प्रधान (अतिशय) हो वह ध्वनि है एवं वही उत्तम काव्य है। इसके उदाहरण के रूप में मम्मट ने 'निश्शेषच्युतचन्दन..... श्लोक प्रस्तुत किया।

ध्वनि दो प्रकार की होती है – लक्षणामूला एवं अभिधामूला

लक्षणामूला ध्वनि – अविवक्षित वाच्य है, अविवक्षित वाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ की अपेक्षा नहीं रहती।

अतः वाच्यार्थ या तो अर्थान्तरसंक्रमित अर्थात् अन्य किसी विशेष भेद रूप अर्थान्तर में परिणत हो जाता है अथवा अत्यन्ततिरस्कृत हो जाता है। इस प्रकार अविवक्षित वाच्य के दो भेद बनते हैं – 1. अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य 2. अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य।

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति – प्रस्तुत श्लोक में वचनादि उपदेशादि रूप में परिणित हो जाते हैं। अतः अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य है।

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्।।

प्रस्तुत श्लोक में अपकारी के प्रति विपरीत लक्षणा से किया गया कथन है। उपकारादि शब्द उपपद्यमान न होने से सर्वथा तिरस्कृत हो जाते हैं। अपकारातिशय व्यङ्ग्यार्थ है।

1.4.2.2 अभिधामूला ध्वनि –

इसी का अपर नाम विवक्षित वाच्य है। इसमें वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी अन्य परक अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ होता है। अतः इसे विवक्षितान्यपरवाच्य कहा जाता है। इसके भी दो भेद है :– अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, संलक्ष्य व्यङ्ग्यक्रमः –

अलक्ष्यक्रम व्यंङ्ग्यः –

अलक्ष्य पद से सूचित होता है कि विभावादि की प्रतीति ही रस नहीं है अपितु उनसे रस अभिव्यक्त होता है। अतः रस की प्रतीति में क्रम रहता है, किन्तु लाघव के कारण दिखाई नहीं देता। इसके आठ भेद स्वीकार किए गए है :– रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावसन्धि, भावोदय, भावशबलता, भावशान्ति। जहाँ रसादि प्रधान रूप से स्थित होते हैं, वहाँ वे अलंङ्कार्य कहलाते है। किन्तु जहाँ वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रसादि उसके अंङ्ग होते हैं वहाँ (रसादि के) गुणीभूत व्यङ्ग्य होने पर 1. रसवत्, 2. प्रेय 3. ऊर्जस्विन् 4. समाहित आदि चार प्रकार के अलङ्कार होते हैं।

रसादि के उदाहरण सम्बद्ध ग्रन्थों में द्रष्टव्य है, यहाँ गौरव के भय से उनका परिहार किया जा रहा है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य –

जहाँ विभावादि के द्वारा रसप्रतीति का क्रम दिखाई देता है। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य त्रिविध होता है – 1. शब्दशक्त्युत्थ 2. अर्थशक्त्युत्थ 3. उभयशक्त्युत्थ।

शब्दशक्त्युत्थ – यहाँ शब्द से वस्तु अथवा अलङ्कार प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं। यह अलङ्कार ध्वनि एवं वस्तुध्वनि से दो प्रकार का होता है।

'उल्लास्य कालकरवाल...' इत्यादि श्लोक में प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक (काव्यप्रकाश – 54 श्लोक) के उपमान–उपमेय भाव की कल्पना की गई है। यहाँ उपमा अलङ्कार व्यंग्य है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है। वस्तु ध्वनि अलङ्काररहित वस्तुमात्र होती है जैसे पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति' (काव्यप्रकाश, 58 श्लोक) में वस्तुमात्र व्यङ्ग्य है।

अर्थशक्त्युत्थ –

अर्थशक्त्युत्थ व्यंजक अर्थ 1. स्वतःसम्भवी, 2. कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध, 3. कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध रूप से तीन प्रकार के होते हैं। वस्तु एवं अलङ्कार रूप से यह छः प्रकार की होती है। चूंकि वस्तु एवं अलङ्कार दोनों को व्यक्त करता है इसलिये अर्थशक्त्युद्भव बारह प्रकार का होता है।

स्वतः सम्भवी – 1. वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य, 2. वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य, 3. अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य, 4. अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य, स्वतः सम्भवी केवल कथन मात्र से सिद्ध नहीं होता अपितु उचित रूप से संसार में भी पाया जाता है, बाहर संसार में न होने पर भी कवि के द्वारा अपनी प्रतिभा से निबद्ध कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध है अर्थात् संसार में न होने पर भी केवल कवि की कल्पना से वर्णित है, कवि के द्वारा निबद्ध वक्ता की प्रौढ़ोक्ति से सिद्ध तीन प्रकार का अर्थशक्त्युत्थ होता है। स्वतःसम्भवी के समान अन्य दोनों के भी चार–चार भेद होकर कुल बारह भेद बनते हैं। इनके उदाहरण काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोकादि ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

उभयशक्त्युत्थ – का एक ही प्रकार होता है, जहाँ व्यङ्ग्य शब्द व अर्थ दोनों की शक्ति से सिद्ध होता है।

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम्।।

प्रस्तुत श्लोक में उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

इस प्रकार ध्वनि के मुख्य अठारह भेद हैं। इन अठारह भेदों के अनेक भेद करते हुए कुल 10855 भेद काव्यप्रकाशकार ने अपने ग्रन्थ में दिखाए। इनमें इक्यावन भेद तो शुद्धभेद माने गये हैं।

गुणीभूतव्यङ्ग्य–

गुणीभूतव्यङ्ग्य में व्यङ्ग्य प्रधान नहीं रहता किन्तु इसकी भी उपयोगिता ध्वनिकार ने वर्णित की है –

'गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च प्रकारान्तरेणापि व्यङ्ग्यार्थानुगमलक्षणेन विषयत्वमस्त्येव' ध्वनिकार के अनुसार व्यङ्ग्यार्थ के गौण होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य जानना चाहिए।

मम्मट ने इसे मध्यमकाव्य भी कहा है –

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।

अर्थात् व्यङ्ग्य के वाच्य की अपेक्षा प्रधान न होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप मध्यम काव्य होता है। यथा –

ग्रामतरूणं तरुण्या नववंजुलमंजरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया।।

प्रस्तुत श्लोक में संकेत देकर भी नहीं आई रूप व्यङ्ग्य गौण है तथा उसकी अपेक्षा वाच्यार्थ चमत्कारी है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में गुणीभूतव्यङ्ग्य के आठ भेदों का वर्णन किया है –

अगूढ़मपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।।
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः।।

अगूढ़, इतर का अङ्ग, वाच्यसिद्धि का अङ्ग, अस्फुट, सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, काकु से आक्षिप्त एवं असुन्दर रूप व्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य कहे गए है –

अगूढ़व्यङ्ग्य–

अगूढ़ व्यङ्ग्य अत्यन्त स्फुट होने के कारण वाच्य के समान प्रतीत होने के कारण गुणीभूत हो जाता है।

अपराङ्गव्यङ्ग्य–

अपराङ्गव्यङ्ग्य का तात्पर्य है जहाँ वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत प्रधान अर्थ अन्य रसादि या वाच्यादि अर्थ हो और दूसरा व्यङ्ग्य रसादि अथवा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तु या अलङ्कारादि व्यङ्ग्य उसका अङ्ग हो उसको अपराङ्गव्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य कहा जाता है।

वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य–

जहाँ व्यङ्ग्य वाच्यार्थ की सिद्धि हेतु प्रवृत्त होता है। व्यङ्ग्यार्थ की सहायता के बिना उसकी (वाच्य) सिद्धि नहीं होती।

अस्फुटव्यङ्ग्य–

जहाँ व्यङ्ग्य अत्यन्त दुरुह हो एवं सहृदयों को भी जिसे समझना कठिन हो वह अस्फुटव्यङ्ग्य है।

सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य –

जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ एवं वाच्यार्थ में से कौन प्रधान है इस प्रकार का सन्देह हो वह सन्दिग्धप्राधान्य व्यङ्ग्य है।

तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य –

जहाँ व्यङ्ग्य एवं वाच्य दोनों ही अर्थो का समान महत्त्व हो वह तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य है।

काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य –

जहाँ व्यङ्ग्य काकु से आक्षिप्त होने के कारण वाच्यनिषेध के साथ प्रतीत होता हो।

असुन्दरव्यङ्ग्य –

जहाँ व्यङ्ग्य से वाच्य अधिक चमत्कारजनक हो। वहाँ असुन्दर व्यङ्ग्य होता है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य के ये आठ भेद पूर्व में ध्वनि के 51 भेदों के समान भेदों का होता है। किन्तु वस्तु से अलङ्कार ध्वनि के तीन भेद स्वतःसम्भवी, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध तथा उनके पदगत, वाक्यगत, प्रबन्ध गत रूप 3 x 3 = 9 भेद गुणीभूत व्यङ्ग्य के नहीं होते। इस प्रकार 51 –9 = 42 भेद गुणीभूत व्यङ्ग्य के मुख्यभेद होते हैं। इनके अवान्तर भेद भी ध्वनि भेदों के समान है जो सिद्धान्त ग्रन्थों में द्रष्टव्य हैं।

1.4.2.3 चित्रकाव्य –

व्यङ्ग्य से रहित 'शब्द–चित्र' तथा 'अर्थ–चित्र' रूप से दो प्रकार का चित्र–काव्य माना गया है इसे अवर काव्य कहते हैं।

चित्र से तात्पर्य गुणालङ्कारयुक्त से है।

आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप से दो काव्यभेद स्वीकार किए है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम एवं अधम रूप से काव्य का चतुर्विध विभाजन प्रस्तुत किया है। उत्तमोत्तम काव्य तो मम्मट का ध्वनिकाव्य या उत्तम काव्य है। गुणीभूत व्यङ्ग्य को जगन्नाथ ने 'उत्तम' काव्य माना तथा वाच्य चित्र एवं शब्द चित्र भेदों को क्रमशः मध्यम एवं अधम काव्य माना है।

भामह एवं दण्डी ने भाषा के आधार पर 1. संस्कृत काव्य, 2. प्राकृत काव्य एवं 3. अपभ्रंशकाव्य रूप से काव्य का त्रिविध विभाजन किया। रुद्रट ने इन तीन भेदों के साथ ही मगधकाव्य, पैशाच काव्य एवं शौरसेनकाव्य के रूप में काव्य के छः भेद प्रस्तुत किए।

1.5 सारांश

'काव्य की परिभाषा एवं भेद' नामक इस इकाई में आपने जाना कि काव्यशास्त्र के निश्चित रूप का उद्गम ईसा से 5वीं शती पूर्व से ही माना जाता है। काव्य के बीज हमें वेदों में प्राप्त होते हैं। काव्यालङ्कार, काव्यशास्त्र, अङ्कारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, क्रियाकल्प रूप से इस शास्त्र के पाँच नाम कहे गये हैं।

आचार्य भामह से लेकर विश्वेश्वर पण्डित तक के काल विभाजन को जाना। विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रदत्त काव्यलक्षण पर विचार करते हुए मम्मट प्रदत्त काव्य–लक्षण का विस्तार से अध्ययन किया। काव्य की शब्द–निष्ठता अथवा शब्दार्थोभयनिष्ठता का समीक्षण किया। साथ ही काव्य के दृश्य एवं श्रव्य रूप बाह्य आकार (विधागत) गत भेदों को समस्त भेदोपभेदों सहित जाना, साथ ही ध्वनि रूप अर्थ को केन्द्र बिन्दु बनाकर प्रस्तुत किए गए ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य एवं चित्रकाव्य रूप भेदों का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त काव्य के भाषागत भेदों को भी जाना।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

1. **शास्त्र** : इसकी द्विविध व्युत्पत्ति की गई है – शासनात् शास्त्रम् अर्थात् उचितानुचित का उपदेश करने वाला, शंसनात् शास्त्रम् अर्थात् गूढ़तत्त्व का विवेचन करने वाला।

2. **काव्य** : कवि का कर्म अथवा भाव काव्य शब्द से अभिहित है।

3. **लक्षण** : असाधारण धर्म को लक्षण कहा जाता है। इसको अव्याप्ति अतिव्याप्ति, असंभव दोषों से रहित होना चाहिए।

4. **अव्याप्ति** : लक्षण का लक्ष्य के एक देश में रहना अव्याप्ति दोष होता है।

5. **अतिव्याप्ति** : लक्षण जब लक्ष्य से इतर में रहे तो यह अतिव्याप्तिदोष कहलाता है।

6. **ध्वनिकाव्य** : जहाँ पर शब्द एवं अर्थ अपने को गौण बनाकर उस व्यङ्ग्य रूप प्रधान अर्थ को प्रकट करते हैं वह काव्य ध्वनि काव्य है।

7. **व्यङ्ग्य** : व्यङ्ग्य वह अर्थ है जो महाकवियों की वाणी में उसी प्रकार रहता है जैसे ललना में लावण्य।

8. **गुणीभूतव्यङ्ग्य** : जहाँ व्यङ्ग्य वाच्यार्थ से गौण होता है अथवा वाच्यार्थ के समान होता है।

9. **शब्दचित्र** : जहाँ शब्दालङ्कार चमत्कार उत्पन्न करते हैं तथा व्यङ्ग्य गौण होता है।

10. **अर्थचित्र** : जहाँ अर्थालङ्कार चमत्कार उत्पन्न करते हैं।

1.7 बोधप्रश्न

1. सर्वाधिक संक्षिप्त एवं प्राचीन काव्य लक्षण किस आचार्य द्वारा प्रदत्त है?

   (अ) भामह (ब) वामन

   (स) विश्वनाथ (द) मम्मट

2. काव्य की शब्दनिष्ठता स्वीकार करने वाले आचार्य हैं –

   (अ) विश्वनाथ (ब) मम्मट

   (स) जयदेव (द) रुद्रट

3. शब्दार्थयुगल के काव्यत्व का खण्डन किस आचार्य ने किया है।

   (अ) वामन (ब) मम्मट

   (स) जयदेव (द) पण्डितराज जगन्नाथ

4. आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के ध्वन्याश्रित भेद किए है –

   (अ) चार (ब) तीन

   (स) दो (द) पांच

5. भाषा के आधार पर दण्डी ने काव्य के कितने भेद किए –

   (अ) पांच (ब) तीन

   (स) चार (द) छः

6. असुन्दर व्यङ्ग्य से तात्पर्य है –

   (अ) विचित्र व्यङ्ग्य (ब) स्फुट व्यङ्ग्य

(स) क्लिष्ट व्यङ्ग्य (द) प्रधान व्यङ्ग्य

7. मम्मट प्रदत्त काव्य–लक्षण लिखिए।
8. पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत काव्यभेदों को बताइये।
9. रुद्रट के भाषा के आधार पर किए गए भेदों का नामोल्लेख कीजिए?
10. विश्वनाथ प्रदत्त काव्य लक्षण बताइये।
11. ध्वनिकाव्य के मम्मट प्रदत्त भेदों का संक्षेप में निरूपण कीजिए।
12. पण्डितराज जगन्नाथ कृत मम्मट के काव्यलक्षण के खण्डन का निरूपण कीजिए।

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1. काव्यप्रकाश मम्मटकृत, व्याख्याकार–आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, वाराणसी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड।
2. साहित्यदर्पणम् – विश्वनाथ, शालिग्रामशास्त्री (व्याख्याकार) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
3. दशरूपकम् – धनंजय, भोलाशंकरव्यास, वाराणसी।
4. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – सुशीलकुमार डे – बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।
5. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – पी.वी. काणे।
6. नाट्यशास्त्रम् – भरत सम्पूर्णनन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
7. काव्यादर्श–दण्डी, वरूणवाचस्पति कृत टीका एवं हृदयङ्गमटीका सहित।
8. भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा, राधाबल्लभ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
9. रसगंगाधर (प्रथमानन) श्री नारायण मिश्र, वाराणसी।
10. वक्रोक्ति जीवित, रमाकान्त पाण्डेय, आयुर्वेद प्रकाशन, जयपुर।

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (अ)
2. (स)
3. (द)
4. (स)
5. (ब)
6. (स)
7. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृति पुनः क्वापि।
8. उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, अधम
9. संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, मगध, पैशाच, शौरसेन
10. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।
11. देखिये इकाई 1.4
12. देखिये इकाई 1.3

इकाई–2

काव्यहेतु तथा प्रयोजन

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 पृष्ठभूमि

2.2.1 प्रतिभा

2.2.2 शास्त्रज्ञान अथवा व्युत्पत्ति

2.2.3 अभ्यास

2.3 काव्यप्रयोजन

2.3.1 यशः प्राप्ति

2.3.2 अर्थ–प्राप्ति

2.3.3 व्यवहार–ज्ञान

2.3.4 अमंगल–निवारण

2.3.5 परमानन्द की सद्यः अनुभूति

2.3.6 कान्तासदृश उपदेश

2.4 सारांश

2.5 बोध प्रश्न

2.6 कतिपय उपयोगी पुस्तकें

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

काव्यहेतु तथा प्रयोजन – विषयक इकाई के माध्यम से आप कवि और उसकी प्रेरणा के सन्दर्भ में ज्ञान प्राप्त करेंगे।

1. प्रतिभा, शास्त्रज्ञान तथा अभ्यास जो तीनों समुदित रूप से काव्यहेतु हैं, इन तीनों में से प्रत्येक के विषय में विस्तार से समझ सकेंगे।
2. कुन्तक, वामन, राजशेखर तथा मम्मटपर्यन्त जो काव्यशास्त्र परम्परा प्रवहित हुई, उस परम्परा से भी आप परिचित हो पायेंगे।
3. लक्षण ग्रन्थों की रचना करने वाले आचार्य विभिन्न शास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्या किस प्रकार करते हैं– यह सिद्धान्त प्रयोग सहित जान सकेंगे।
4. इसी प्रकार काव्य–प्रयोजनों की व्याख्या के प्रसंग में प्रयोजनों का प्रायोगिक पक्ष काव्य के आधार पर विवेचित कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

काव्य रचना में प्रत्येक व्यक्ति सक्षम नहीं होता है। अर्थ और शब्द स्फुरणा तथा अभिव्यंजना, दर्शन और वर्णन – इन युग्मों का उन्मीलन कवि प्रतिभा के द्वारा ही होता है। जब तक इन दोनों की अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक कोई भी व्यक्ति कवि कहलाने का अधिकारी नहीं है। कवि होने के लिए तत्त्वद्रष्टा होने के साथ ही साथ शब्दस्रष्टा होने की भी नितान्त आवश्यकता है।

मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति हेतुमूलक होती है। बिना किसी बलवान् कारण के वह किसी भी प्रवृत्ति के लिए उद्योगशील नहीं होता। काव्यकला मानव की उच्चतम आध्यात्मिक प्रवृत्ति का प्रतीक है। काव्य के अनेक हेतु हो सकते हैं। संस्कृत भाषा के सर्वप्रथम आलंकारिक भामह के अनुसार में शास्त्र का अध्ययन जड़बुद्धि वाला मनुष्य भी गुरु के उपदेश से कर सकता है परन्तु काव्य की स्फूर्ति उसी व्यक्ति को होती है जो प्रतिभा से सम्पन्न होता है। यदि शिष्य में प्रतिभा का अभाव है तो गुरु के लाख उपदेश देने पर भी, उसके हृदय में काव्य का अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता –

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जड़धियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।।

2.2 पृष्ठभूमि

वाणी की अभिव्यक्ति के दो मार्ग हैं –1. शास्त्र और 2. काव्य। इनमें से शास्त्र प्रज्ञा पर आश्रित रहता है और काव्य प्रतिभा की उपज होता है। काव्य रचना के हेतु पक्ष पर काव्य शास्त्र परम्परा में गम्भीर विचार हुआ है और लगभग प्रत्येक आचार्य ने काव्य हेतुओं का विवेचन किया।

यद्यपि काव्य के अनेक हेतु बताये गये हैं परन्तु मुख्य रूप से काव्य के तीन हेतु माने जो सकते हैं –

1. प्रतिभा
2. व्युत्पत्ति
3. अभ्यास

काव्य के उपर्युक्त तीनों हेतु सभी आचार्यों को मान्य नहीं हैं। कुछ आचार्यों जिनमें मम्मट प्रमुख हैं, व्युत्पत्ति और अभ्यास से संबंधित प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हैं तो कुछ पण्डितराज जगन्नाथ आदि केवल प्रतिभा को।

2.2.1 प्रतिभा

काव्य के हेतुत्रय में 'प्रतिभा' को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हेतु निरुपित किया गया है। प्रतिभा का सबसे सुन्दर लक्षण भट्टतौत ने दिया है –

(1) 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' – अर्थात् नये–नये अर्थों का उन्मीलन करने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है।

(2) कुन्तक के अनुसार पूर्व जन्म के तथा वर्तमान जन्म के परिपाक से पुष्ट होने वाली विशिष्ट कवित्व शक्ति ही प्रतिभा है –

'प्राक्तनाद्यतन संस्कार–परिपाक–प्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्ति :'

(3) वामन के अनुसार प्रतिभान या प्रतिभा कवित्व का बीज है। जिस प्रकार बीज से अभिनव पदार्थ की स्फूर्ति होती है, वही कार्य प्रतिभा के द्वारा होता है। यह पूर्व जन्म से आने

वाला विशिष्ट संस्कार है। यह वासना रूप से कवि के हृदय में अवस्थित रहता है। प्रतिभा के बिना प्रथमतः काव्य निष्पन्न ही नहीं होता और यदि निष्पन्न हो भी जाये तो वह काव्य उपहास का पात्र बनाता है। इससे यह सिद्ध है कि काव्य रचना में प्रतिभा की गहन उपयोगिता है।

(4) राजशेखर के अनुसार प्रतिभा वह शक्ति है जो कवि के हृदय में, शब्द के समूह को, अर्थ के समुदाय को उक्ति के मार्ग को तथा इसी प्रकार अन्य काव्य की सामग्री को प्रतिभासित करती है। राजशेखर ने इस विषय में उदाहरण भी प्रस्तुत किया है कि 'मेधाविरुद्र' और कुमारदास आदि कवि जन्म से ही अन्धे थे परन्तु काव्यों में सांसारिक पदार्थों का जो सचित्र वर्णन प्राप्त होता है वह उनकी प्रतिभा के विलास का ही फल है।

2.2.2 शास्त्रज्ञान–व्युत्पत्ति

ज्ञान अथवा व्युत्पत्ति दो प्रकार की है –

1. शास्त्रीय ज्ञान
2. लौकिक ज्ञान

दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन कवि के लिए आवश्यक है तभी काव्य में पूर्णता तथा विविधता का आधान करवाया जा सकता है। महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्यों में भारतीय दर्शन, संगीतशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, पर्यावरण आदि अनेक विषयों के ज्ञान का प्रयोग किया है। जिससे कि उनके कवित्व का फलक (Canvas) विस्तृत हो गया है।

लौकिक–ज्ञान के अन्तर्गत लोकव्यवहार का सूक्ष्म निरीक्षण अथवा परीक्षण निहित है। यह ज्ञान जितना विस्तृत होगा तथा सूक्ष्म होगा, काव्यकृति उतनी ही महान् होगी। अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों को रमणीय बनाने के लिए व्युत्पत्ति या निपुणता आवश्यक है।

आचार्य दण्डी ने शास्त्रज्ञान के दो विशेषण दिये – बहु तथा निर्मल। बहु अर्थात् प्रभूत, अनेक शास्त्रों और काव्यादि को विषय बनाने वाला। निर्मल अर्थात् परिशुद्ध संशयादिदोष से रहित ज्ञान।

आचार्य दण्डी ने शास्त्रज्ञान को महत्त्वपूर्ण हेतु के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने कहा कि

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।।

(काव्यादर्श, 1/104)

यद्यपि पूर्वजन्म के संस्कारों से युक्त अद्भुत प्रतिभा न भी हो तथापि शास्त्रज्ञान तथा प्रयत्न (अभ्यास) के द्वारा उपासना की गई वाग्देवता कुछ न कुछ अनुग्रह तो अवश्य ही कर देती है।

परवर्ती कवियों ने प्रतिभा के अभाव मे कवित्व की स्थिति प्रायः स्वीकार नहीं की है।

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते।।

(ध्वन्यालोक 3/6)

अव्युत्पत्ति के कारण उत्पन्न दोष को कविशक्ति अर्थात् प्रतिभा के द्वारा आच्छादित किया जा सकता है परन्तु प्रतिभा के अभाव में किया गया हो किसी अन्य से आच्छादित नहीं किया जा सकता है।

2.2.3 अभ्यास

अभ्यास भी एक महत्त्वपूर्ण काव्यहेतु है। अभ्यास तो जड़मति को भी सुजान बना देता है। निरन्तर काव्यरचना का अभ्यास इसलिए आवश्यक है कि इसके बिना प्रतिभा भी कुंठित होकर नष्ट हो जाती है। काव्यमर्मज्ञों से शिक्षा प्राप्त कर उनके निर्देशन में काव्याभ्यास भी काव्य का हेतु माना गया है। अभ्यास से काव्यरचना निरन्तर परिष्कृत तथा परिमार्जित होती रहती है। जो व्यक्ति काव्यप्रणयन में प्रवृत्त हो अथवा निरन्तर उसका अनुशीलन करते रहते हों ऐसे मर्मज्ञ प्रौढ़ता प्राप्ति में अत्यन्त सक्षम होते हैं।

आचार्य दण्डी ने अभ्यास के विषय में जो टिप्पणी की है वह द्रष्टव्य है–

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।।

(काव्यादर्श, 1/105)

यश के इच्छुक व्यक्तियों के द्वारा सतत तन्द्रारहित होकर सरस्वती की श्रमपूर्वक उपासना करनी चाहिए। क्योंकि कवित्व शक्ति के स्वल्प मात्रा में होने पर भी परिश्रम करने वाले व्यक्ति सहृदयों की गोष्ठियों में विहार करने में समर्थ हो जाते हैं।

प्रस्तुत कारिका में स्पष्ट है कि दण्डी ने कवित्व अथवा प्रतिभा के अभाव में कविता की स्थिति नहीं मानी अपितु कवित्व के 'कृशत्व' में व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा कविता की स्थिति मानी है।

विभिन्न मत

भामह के अनन्तर दण्डी ने काव्य–साधक हेतुओं में प्रतिभा के अतिरिक्त शास्त्र–ज्ञान तथा अभ्यास को भी आवश्यक माना है। उनकी सम्मति में केवल प्रतिभा काव्य की स्फूर्ति के लिए समर्थ नहीं हो सकती। इसके साथ निर्मल शास्त्र तथा अमन्द अभियोग का सहयोग भी उतना ही आवश्यक है –

नैसर्गिकी च या प्रतिभा, श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्यसम्पदः।।

(दण्डी – काव्यादर्श 1/103)

प्रतिभा तो पूर्व जन्म की वासना के गुणों पर आश्रित रहती है। यदि किसी कवि को प्रतिभा की देन नहीं मिली, तो दण्डी उसे निरुत्साहित कर काव्यकला से पराङ्मुख होने की सलाह नहीं देते। वे यह भी आग्रह करते हैं कि यदि शास्त्र से या यत्न से उपासना की जाय, तो सरस्वती उस कवि के ऊपर अपनी अनुकम्पा अवश्यमेव दिखाती है।

वामन भी इस विषय में दण्डी के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं। ये प्रतिभा को 'प्रतिभान' शब्द के द्वारा अभिहित कर उसे कवित्व का बीज मानते हैं (कवित्वबीजं प्रतिभानम्)। वे इसके अतिरिक्त काव्यों से परिचय, काव्य–रचना में उद्यम, काव्योपदेश करने वाले गुरु की सेवा तथा विविध

शास्त्रों का ज्ञान भी काव्य की अभिव्यक्ति में कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अवधान–चित्त की एकाग्रता को भी काव्य–रचना का सहायक स्वीकार किया है।

रुद्रट ने भी काव्य–कारणों में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को एक साथ कारण माना है। 'प्रतिभा' के स्थान पर वे 'शक्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं। एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयं कवि के सामने प्रतिभासित होते हैं। जिस पदार्थ के द्वारा यह अपूर्व घटना घटित होती है, उसी का नाम शक्ति है। 'शक्ति' प्रतिभा का ही अपर पर्याय है–

मनसि सदा सुसमाधिनि, विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति, यस्यामसौ शक्तिः।।

(रुद्रटः काव्यालंकार, 1/15)

आनन्दवर्धन की सम्मति में व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा; दोनों काव्य–साधनों में प्रतिभा ही श्रेयस्कर है। शास्त्र की व्युत्पत्ति न रखने वाला कवि अपने काव्य में अनेक दोषों का सम्पादन कर बैठता है। प्रतिभा इन समस्त दोषों को दूर कर देती है। प्रतिभा के प्रबल समर्थन में आनन्दवर्धनाचार्य की उक्ति नितान्त स्पष्ट है–

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभासते।।

राजशेखर ने लिखा है कि श्यामदेव नामक आलंकारिक के मत में काव्यकर्म में सबसे अधिक सहायक वस्तु है समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता; आचार्य मम्मट अभ्यास को ही काव्य–कर्म में सबसे अधिक अपयोगी साधन मानते हैं। परन्तु राजशेखर का मत इन दोनों से भिन्न है। वे शक्ति को ही काव्य–कला के उन्मीलन में प्रधान हेतु मानते हैं। वे समाधि तथा अभ्यास, दोनों को शक्ति का उद्भासक मानते हैं। उनके मतानुसार केवल शक्ति (प्रतिभा) ही काव्य में हेतु होती है।

आचार्य मम्मट का सिद्धान्त है कि शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास, ये तीनों मिलकर काव्य की निष्पत्ति में सम्मिलित रूप से कारण होते हैं। 'शक्ति' प्रतिभा का ही दूसरा नाम है जिसके बिना काव्य निष्पन्न नहीं होता तथा निष्पन्न होने पर वह काव्य लोकप्रिय नहीं होता, प्रत्युत उपहास का कारण बनाता है। काव्य, शास्त्र तथा अन्य विद्याओं के अनुशीलन से जो चातुरी उत्पन्न होती है उसी का नाम 'निपुणता' है। प्राचीन आचार्यों के द्वारा व्यवहृत 'व्युत्पत्ति' को ही मम्मटाचार्य ने निपुणता का नाम दिया है। काव्य के मर्मज्ञ विद्वान् के पास रहकर उसकी शिक्षा के द्वारा काव्य–कला के निरन्तर चिन्तन का नाम अभ्यास है। सच तो यह है कि काव्य–मर्मज्ञ की शिक्षा कविता के जिज्ञासुओं के लिए अमृत का काम करती है। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति से सम्पन्न होने पर भी कवि अपने मनोरथ में तब तक कृतकार्य नहीं होता जब तक वह सद्गुरु की शिक्षा से काव्य का अभ्यास नहीं करता। मम्मटाचार्य ने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास–इन तीनों को काव्य का स्वतन्त्र रूप से अलग–अलग कारण न मानकर सम्मिलित रूप से ही कारण माना है। इसीलिए इस सुप्रसिद्ध कारिका में 'हेतु' शब्द का एकवचन में प्रयोग किया है, बहुवचन में नहीं (हेतुर्न तु हेतवः)।

शक्तिर्निपुणता लोक–शास्त्र–काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ–शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

(काव्य–प्रकाश, 1/3)

वामन ने भी इसी प्रकार (1) लोक (2) विद्या तथा (3) प्रकीर्ण इन तीनों को काव्य का अंग, काव्य–निर्माण की क्षमता प्राप्त करने का साधन बतलाया है–

1. लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि, 1.3.1
2. लोकवृत्तं लोकः 1.3.2
3. शब्दस्मृत्यभिधानकोश–छन्दोविचिति–कला–कामशास्त्र–दण्डनीतिपूर्वा विद्या 1.3.3
4. लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम् 1.3.11

इस प्रकार वामन ने काव्य के कारणों का अधिक विस्तार के साथ विवेचन किया है। मम्मट ने वामन के लोक तथा विद्या दोनों को 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता' के अन्तर्गत कर लिया है। 'प्रकीर्ण' में से शक्ति को अलग कर दिया है और वृद्ध–सेवा का 'काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यासः' में अन्तर्भाव करके मम्मट ने वामन के समान आठ काव्याङ्गों का मुख्य रूप से तीन काव्य साधनों के रूप में प्रतिपादन किया है।

निष्कर्ष :– इन काव्य साधनों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि काव्य–साधन सभी आचार्यों की दृष्टि में लगभग एक से ही हैं। परन्तु भिन्न–भिन्न आचार्यों ने उनके पौर्वापर्य अथवा विभाग आदि में कुछ परिवर्तन करके अलग–अलग ढंग से निरूपण किया है। तत्त्वतः उनके विवेचन में अधिक भेद नहीं है।

2.3 काव्य प्रयोजन

जगत् की कोई भी सृष्टि बिना किसी उद्देश्य या तात्पर्य के नहीं होती। **'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'** बिना प्रयोजन के तो मन्दबुद्धि भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। कवि जब काव्य रचना में प्रवृत्त होता है तो उसका भी प्रयोजन कवि के मन में रहता है।

आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजन का विश्लेषण कुछ विशिष्टता के साथ किया है। काव्य के प्रयोजन दो प्रकार के हैं – गौण तथा मुख्य। गौण प्रयोजन से अभिप्राय बहिरंग प्रयोजनों से है जबकि मुख्य से अभिप्राय अन्तरंग प्रयोजनों से है। आचार्य मम्मट ने समस्त काव्यप्रयोजनों को एक कारिका में ही सूत्रित कर दिया है–

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

यश के लिए, अर्थप्राप्ति के लिए, लोक व्यवहार के ज्ञान के लिए, अमङ्गलनिवारण के लिए, परमानन्द की सद्यः अनुभूति के लिए और कान्ता के समान उपदेश प्राप्ति के लिये काव्य रचना करनी चहिए।

2.3.1 यश

काव्य की रचना करने से कर्ता को विपुल यश मिलता है। कवि को इस भूतल से गये कितनी सदियाँ बीत जाती हैं, परन्तु काव्य–ग्रन्थ उसका विमल यश फैलाता हुआ भूतल पर उसे चिरस्थायी बनाता है। जैसे कालिदास तथा भवभूति ने अपने काव्यों के द्वारा अतुल कीर्ति अर्जित

की है। हिन्दी में तुलसी तथा सूर का यश चिरस्थायी रहेगा। इसीलिए महाकवि भर्तृहरि ने बहुत मार्मिकता से लिखा है कि उन रससिद्ध (शृंगारादि रसों की काव्यों में निष्पत्ति करने वाले) कवीश्वरों की जय हो जिनके यशरूपी शरीर में न वृद्धावस्था का भय है और न मृत्यु का भय है।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।।

महाकवि कालिदास ने तो अपने काव्यों में अनेक स्थानों पर स्पष्टतया यश को काव्य प्रयोजन–रूप में स्वीकार किया – 'मन्दः कवियशःप्रार्थी' 'यशसे विजिगीषूणाम्' 'यशःशरीरे भव मे दयालुः' आदि अंश कालिदास को यश के प्रति स्पृहावान् इंगित करते हैं।

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में यश को काव्य का प्रयोजन संकेतित किया है –

आदिराजयशोबिम्बादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसन्निधानेऽपि न नश्यति स्वयं पश्य।।

प्राचीन राजाओं का यशरूपी बिम्ब, वाङ्मय रूपी दर्पण को प्राप्त करके, उन (राजाओं) के न रहने पर भी नष्ट नहीं होता, तुम स्वयं देख लो।

आचार्य दण्डी ने स्पष्ट रूप से यह कहा कि यश अमूर्त है और यह यश रूपी बिम्ब वाङ्मय रूपी दर्पण में चिरकाल पर्यन्त प्रतिबिम्बित रहता है।

2.3.2 अर्थ–प्राप्ति

धन की प्राप्ति भी काव्य का प्रयोजन है। कविगण अपने आश्रयदाता की कीर्ति का गुणगान किया करते थे और उसके बदले में उन्हें धन की अपार राशि उपहार में मिलती थी। धावक और बाणभट्ट ने श्रीहर्ष से अपने काव्यग्रन्थों के द्वारा अतुल सम्पत्ति प्राप्त की, इसका साक्षी तत्कालीन इतिहास है। आचार्य मम्मट ने इसी तथ्य को इन शब्दों में कहा है– 'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्' हिन्दी के कवियों ने मध्ययुग में जिन अलंकार ग्रन्थों का प्रणयन किया, उनमें उनके आश्रयदाता के गुणों की भव्य स्तुति है और इसका सद्यः फल है अर्थ की प्राप्ति।

2.3.3 व्यवहार–ज्ञान

काव्य के द्वारा हमें व्यवहार का भी पूर्ण ज्ञान होता है। राजदरबारों का पता सामान्यजनों को हो, तो कहाँ से हो ? राजा का आचार–विचार, रहन–सहन, उठने–बैठने का ढंग आदि राजा–विषयक समस्त बातों की जानकारी हमें काव्य से होती है। काव्य के अनुशीलन से हम किसी युगविशेष के लोगों का आचरण तथा व्यवहार भली–भाँति जान सकते हैं। काव्य के अध्ययन से 'रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' जैसा व्यवहार ज्ञान होता है। महाकवि कालिदास के काव्यों का अनुशीलन करके सम्राट विक्रमादित्य के समय का भारत अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत हो जाता है।

2.3.4 अमंगल–निवारण

काव्य के द्वारा विशिष्ट देवताओं की स्तुति प्रस्तुत की जाती है जिससे वे प्रसन्न होकर रचयिता के अमंगल का नाश करते हैं तथा मंगल का विधान करते हैं। इसके कितने ही उदाहरण साहित्य के इतिहास में प्रख्यात है। सुनते हैं कि सप्तम शतक के प्रख्यात कवि मयूरभट्ट का कुष्ठ

रोग सूर्य की स्तुति में विरचित 'सूर्यशतक' नामक भव्य काव्य के प्रणयन करने पर नष्ट हुआ था। तुलसीदास के विषय में भी ऐसी प्रसिद्धि है कि उनके बाहु में बहुत पीड़ा थी जिसका निवारण उन्होंने 'हनुमान बाहुक' नामक उद्भट काव्य–ग्रन्थ लिखकर किया। अन्य कवियों के विषय में भी ऐसी कथाएँ प्रचलित हैं जिससे इस प्रयोजन की पुष्टि होती है।

मुख्य प्रयोजन

मम्मट के अनुसार काव्य के मुख्य प्रयोजन दो हैं।

2.3.5 परमानन्द की सद्यः अनुभूति

काव्य का यही तो मुख्य प्रयोजन है कि काव्य के पढ़ते ही पढ़ते रस का आस्वाद होने लगता है और पाठक अपने को एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करता हुआ पाता है। उस समय किसी भी दूसरी वस्तु का ज्ञान उसे नहीं रहता। दूसरी वस्तु के ज्ञान का स्पर्श भी नहीं रहता। यदि ऐसा होता, तो वह वस्तु बाधक के समान आ खड़ी होती और काव्य का निश्छल एकरस आनन्द कभी उत्पन्न ही नहीं होता। यह आनन्दानुभूति ही काव्य का 'सकल प्रयोजन मौलिभूत' प्रयोजन है।

इस प्रयोजन की प्रशंसा में धनंजय ने बहुत ही ठीक कहा है कि आनन्द प्रस्रवित करने वाले रूपकों को पढ़कर यदि कोई पाठक 'व्युत्पत्ति' पाने का इच्छुक हो, तो उस अल्पबुद्धि आलोचक को दूर से ही प्रणाम है। आनन्द के सामने व्युत्पत्ति की महिमा क्या तनिक भी है ? नहीं, बिल्कुल नहीं।

आनन्दनिःस्यन्दिषु रूपकेषु,
व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुः,
तस्मै नमः स्वादपराङ्मुखाय।।

धनंजय का दशरूपकस्थित यह पद्य बड़े महत्त्व का है। रूपक का मुख्य प्रयोजन है – आनन्द उत्पन्न करना और इसीलिए वह इतिहास से भिन्न है। क्योंकि इतिहास का लक्ष्य है व्युत्पत्ति। रूपक तथा इतिहास का यही तो अन्तर है। चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में दो ग्रन्थ प्रस्तुत मान लीजिये जिनमें एक तो है इतिहास और दूसरा है तद्विषयक कोई नाटक। इतिहास के अनुशीलन से हम इतना ही जान सकते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य कौन था ? कैसा था ? किन–किन कारणों से उसकी कीर्ति कौमुदी आज भी भूतल को सुशोभित कर रही है ? इन प्रश्नों के उत्तर से हमारी केवल 'व्युत्पत्ति' बढ़ती है। उधर चन्द्रगुप्त–विषयक रूपक (जैसे संस्कृत में मुद्राराक्षस) का अध्ययन कीजिये। उसके रसात्मक वर्णन तथा अभिनय से हम इतने आनन्द–विभोर हो उठते हैं कि हम अपने आप को भी भूल जाते हैं। नाटक देखते समय हम इतने रसावेश में बह चलते हैं कि हम देश तथा काल की परिधि से स्वयं को बिल्कुल अछूता पाते हैं। हम आनन्द की धारा में डुबकी लगाते रहते हैं। रूपक का यही उद्देश्य है–आनन्दबोध।

इस प्रकार विषय की एकता होने पर भी पद्धति की भिन्नता से दो प्रकार का फल उत्पन्न होता है। अतएव रूपक अथवा काव्य का उच्चतम उद्देश्य है दर्शक अथवा श्रोता के हृदय में आनन्द की उद्भूति और काव्य का यही चरम लक्ष्य है।

2.3.6 कान्ता के समान उपदेश–

काव्य का यह प्रयोजन भी मुख्य प्रकारों में अन्यतम है। कान्ता के समान कविता सरसता उत्पन्न कर पाठकों को अपनी ओर आसक्त करती है और तदनन्तर उचित उपदेश देती है। कान्ता के शब्द भावना–प्रधान होते हैं। फलतः जब कान्ता कोई बात करना चाहती है, तब उसे इस ढंग से, रस से परिपूर्ण शब्दों में हमारे सामने प्रकट करती है कि हम उसकी अवहेलना नहीं कर सकते। बाध्य होकर हमें उसकी बात माननी ही पड़ती है। कविता में ऐसा ही प्रभाव होता है। वह अपने सुन्दर शब्दों तथा अर्थों के द्वारा हमारा चित्त आकृष्ट करती है और तब किसी बात का उपदेश देती है जिसे हम किसी प्रकार भी तिरस्कृत नहीं कर सकते। बाध्य होकर उन बातों को स्वीकार करना ही पड़ता है।

इस प्रयोजन पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। किसी वस्तु के ज्ञान तथा उसकी वासना में बड़ा ही अन्तर होता है। ठंडे दिमाग से कोई बात कितनी भी अच्छी तरह से क्यों न सोची जाय, उसे करने के लिए हम तब तक तैयार नहीं होते जब तक वह हमारे मन में नहीं बैठ जाती। कार्य सम्पादन के लिए मनुष्य अपने भावों में कुछ वेग चाहता है। इस मानव स्वभाव से राजनीतिपटु नेता पूरे रूप से परिचित हैं। यदि जनता को किसी कार्य–विशेष के लिए नेता अग्रसर करना चाहता है, तो लम्बा–चौड़ा तर्क नहीं बघारता, बल्कि उसके हृदय को स्पर्श करने वाली बातें कहकर वह उसके भावों को उद्दीप्त करता है। बस, उसका कार्य इसी से सिद्ध हो जाता है। विदेशियों के भारत में शासन करने से अर्थ का जो शोषण हो रहा है उसे प्रकट करने के दो मार्ग हैं। एक है पूरा लेखा–जोखा देकर देश की आर्थिक हीनता और दरिद्रता का चित्र प्रस्तुत करना। यह तो हुआ 'तर्कमार्ग' और दूसरा मार्ग है उस दरिद्रता के कारण टूटी कुटिया में अपना दिन काटने वाली किसी बुढ़िया के, रोटी के लिए तरसने वाले या सड़क पर गिरे रोटी के टुकड़ों पर टूट पड़ने वाले, छोटे–छोटे बच्चों का करुण क्रन्दन दिखलाना। यह हुआ भावना–प्रधान 'कविजनों का मार्ग'। यह दूसरा मार्ग ही श्रोताओं के चित्त पर विशेष प्रभाव डालता है और वे इस दरिद्रता को दूर भगाने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य के भावों को उद्‌बुद्ध करने के लिए तथा सुप्त भावों को जगाकर वेगवान् बनाने के लिए सबसे महनीय साधन 'कविता' है और इसीलिए उसका उपदेश श्रोताओं के हृदय पर अधिक प्रभाव जमाता है और उन्हें कार्य करने के लिए अधिकता के साथ प्रोत्साहित करता है।

उदाहरण के द्वारा काव्य के इस प्रयोजन को सिद्ध करने की विशेष आवश्यकता नहीं है। कालिदास के 'कुमारसम्भव' को ही देखिये कि कितनी सुन्दरता के साथ वह काम के ऊपर धर्म की विजय की स्थापना करता है। 'मदनदहन' का आध्यात्मिक रहस्य भी तो यही है। मानव को चाहिए कि वह स्वार्थ–रूपी काम को धर्म की वेदी पर स्वाहा कर दे। तभी वह महान् हो सकता है तथा शिवत्व को पाकर अपने जीवन को धन्य बना सकता है। यह उपदेश कितनी मार्मिकता के साथ यह काव्य प्रस्तुत करता है। सचमुच काव्य के प्रयोजन महान् तथा महनीय हैं।

काव्य से चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। इस विषय में विश्वनाथ कविराज का प्रसिद्ध मत इस प्रकार है –

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।

काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।।

अल्पबुद्धि वाले लोगों को भी चारों वर्गों के फल की प्राप्ति सुखपूर्व अल्प–प्रयास से काव्य से होती है। नीति–ग्रन्थों से भी होती है परन्तु वह सुख से नहीं होती। दर्शन–ग्रन्थों से भी यह प्रयोजन सिद्ध होता है, परन्तु वह अधिक बुद्धिवालों के लिए है। फलतः काव्य के प्रयोजन में स्वतः एक विशिष्टता है।

2.4 सारांश

इस इकाई में आपने काव्यहेतुओं के विषय में जानकारी प्राप्त की। संस्कृत आलोचना के अन्तर्गत प्रतिभा, शास्त्रज्ञान तथा अभ्यास इन तीनों को एकत्ररूप से हेतु की संज्ञा दी गई है। यदि शास्त्रज्ञान न हो, और अभ्यास भी न हो तो मात्र प्रतिभा भी काव्यरचना में सक्षम नहीं हो सकती है। इसी प्रकार प्रतिभा के साथ–साथ शास्त्रज्ञान और अभ्यास ये दोनों अत्यावश्यक हैं। आलोचकों ने शास्त्रज्ञान के दो विशेषण दिये हैं 'श्रुतं च बहु निर्मलम्'। शास्त्रज्ञान का परिमाण अल्प नहीं होना चाहिए और वह निर्मल अर्थात् शुद्ध होना चाहिए अर्थात् पूर्वाग्रह से रहित होना चाहिए।

शास्त्र ने 'काव्य–हेतु' यह अवधारणा स्पष्ट की। परन्तु यदि प्रयोगों पर दृष्टिपात नहीं करें तो यह चर्चा अपूर्ण ही मानी जायेगी। संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भारवि माघ, श्रीहर्ष आदि जितने भी कवि हुए हें उन सभी में प्रतिभा, शास्त्रज्ञान तथा अभ्यास के पदे–पदे दर्शन होते हैं।

काव्यप्रयोजन के अन्तर्गत यश, अर्थ प्राप्ति, व्यवहारज्ञान, अमंगलनिवारण, परमानन्द की सद्यः अनुभूति तथा 'कान्ता के समान उपदेशदान' की विस्तार से चर्चा की। उनके सिद्धान्त के साथ प्रयोग भी प्रस्तुत होने से अवधारणा प्रतीति सुगम हो गई।

2.5 बोध प्रश्न

1. काव्य हेतुओं की संख्या है

   (क) 2 (ख) 4 (ग) 8 (घ) 3

2. नवनवोन्मेषशाली होना लक्षण है–

   (क) प्रतिभा का (ख) ज्ञान का (ग) अभ्यास का (घ) यश का

3. 'बहु और निर्मल' ये दोनों विशेषण हैं–

   (क) प्रतिभा के (ख) यश के (ग) अर्थ के (घ) शास्त्रज्ञान के

4. चित्त की एकाग्रता अर्थात् अवधान को काव्य हेतु स्वीकार करते हैं–

   (क) रुद्रट (ख) वामन (ग) मम्मट (घ) दण्डी

5. आठ काव्याङ्गों की चर्चा करने वाले आचार्य हैं–

   (क) दण्डी (ख) मम्मट (ग) वामन (घ) राजशेखर

6. मम्मट के अनुसार मुख्य काव्यप्रयोजन हैं–

   (क) 4 (ख) 6 (ग) 8 (घ) 3

7. काव्य हेतु 'प्रतिभा' पर संक्षिप्त लेख लिखिए ?

8. काव्यहेतु के प्रसङ्ग में भिन्न–भिन्न आचार्यों के मतों की व्याख्या कीजिए ?

9. काव्यप्रयोजनों पर लेख लिखिये ?

10. यश को काव्य का प्रयोजन मानने वाले आचार्य किन उदाहरणों कोप्रस्तुत कर सकते हैं ?

11. काव्य के मुख्य प्रयोजन के अन्तर्गत किसको स्वीकार किया जाता है ?

2.6 कतिपय उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत आलोचना, पं. बलदेव उपाध्याय, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
2. काव्य प्रकाश, मम्मट, व्याख्याकार–आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, वाराणसी।
3. काव्यादर्श, दण्डी, मेहरचन्द लछमनदास, नई दिल्ली।
4. संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिभाविवेचन, डॉ. सत्यवती त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली।
5. काव्य रचना प्रक्रिया, कुमार विमल, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।
6. संस्कृत साहित्य स्मृतितत्त्वम्, डॉ. रमाकान्त पाण्डेय, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली।

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (घ) तीन
2. (क) प्रतिभा
3. (घ) शास्त्रज्ञान
4. (ख) वामन
5. (ग) वामन
6. (ख) 6
7. द्रष्टव्य 2.2.1
8. अभ्यास 2.2.3
9. द्रष्टव्य 2.3
10. द्रष्टव्य 2.3.1
11. द्रष्टव्य 2.3.5 तथा 2.3.6

इकाई – 3

शब्द शक्ति – परिभाषा, भेद एवं स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 शब्द शक्ति–अभिप्राय

3.3 शब्द शक्तियों के भेद

3.3.1 अभिधा शक्ति

3.3.1.1 संकेतग्रह का आधार

3.3.1.2 संकेतग्रह के उपाय

3.3.1.3 अभिधा की परिभाषा

3.3.2 लक्षणा शक्ति

3.3.2.1 लक्षणा की परिभाषा

3.3.2.2 लक्षणा के भेद

3.3.3 व्यंजना शक्ति

3.3.3.1 लक्षणामूला व्यंजना

3.3.3.2 अभिधामूला व्यंजना

3.3.3.3 व्यंजना की स्थापना

3.3.4 तात्पर्या शक्ति

3.3.4.1 अभिहितान्वय

3.3.4.2 अन्विताभिधानवाद

3.4 सारांश

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

3.6 बोध प्रश्न

3.7 उपयोगी पुस्तकें

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप शब्द शक्तियों के भेद, प्रभेद व उनकी परिभाषा के विषय में जान सकेगें। संस्कृत काव्य–शास्त्र में काव्य की सामान्य परिभाषा 'शब्दार्थौ काव्यम्' दी गयी है। अतः काव्य को समझने के लिए पहले शब्द व अर्थ को समझना आवश्यक है। कई काव्य–शास्त्रवेत्ताओं ने शब्द व अर्थ को दो प्रकार का माना है तथा कुछ तीन प्रकार का मानते हैं। इस शब्दार्थ युगल का प्रतिपादन करने वाली अर्थात् उसके शब्दों के वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ व व्यंग्यार्थ अर्थों का बोध कराने वाली वृत्तियों को ही 'शब्दशक्ति' कहते

हैं। अतः इस इकाई में शब्द व अर्थ के आधार पर बोध कराने वाली वृत्तियों के बारे में जान सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्य–शास्त्र में शब्द के अर्थ को जानने के लिए विविध अर्थों तथा उसके व्यापारों की चर्चा की गयी है। शब्द से अर्थ किस प्रकार ग्रहण किया जाता है, इसमें वैयाकरणों, नैयायिकों व मीमांसको में पर्याप्त मतभेद हैं। इस इकाई के माध्यम से आप शब्द से संकेत ग्रहण, शब्द के भेदों तथा शब्द व्यापार को बताने वाली वृत्तियों के बारे में जान सकेगें। सामान्य अर्थ का बोध कराने वाली 'अभिधावृत्ति' के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने शब्द से प्रतीत होने वाले तथा उससे सम्बधित अर्थ के आधार पर 'लक्षणावृत्ति' तथा प्रयोजन के आधार पर 'व्यंजनावृत्ति' की कल्पना की है। कुछ मीमांसक आदि विद्वान् इन तीनों वृत्तियों के अतिरिक्त चौथी वृत्ति तात्पर्याशक्ति को भी मानते हैं। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य तीनों वृत्तियों का सामान्य परिचय, उसकी परिभाषा तथा उसके भेदों के विषय में बताना है। तात्पर्यावृत्ति का भी संक्षिप्त परिचय इस इकाई में आप प्राप्त कर सकेगें।

3.2 शब्द शक्ति–अभिप्राय

शब्दशक्ति से अभिप्राय शब्द में रहने वाली उस शक्ति से है जिससे शब्द अर्थ बोध कराने में समर्थ होता है। सामान्यतः इस शक्ति को इच्छा रूप माना गया है– अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इति ईश्वरेच्छा (इच्छा शक्तिः)।

काव्य शास्त्र में शब्द के अर्थबोधक व्यापार के मूल कारण को 'शब्दशक्ति' कहा गया है। शब्द शक्ति का अभिप्राय जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि शब्द है क्या? संस्कृत काव्य शास्त्र में काव्य की परिभाषा 'शब्दार्थौ काव्यम्' दी गयी है। अधिकतर काव्य लक्षणकारों ने शब्द व अर्थ के सहभाव को काव्य की संज्ञा दी है। शब्द व अर्थ दोनों ही संपृक्त हैं और दोनों साथ–साथ रहते है। कोई भी साहित्य काव्य या परस्पर वार्तालाप शब्द व अर्थ के बिना सम्भव नहीं है। काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक दिनों में शब्द की प्रथम वाच्यता होने के कारण शब्द पर विशेष बल दिया गया परन्तु शब्द बिना किसी अर्थ के निरर्थक है अतः परवर्ती आचार्यों ने शब्द व अर्थ दोनों पर ही बल दिया तथा शब्द व अर्थ के सम्मिलित रूप को ही काव्य के रूप में परिभाषित किया। केवल शब्द या केवल अर्थ पर जोर देना, एक को आभ्यन्तर तथा दूसरे को बाह्यय बताना व्यर्थ है। शब्द व अर्थ का सम्मिलित रूप ही काव्य है तथा बाद में काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा इसी शब्द व अर्थ के सम्बंध तथा उनके सौन्दर्य को बताने वाले गुण–दोष अलंकारों की चर्चा प्रस्तुत की गयी। अतः गुणों से युक्त दोषों से रहित तथा अलंकार व रसों से युक्त शब्द अर्थ ही काव्य है।

आचार्य मम्मट ने शब्दार्थों की चर्चा करते हुए शब्द के तीन भेद बताये हैं–

"स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्तथा।"

1. **वाचक**
2. **लाक्षणिक**
3. **व्यंजक**

यह तीन प्रकार के शब्द वाचक, लक्षक तथा व्यंजक कहे गये हैं। इसी प्रकार तीन प्रकार के अर्थ वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य माने गये हैं। इन तीन प्रकार के शब्दों से तीन प्रकार के अर्थों का ज्ञान कराने के लिए अभिधा, लक्षणा व व्यंजना तीन प्रकार की शब्द शक्तियाँ मानी गयी हैं।

वाचक, लक्षक व व्यंजक तीन प्रकार के शब्दों का विभाजन अभिधा, लक्षणा व व्यंजना तीन प्रकार की

शब्द शक्तियों के आधार पर किया गया है। एक ही 'गंगा' शब्द का वाचक अर्थ प्रवाह, लक्षक अर्थ तीर तथा व्यञजक अर्थ शैत्य पावनत्व रूप है।

इस प्रकार तीन प्रकार के शब्दों के तीन अर्थ हैं –

1. वाच्यार्थ
2. लक्ष्यार्थ
3. व्यंग्यार्थ

आनन्दवर्धन ने ध्वनि की परिभाषा व भेदों को बताते हुए शब्द के दो ही अर्थ माने हैं वाच्य अर्थ व प्रतीयमान अर्थ। इस आधार पर उन्होंने ध्वनि के अभिधामूला व्यंजना व लक्षणामूला व्यंजना दो ही भेद स्वीकार किये हैं परन्तु आनन्दवर्धन के अनुगामी काव्यप्रकाशकार मम्मट ने तीन भेद स्वीकार किये हैं तथा साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने भी तीन प्रकार के शब्दों के आधार पर तीन अर्थ तथा उसके आधार पर तीन प्रकार की वृत्तियों की चर्चा की है।

आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि–

वाच्योऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यंग्यो व्यंजनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः।। (साहित्यदर्पण 2.3)

इसी प्रकार महावैयाकरण नागेशभट्ट ने तीन वृत्तियाँ मानी हैं –

सा च वृत्तिस्त्रिधा शक्तिर्लक्षणाव्यंजना च।

अतः स्पष्ट है कि अधिकतर काव्यशास्त्रियों ने तीन प्रकार की शब्दशक्तियाँ मानी हैं।

3.3 शब्द शक्तियों के भेद

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने तीन प्रकार की शब्द शक्तियाँ मानी हैं तथा मीमांसकों ने चौथी शब्दवृत्ति भी स्वीकार की है। वह इस प्रकार है।

3.3.1 अभिधा

3.3.2 लक्षणा

3.3.3 व्यंजना

3.3.4 तात्पर्या

यहाँ क्रमशः इनका विवेचन करते हैं –

3.3.1 अभिधा –

वाच्यार्थ या मुख्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति को अभिधा शक्ति कहते हैं। अभिधावृत्ति का स्वरूप बताते हुए मम्मट कहते है कि अभिधावृत्ति के द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने वाले शब्द वाचक शब्द कहलाते है तथा उनका बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है।

साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। (काव्यप्रकाश)

अभिधा व्यापार मुख्य व्यापार माना जाता है। अभिधावृत्ति के द्वारा जो शब्द साक्षात्संकेतित अर्थ का बोध कराता है उसे वाचक कहते हैं।

3.3.1.1 संकेतग्रह का आधार –

शब्द से अर्थ ग्रहण करने के लिए संकेत ग्रह की आवश्यकता होती है। संकेत ग्रह भी भिन्न–भिन्न आचार्यों ने अलग–अलग स्वीकार किया है। मम्मट संकेतग्रह का आधार जाति गुणक्रिया व यदृच्छा स्वीकार करते हैं। मीमांसक सिर्फ जाति में संकेतग्रह मानते हैं तथा नैयायिक जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेत ग्रह मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ भी जाति, गुण, द्रव्य व क्रिया में संकेतग्रह स्वीकार करते हैं। साहित्यदर्पण में कहा है–

"संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च।" (2.4)

अर्थात् संकेतग्रहण जाति, गुण, द्रव्य व क्रिया में होता है। इस संदर्भ में आचार्य मम्मट वैयाकरणों के मत को स्वीकार करते हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार –

'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा'

अर्थात् संकेतित अर्थ चार प्रकार का होता है– जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा। आचार्य मम्मट इन चारों में संकेतग्रह मानते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने मीमांसकों, नैयायिकों तथा बौद्धों के मत की चर्चा भी की है। मीमांसक सिर्फ जाति में संकेतग्रहण स्वीकार करते हैं। मीमांसको के अनुसार केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानना उचित है। जाति शब्दों के समान गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दों की जाति में ही संकेत ग्रह मानना चाहिये। जैसे बर्फ, दूध, शंख आदि में शुक्ल गुणों के अलग–अलग होते हुए भी 'शुक्लत्वसामान्य' है। जाति का दूसरा नाम 'सामान्य' है। इसी प्रकार गुड़, तंडुल आदि अनेक पदार्थो में रहने वाली पाक क्रिया एक ही है। इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा तथा विभिन्न कालों में उच्चरित 'यदृच्छा (नामादि) शब्द सामान्य है। अतः जाति शब्द के समान गुण, क्रिया व यदृच्छा शब्दों की जाति में ही संकेत ग्रह मानना चाहिये।

नैयायिक जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह मानते हैं। उनका कहना है कि सिर्फ जाति या सिर्फ व्यक्ति में संकेत ग्रह मानने से 'आनन्त्य' और व्यभिचार दोष उपस्थित हो जाते हैं। संकेत ग्रह का नियम है कि जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत ग्रह होगा उस शब्द से उसी अर्थ की प्रतीति होती है। यदि व्यक्ति में संकेत ग्रह मानते हैं तो जिस व्यक्ति में संकेतग्रह होगा, उस शब्द से उसी व्यक्ति विशिष्ट का ग्रहण होगा, अन्य व्यक्तियों के लिए प्रत्येक व्यक्ति में अलग–अलग संकेत ग्रह मानना पड़ेगा। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में अलग–अलग संकेत ग्रह मानने से 'आनन्त्य' दोष उपस्थित होता है अतः व्यक्ति में संकेत ग्रह सम्भव नहीं है। यदि अलग–अलग व्यक्ति में संकेत ग्रह न मानकर यह माना जाये कि कुछ व्यक्तियों में व्यवहार से संकेत ग्रह हो जाता है अतः अलग–अलग व्यक्तियों में संकेत ग्रह मानना चाहिये। ऐसा मानने पर नियम का उल्लंघन होने से 'व्यभिचार' दोष उत्पन्न होता है। अतः अर्थबोध के लिए व्यक्ति में संकेत न मानकर उसके उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा रूप धर्मों में ही संकेत ग्रह मानना चाहिये।

दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु है कि यदि व्यक्ति में संकेतग्रह मानते हैं तो महाभाष्यकार पतंजलि ने जो चार प्रकार का पदविभाग माना है (चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रिया शब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्धा) वह चारों प्रकार का पद विभाग नहीं बन पायेगा। गौः शुक्लः, चलः, डित्थः इन चारों में गौः जातिवाचक, शुक्ल गुणवाचक, चलः क्रियावाचक तथा डित्थ शब्द यदृच्छात्मक है। अतः संकेत ग्रह के लिए व्यक्ति के उपाधि

ाकृत जाति, गुण, क्रिया व यदृच्छा में ही संकेत ग्रह मानना उचित है।

बौद्धमत 'अपोह' में संकेतग्रह मानते हैं। 'अपोह' का अर्थ है 'अतद्व्यावृत्ति' या तद्भिन्नत्व। बौद्ध जाति को नहीं मानते जाति के स्थान पर वह अपोह को स्वीकार करते हैं। उनके मत में एक घट को छोड़कर सारा जगत् है और सारे जगत् से भिन्न घट है। अतः अनेक घट में घटः इस प्रकार एक सी प्रतीति होती है। इस प्रकार बौद्धों के मत में 'अपोह' में संकेतग्रह माना गया है।

इस प्रकार संकेतग्रह का आधार व्यक्ति न होकर उसकी उपाधि है। उपाधि दो प्रकार की है। वस्तुधर्म एवं यदृच्छा धर्म। वस्तुधर्म भी दो प्रकार का है सिद्ध और साध्य। सिद्ध भी दो प्रकार का है– पदार्थ का प्राणपद धर्म (जाति) तथा विशेषाधान हेतु (गुण)।

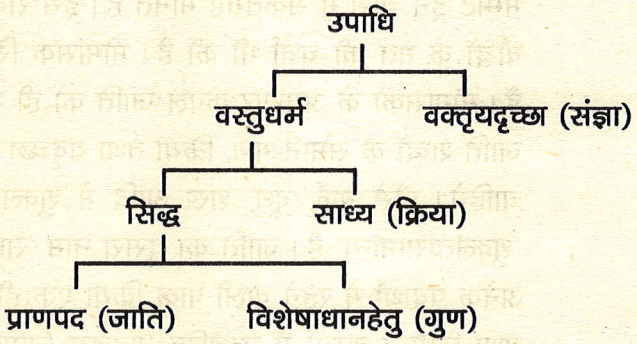

इस प्रकार उपर्युक्त विभाजन से आपने समझ लिया होगा कि उपाधि दो प्रकार की है इसमें वक्तृयदृच्छा तो नामरुप संज्ञा शब्द है। वस्तुधर्म दो प्रकार का है सिद्ध व साध्य। 'साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः' कहा गया है। इसमें प्रारम्भ से लेकर अर्थात् किसी पात्र को चूल्हे पर चढ़ाने से लेकर चावल बनाने तथा चूल्हे से उतारने तक का पूरा क्रम पाक क्रिया कहलाती है। तीसरा वस्तुधर्म जो पहले से सिद्ध व नित्य है 'गुण' कहलाता है। पदार्थ में विशेषता का आधान करने वाला कारणभूत धर्म, वस्तुधर्म है। जैसे शुक्लादि गुणों के कारण वस्तु अपने सजातीय अन्य पदार्थो से भिन्न होती है। सिद्ध का दूसरा भेद पदार्थ का प्राणपद धर्म या जाति है। गौ में गोत्व जाति उसका प्राणप्रद धर्म है तथा पहले से ही रहने वाली है। इस प्रकार वस्तु का जीवनाधायक प्राणप्रद धर्म जाति कहलाता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है कि **'न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः'** इति। गौ अपने स्वरुप से गौ नहीं है अपितु गोत्व जाति से सम्बंध से गौ है। अतः वस्तु का प्राणप्रद जीवनाधायक वस्तुधर्म जाति कहलाता है। इस प्रकार मम्मट महाभाष्यकार पतंजलि के अनुसार जाति, गुण, क्रिया व यदृच्छा चारों में संकेत ग्रह मानते है।

'गौः शुक्लोश्चलो डित्थ' इत्यादौ 'चतुष्टयी शब्दानांप्रवृत्ति' इति महाभाष्यकारः।

3.3.1.2 संकेत ग्रह के उपाय –

किसी भी शब्द से अर्थ ग्रहण करने में लोक व्यवहार प्रमुख कारण है। उत्तम वृद्ध जब मध्यम वृद्ध के कहने पर कलम उठा कर लाता है। मध्यमवृद्ध की इस क्रिया को देख कर बालक व्यवहार से कलम व लाना क्रिया का अर्थ ग्रहण करता है अतः लोक

व्यवहार संकेतग्रह का प्रधान साधन है। लोकव्यवहार के अतिरिक्त संकेत ग्रह के अन्य उपाय भी माने गये हैं। ये अन्य उपाय हैं– व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति, सिद्ध पद का सान्निध्य आदि।

1. **व्याकरण** – 'दाक्षि' पद का अर्थ 'दक्षपुत्र' है। यह बात व्याकरण से (दक्षस्यापत्यं दाक्षि) से प्रतीत होती है।

2. **उपमान** – 'यथा गौस्तथा गवयः' यह उपमान का उदाहरण है। गाय के समान गवय (नीलगाय) होती है। गवय को जब वह देखता है तो पूर्ववाक्य के स्मरण के आधार पर वह 'यह गवय है' इस प्रकार का ज्ञान उपमान से होता है।

3. **कोष** – कोष के द्वारा शब्दों के अर्थ व पर्यायों का ज्ञान होता है जैसे– विनायको विघ्नराजद्वैमातुरगगाधिपा इत्यादि ज्ञान कोष द्वारा होता है।

4. **आप्तवाक्य** – आप्तवाक्य या पिता आदि के द्वारा बताये जाने पर भी संकेत ज्ञान होता है।

5. **व्यवहार** – जब कोई वृद्ध अपने से छोटे व्यक्ति को कहता है कि 'गामानय' इति। पास में बैठा बालक जिसे संकेत ज्ञान नहीं है उस युवक को गाय लाते देखता है तदन्तर 'गां बधान, अश्वमानय' ऐसा कहने पर वह गाय को बांध देता है तथा अश्व को लाता है। बालक देख रहा है कि वृद्ध के कहने पर युवक उठकर चल दिया है तथा पहले 'गामानय' पर तो सास्नादिमान् पदार्थ को लाया है तथा 'अश्वमानय' पर सास्नादिमान पदार्थ का तो अभाव है परन्तु 'आनय' शब्द से 'आहरण' की क्रिया पूर्ववत् हुई है। इस प्रकार गो शब्द का सास्नादिमान् अर्थ तथा आनय पद का लाना अर्थ निर्धारित होता है।

6. **वाक्य के शेष होने से** – 'यवमयश्चरुर्भवति' यहाँ पर विद्यमान यव शब्द वसन्तकालीन सस्यविशेष का बोधक है।

7. **विवृति** – विवरण से जैसे 'रामो दाशरथिः'। राम का अर्थ परशुराम या बलराम न होकर दशरथ पुत्र राम का ग्रहण होता है।

8. **सिद्ध पद के सान्निध्य से** – 'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' अर्थात् विकसित कमल के मध्यभाग में मधुकर मधु का पान कर रहा है। यहाँ पदों की अन्वय योग्यता के आधार पर मधुकरः पद 'भ्रमर' का ही बोधक है। मधुकर का अर्थ मधुमक्खी भी होता है किंतु तात्पर्य विशेष के कारण इसका शक्तिग्रह नहीं हो रहा क्योंकि कमल के अन्दर भ्रमर ही रसपान करता है। अतः कमल पद के सान्निध्य से मधुकरः का अर्थ भ्रमर ही निर्धारित होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त उपायों व्यवहार, उपमान, कोश, विवृति, सिद्ध पद के सानिध्य आदि के द्वारा संकेतित अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति अभिधा है। इस प्रकार साक्षात्संकेतित अर्थ अर्थात् मुख्य अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है।

3.3.1.3 अभिधा की परिभाषा –

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्योव्यापारोऽस्याभिधोच्यते।

अर्थात् वह साक्षात्संकेतित अर्थ ही शब्द का मुख्य अर्थ है तथा उस अर्थ का बोधन

कराने वाली शक्ति अभिधा है। अभिधा शक्ति से पूर्व किसी भी शक्ति का होना आवश्यक नहीं है जिस प्रकार लक्षणा से पूर्व अभिधा का होना आवश्यक है। कुछ आचार्य अभिधा को शब्द की स्वाभाविक शक्ति स्वीकार न करते हुए रूढसम्मति लोकप्रसिद्धि को शब्दों के अर्थ का ज्ञान कराने में कारण मानते हैं। कुछ विद्वानों के मत में अभिधा का ही दूसरा नाम रूढसम्मति है।

3.3.2 लक्षणा –

मुख्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है लेकिन जब मुख्यार्थ या साक्षात्संकेतित अर्थ को ग्रहण करने में बाधा उपस्थित हो तो जिस शब्द–शक्ति का ग्रहण किया जाता है, वह शब्दशक्ति–लक्षणा कहलाती है। 'लक्षणा' शक्ति का इतिहास अति प्राचीन है। यास्क ने ब्राह्मण ग्रन्थों को भक्तिवादी कहा है। मीमांसा व न्याय सूत्रों में भी लक्षणा का संकेत मिलता है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' कहकर लक्षणा शक्ति का ही वर्णन किया है। महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य में तादाम्य संबंध के चार भेद बताये हैं तथा उसके उदाहरण इस प्रकार दिये हैं –

1.	ताटस्थ्यसम्बन्ध	–	मंचाः क्रोशन्ति।
2.	तादधर्म्य	–	ब्रह्मदत्तः जटी।
3.	तत्सामीप्य	–	गंगायां घोषः।
4.	तत्साहचर्य	–	कुन्ताः प्रविशन्ति।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने भी व्याकरणशास्त्र व वैयाकरणाचार्यो से संकेत ग्रहण कर लक्षणा का विवेचन किया है। आचार्य मम्मट ने रूढ़िवश अथवा किसी प्रयोजन के लिए मुख्यार्थ से सम्बन्धित अर्थ की प्रतीति को लक्ष्यार्थ तथा उसकी बोधिका शक्ति को लक्षणा कहा है।

3.3.2.1 लक्षणा की परिभाषा–

मम्मट ने लक्षणा की परिभाषा देते हुए मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ योग तथा रूढ़ि या प्रयोजन इन तीनों को लक्षणा का समुदित हेतु माना है।

'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।। (काव्यप्रकाश/9)

मुख्य अर्थ का बाध होने पर, उस मुख्यार्थ के साथ सम्बद्ध होने पर, रूढ़ि अथवा प्रयोजन विशेष से जिस वृत्ति के द्वारा अन्य (अमुख्य या गौण) अर्थ लक्षित होता है, वह शब्द का आरोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है।

इस प्रकार मम्मट ने लक्षणा के लिए तीन शर्तें बतायी हैं –

1. मुख्यार्थ बाध
2. तद्योग (अर्थात् मुख्य अर्थ से सम्बन्ध)
3. रूढ़ि अथवा प्रयोजन

जब साक्षात् संकेतिक अर्थ या शब्द के मुख्य अर्थ को ग्रहण करने में बाधा उपस्थित होती है तो उससे सम्बन्धित अर्थ ग्रहण किया जाता है।

इस प्रकार लक्षणा के दो भेद हो जाते हैं –

1. रूढ़ि लक्षणा

2. प्रयोजनवती लक्षणा

रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' है। यहाँ पर 'कुशल' शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति के आधार पर **'कुशान् लाति इति कुशलः'** अर्थात् जो कुश लाने वाला है किन्तु यहाँ कुशाओं के लाने का कोई सम्बन्ध न होने के कारण मुख्यार्थ का बाध होता है तथा 'कुशल शब्द का चतुर अर्थ रूढ़ि से ग्रहण होता है, यही लक्ष्यार्थ है। इसका ग्रहण लक्षणा शक्ति द्वारा होता है। इसी प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण 'गंगायां घोषः' है। गंगा शब्द का मुख्य अर्थ गंगा का प्रवाह है किन्तु घोष बस्ती का उसमें रहना असम्भव है, अतः उसका बाधकर उससे सम्बद्ध अर्थ तट अर्थ की प्रतीति होती है। इसे प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। आचार्य मम्मट ने लक्षणा को आरोपिता क्रिया कहा है क्योंकि अभिधा शब्द में रहने वाली स्वाभाविक शक्ति है। शब्द व अर्थ का वाच्य–वाचकभाव सम्बन्ध स्वाभाविक है किंतु लक्षणा शब्द की स्वाभाविक शक्ति न होकर आरोपित शक्ति है।

3.3.2.2 लक्षणा के भेद –

आचार्य मम्मट ने प्रथमतः शुद्धा लक्षणा के दो भेद किये हैं। मम्मट के अनुसार–

"स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।।" (काव्यप्रकाश/2.10)

1. **उपादान लक्षणा** – मम्मट कहते है कि जहाँ शब्द अपने अर्थ का परित्याग किये बिना अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप कर लेता है उसे उपादान लक्षणा कहते है। जैसे 'कुन्ताः प्रविशन्ति' (भाले प्रवेश कर रहे है) यहाँ 'कुन्त' अचेतन है अर्थात् प्रवेश क्रिया का कार्य वह नहीं कर सकता। अतः 'कुन्त' शब्द अपने मुख्यार्थ का परित्याग किये बिना 'कुन्तधारी पुरुष' का आक्षेप कर लेता है। इस प्रकार 'कुन्ताः प्रविशन्ति' का अर्थ कुन्तधारी पुरूष प्रवेश करते हैं। यह प्रयोजन वती उपादान लक्षणा है। इसे वैयाकरण 'अजहत्स्वार्थावृत्ति' कहते हैं। इसका उदाहरण उन्होंने **'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'** दिया है। कौओं से दही की रक्षा का अभिप्राय है जो भी दही को नुकसान पहुँचाता है, उन सभी प्राणियों से दही की रक्षा करना है। अतः 'काक' पद की दध्युपघातक में लक्षणा है।

2. **लक्षण लक्षणा** – लक्षण लक्षणा से अभिप्राय है 'परार्थं स्वसमर्पणम्' अर्थात् जहाँ पर शब्द दूसरे शब्द की अन्वय सिद्धि के लिए अपने मुख्य अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ का ग्रहण कर लेता है। स्वार्थ को छोड़कर परार्थ को लक्षित करना लक्षण लक्षणा है। उदाहरण के लिये– 'गंगायां घोषः' में गंगा शब्द अपने जल प्रवाह रूप मुख्य अर्थ को छोड़कर सामीप्य सम्बन्ध से 'तट' रूप अर्थ को ग्रहण कर लेता है। यहाँ सामीप्य सम्बन्ध से तट रूप अर्थ की प्रतीति कराना इस लक्षणा का प्रयोजन है अतः यह प्रयोजनवती लक्षण–लक्षणा का उदाहरण है। वैयाकरण इसे **'जहत्स्वार्थवृत्ति'** कहते हैं।

उपादान लक्षणा व लक्षण लक्षणा का वर्णन करने के बाद शुद्धा और गोणी दोनों लक्षणा

के सारोपा व साध्यवसाना दो–दो भेद हैं।

1. **सारोपा लक्षणा** – यहाँ आरोप्यमाण (उपमान) और आरोप विषय (उपमेय) दोनों शब्दतः कथित होते हैं और समानाधिकरण्य से निर्दिष्ट किये जाते हैं। इसमें उपमेय मुखादि तथा उपमान चन्द्रमादि के साथ तादात्म्य प्रतीति (अभेदज्ञान) को सारोप कहते हैं। **'आरोपेण सह वर्तते इति सारोपा।'** आरोप जिसका हो वह सारोपा कहलाती है। मम्मट ने सारोपा लक्षणा की परिभाषा इस प्रकार दी है–

   "सारोपान्या तु यत्रौक्तौ विषयी विषयस्तथा।" (काव्यप्रकाश/11)

2. **साध्यवसाना लक्षणा** – जहाँ पर आरोप्यमाण (उपमान) के द्वारा आरोप विषय (उपमेय) का अपने अन्दर अन्तर्भाव कर लिया जाये वहाँ 'साध्यवसाना लक्षणा' होती है। अर्थात् यहाँ उपमेय का प्रयोग वाच्य नहीं होता, केवल उपमान का प्रयोग होता है, उसे 'साध्यवसाना लक्षणा' कहते हैं। यथा –

   "विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।" (काव्यप्रकाश/11)

   सारोपा व साध्यवसाना के सादृश्य सम्बन्ध व अन्य सम्बन्धों के आधार पर क्रमशः बन्ध गौणी व शुद्धा दो–दो भेद होते हैं।

   भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरस्तथा।
   गौणी शुद्धौ च विज्ञेयौ.....।

   इस प्रकार सादृश्य सम्बन्ध से **गौणी लक्षणा** तथा अन्य अर्थात् कार्यकारणादि सम्बन्धों के आधार पर शुद्धा लक्षणा होती है। इस प्रकार सारोपा व साध्यवसाना लक्षणा के दो–दो भेद हो जाते हैं।

   गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना,
   शुद्धा सारोपा, शुद्धा साध्यवसाना।

   आचार्य मम्मट ने शुद्धा लक्षणा के उपादान व लक्षण लक्षणा दो भेद पूर्व में बताये हैं अतः शुद्धा लक्षणा का तीसरा भेद है।

3. **शुद्धा सारोपा** – सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न कार्यकारणादि के सम्बन्ध के आधार पर सारोपा लक्षणा का उदाहरण मम्मट ने 'आयुर्घृतम्' दिया है। यहाँ पर विषयी (उपमान) आयु तथा विषय (उपमेय) घृत दोनों की शब्दतः वाच्यता है अतः विषयी व विषय दोनों शब्दतः कथित होने के कारण शुद्धा सारोपा लक्षणा के उदाहरण हैं। 'घी' आयु वृद्धि का कारण है तथा आयु कार्य है। अतः कारण कार्य सम्बन्ध होने से आयुर्घृतम् में शुद्धा सारोपा लक्षणा है।

4. **शुद्धा साध्यवसाना** – शुद्धा साध्यवसाना में आयुरेवेदम् में आरोप्यमाण (उपमान) आयु शब्द का शब्दतः उपादान है किंतु आरोप विषय धृत शब्द का कथन नहीं है। अर्थात् विषयी आयु के द्वारा विषय धृत का अपने में अन्तर्भाव कर लिया गया है। अतः यह शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण है।

5. **गौणी सारोपा** – आचार्य मम्मट ने गौणी सारोपा का उदाहरण 'गौवार्हिकः' दिया है। यहाँ 'गो' शब्द के अर्थ के साथ 'वाहीक' के अर्थ का परस्पर अभेद

सम्बन्ध नहीं बैठता है क्योंकि दोनों भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं। लक्षणा से गो शब्द उपमान में रहने वाले गोत्व धर्म का व्यक्ति (उपमेय) पर आरोप करने पर दोनों का परस्पर अभेद सम्बन्ध हो जाता है, लक्षणा से गो व्यक्ति व वाहीक व्यक्ति दोनों गोत्व धर्म विशिष्ट हो जाते हैं।

6. **गौणी साध्यवसाना** – मम्मट ने गौणी साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण 'गौरयम्' दिया है। यहाँ आरोप विषय का शब्दतः उपादान नहीं है, वह आरोप्यमाण (उपमान) के द्वारा अपने भीतर अन्तर्भाव कर लिया गया है। अतः यह गौणी साध्यवसाना का उदाहरण है।

इस प्रकार लक्षणा के छः भेद हो गये। अतः अन्त में स्पष्ट करते हुए मम्मट कहते हैं। **'लक्षणा तेन षड्विधा'** इन भेदों को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है–

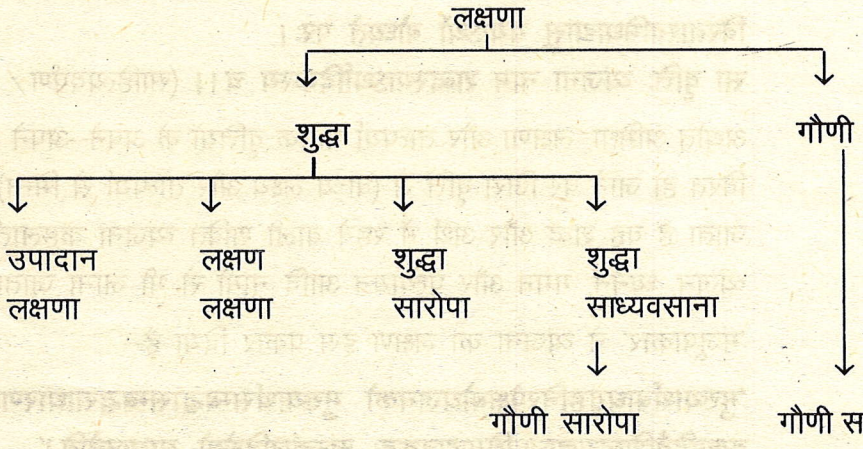

साहित्यदर्पणकार ने लक्षणा के सोलह भेद (तेन षोडशभेदितः) स्वीकार किये हैं। आचार्य विश्वनाथ लक्षणा के रूढि व प्रयोजनवती लक्षणा दो भेद स्वीकार करते हैं। दोनों भेद उपादान व लक्षण लक्षणा के भेद से चार प्रकार के हो जाते हैं। चारों भेद सारोपा व साध्यवसाना भेद से आठ प्रकार के तथा आठों भेद शुद्ध व गौणी के भेद से सोलह प्रकार के हो जाते हैं। आचार्य मम्मट व मुकुलभट्ट लक्षणा के छः भेद स्वीकार करते हैं। छः भेदों की स्वीकारोक्ति के बाद रूढ़ि व प्रयोजन से लक्षणा के दो भेद मानते हैं रूढ़ि लक्षणा व्यंग्यरहित व प्रयोजनवती लक्षणा व्यंग्य सहित होती है। सव्यंग्य प्रयोजनवती लक्षणा के गूढ़व्यंग्य व अगूढ़व्यंग्य से दो भेद हैं। इस प्रकार लक्षणा तीन प्रकार की हुई।

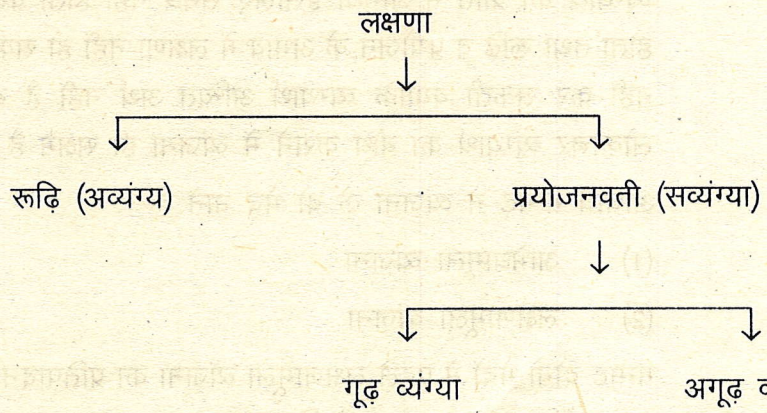

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने प्रयोजन को व्यंग्य माना है। लक्षणा के 6 भेद तथा एक

गूढ़ व्यंग्य व अगूढव्यंग्य से दो–दो भेद मिलाकर मिला देने से मम्मट के अनुसार व्यंग्य के आधार पर लक्षणा के तीन भेद हो जाते हैं।

व्यंजना शक्ति

आचार्य अभिनवगुप्त व्यंजनावृत्ति के विषय में कहते हैं कि वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और तात्पर्यार्थ का ज्ञान हो जाने के पश्चात् विलक्षण अर्थ का बोध कराने वाले अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं। उसके बोधक शब्द को व्यंजक तथा उसका बोध कराने वाली वृत्ति को व्यंजना शक्ति कहते हैं। जैसे 'गंगायां घोषः' इस शब्द से अभिधा शक्ति द्वारा जल प्रवाह रूप अर्थ का ग्रहण होता है तथा लक्षणा के द्वारा तट रूप अर्थ का बोध होता है। यहाँ शैत्य पावनत्व रूप प्रयोजन की जो प्रतीति होती है, उसे व्यंग्यार्थ कहते है और इसकी व्यंजक शक्ति ही 'व्यंजना' है।

साहित्य दर्पण में व्यंजना के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि–

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिः व्यंजना नाम शब्दस्याऽर्थादिकस्य च।। (साहित्यदर्पण/12–13)

अर्थात् अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या नामक वृत्तियों के अपने–अपने अर्थ का ज्ञान कराने के बाद विरत हो जाने पर जिस वृत्ति से (वाच्य लक्ष्य और तात्पर्या से भिन्न) भिन्न अर्थ का ज्ञान कराया जाता है वह शब्द और अर्थ में रहने वाली शक्ति व्यंजना कहलाती है। इस व्यंजना वृत्ति को व्यंजन, ध्वनन, गमन और प्रत्यायन आदि नामों से भी जाना जाता है।

'मंजूषाकार' ने व्यंजना का लक्षण इस प्रकार दिया है–

'मुख्यार्थबाधग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बद्धासम्बद्धसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिमाद्यद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जनेति।'

व्यंजना वृत्ति के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को व्यंग्य कहते हैं। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तरह नियत नहीं होता अपितु वक्ता व प्रकरणादि के अनुसार अनियत होता है। जैसे– **'गतोऽस्तमर्कः'** का सीधा वाच्यार्थ है 'सूर्य छिप गया' है। दूती का अभिसारिका के प्रति कहे गये इस वाक्य का अर्थ है प्रिय से मिलने का समय हो गया है। श्रमिक का अपने साथियों के कहे गये इस वाक्य का अर्थ होगा 'कार्य समाप्त करने का समय हो गया है।' ग्वाले के लिए इस वाक्य का अर्थ है कि गायों के लौटने का समय हो गया है। इस प्रकार एक ही वाक्य की प्रकरणानुसार अनेक अर्थों की प्रतीति व्यंजना व्यापार से ही सम्भव है।

व्यंग्यार्थ की प्रीति में अभिधा इसलिए समर्थ नहीं होती क्योंकि वह साक्षात् संकेतित अर्थ नहीं होता तथा रूढ़ि व प्रयोजन के अभाव में लक्षणा नहीं हो सकती। वहाँ तात्यर्यावृत्ति इसलिए प्रवेश नहीं कर सकती क्योंकि व्यंग्यार्थ अन्वित अर्थ नहीं है बल्कि लोकोत्तर अर्थ होता है। ऐसे लोकोत्तर व्यंग्यार्थ का बोध कराने में व्यंजना ही सक्षम है।

आचार्य मम्मट ने व्यंजना के दो भेद माने हैं–

(1) अभिधामूला व्यंजना

(2) लक्षणामूला व्यंजना

मम्मट दोनों भेदों में पहले लक्षणामूला व्यंजना का प्रतिपादन करते हैं, बाद में अभिधामूला व्यंजना का, क्योंकि व्यंजना को जाने बिना लक्षणा का रहस्य स्पष्ट नहीं हो सकता। अतः मम्मट कहते है कि–

"यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया।"

अर्थात् जिस प्रयोजन विशेष के प्रतिपादन की इच्छा से लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, वहाँ अनुमानादि किसी अन्य साधन से उसकी प्रतीति नहीं होती अपितु उसी शब्द से होती है और उसके बोधन में व्यंजना के अतिरिक्त कोई व्यापार हो ही नहीं सकता। 3.3.3

3.3.3.1 लक्षणामूला व्यंजना –

जहाँ लक्षणा के द्वारा किसी लक्ष्य अर्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यंजना के द्वारा किसी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ लक्षणामूला व्यंजना होती है। जैसे 'गंगायां घोषः' इस उदाहरण में गंगा शब्द का अर्थ प्रवाह है। लक्षणा से उसके तट रूपी अर्थ का ग्रहण होता है। लक्षणा का प्रयोजन सामीप्य सम्बन्ध से तट की प्रतीति कराना है। यहाँ शैत्य, पावनत्व आदि प्रयोजन रूप अर्थ न तो वाच्यार्थ है, न ही लक्ष्यार्थ है अपितु व्यंग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ के बोधन के लिए व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता होती है।

यदि कोई यह कहे कि शैत्य व पावनत्व की प्रतीति अभिधा द्वारा हो सकती है अतः व्यंजना की आवश्यकता नहीं है तो मम्मट इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि–

'नाभिधा समयाभावात्।'

साक्षात् संकेत के अभाव में अभिधा नहीं हो सकती क्योंकि शैत्य व पावनत्व गंगा पद का साक्षात् संकेतित अर्थ नहीं है अतः प्रयोजन रूप अर्थ में संकेत न होने से अभिधावृत्ति का विषय नहीं है।

यदि यह कहा जाये कि शैत्यपावनत्व रूप अर्थ लक्षणा के द्वारा ज्ञात हो सकता है इसके लिए व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। इस कथन का निराकरण करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं–

हेत्वभावान्न लक्षणा। (काव्यप्रकाश/15)

अर्थात् मुख्यार्थबाधादि हेतुओं के अभाव के कारण शैत्य पावनत्व रूप अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं हो सकती। लक्षणा में मुख्यार्थ बाध, तद्योग तथा रूढ़ि अथवा प्रयोजन इन तीन हेतुओं का होना आवश्यक है। 'गंगायां घोषः' इस उदाहरण में यदि शैत्य व पावनत्व अर्थ को लक्ष्यार्थ मान लिया जाये तो इससे पूर्व प्रतीत होने वाला तटरूप अर्थ मुख्यार्थ नहीं है तथा न ही उसका शैत्य पावनत्व के साथ कोई सम्बन्ध है, उसका सम्बन्ध तो जल प्रवाह के साथ है। तीसरा रूढ़ि व प्रयोजन का भी अभाव है। प्रयोजन का कोई अन्य प्रयोजन मानना पड़ेगा। प्रयोजन का कोई अन्य प्रयोजन होगा, इस प्रकार 'अनवस्थादोष' उपस्थित हो जायेगा। तीनों हेतुओं के अभाव में गंगा शब्द तट का बोध कराने में असमर्थ है अतः तदर्थ बोधन में वह 'स्खलद्गति' है किंतु शैत्य पावनत्व अर्थ तो बिना मुख्यार्थबाध के भी गंगा शब्द से प्रतीत हो जाता है। इसके लिए व्यंजना व्यापार को मानना ही पड़ेगा। आचार्य मम्मट कहते हैं कि –

लक्ष्यं न मुख्यं, नाप्यत्र बाधो, योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।।

आगे यदि यह कहा जाये कि 'शैत्यपावनत्वविशिष्ट तट' में लक्षणा मान ले तो

लक्षणामूला व्यंजना की आवश्यकता ही नहीं होगी। इस समस्या का निराकरण करते हुए कहा गया है कि शैत्य पावनत्व विशिष्ट तट में लक्षणा हो ही नहीं सकती क्योंकि ज्ञान का विषय अलग होता है तथा ज्ञान का फल अलग।

यहाँ लक्षणा जन्य ज्ञान का विषय तट है तथा उसका फल शैत्यपावनत्व है। ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते क्योंकि विषय व फल में कार्य कारण सम्बन्ध होता है। इनमें पूर्वापर सम्बन्ध होता है, समकालिक उत्पत्ति न होने से शैत्य पावनत्व विशिष्ट तट में लक्षणा नहीं हो सकती।

3.3.3.2 अभिधामूला व्यंजना –

अभिधामूला व्यंजना अभिधा शक्ति पर आधारित होती है। आचार्य मम्मट ने अभिधामूला व्यंजना का लक्षण इस प्रकार दिया है–

'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृत्तिरंजनम्।।'

अर्थात् संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के किसी एक प्राकरणिक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर ऐसे अर्थ की प्रतीति होती है जो वाच्यार्थ से विलक्षण होते हैं। यह अर्थ जिससे प्रतीत होते हैं उसे अभिधामूला व्यंजना कहते हैं। अनेकार्थक शब्द को एक अर्थ में नियन्त्रित करने वाले संयोगादि का क्या अभिप्राय है? इस प्रश्न के समाधान के लिए वाक्यपदीयम् की दो कारिकायें उद्धृत की गयी हैं –

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्याऽन्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः
शब्दार्थस्याऽनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।

भर्तृहरि ने इन कारिकाओं के आधार पर अनेकार्थक शब्दों को एकार्थ में नियन्त्रित करने के 14 कारण बताये हैं –

1. **संयोग** – जहाँ पर अनेकार्थक शब्द किसी शब्द के सम्बन्ध से एक अर्थ में नियन्त्रित होता है उसे संयोग कहते हैं जैसे हरि शब्द के वानर, सर्प आदि अनेक अर्थ है परन्तु 'सशंखचक्रो हरिः' से शंख चक्र से युक्त हरि 'विष्णु' का बोध होता है।
2. **विप्रयोग** – वियोग से भी अभिधा नियन्त्रित होती है। जैसे 'अशंखचक्रो हरिः' इसमें शंख चक्र रहित हरि कहने पर भी अभिधा विष्णु के अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है।
3. **साहचर्य** – साहचर्य साथ में रहना। जैसे 'रामलक्ष्मणौ' कहने पर राम लक्ष्मण के साथ होने से दशरथ पुत्र राम का बोध कराता है, परशुराम या बलराम का नहीं।
4. **विरोधिता** – विरोध के कारण भी अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाते है। जैसे **'रामार्जुनगतिस्तयोः** यहाँ पर राम और अर्जुन का परस्पर विरोध होने से 'राम' शब्द का अर्थ परशुराम तथा अर्जुन 'कार्तवीर्य' अर्थ में

नियन्त्रित हो जाता है।

5. **अर्थ** – किसी प्रयोजन से अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे **'स्थाणुं वन्दे भवच्छिहे'** स्थाणु शब्द शिव, ठूंठ व पेड़ आदि अनेक अर्थ का बोधक है पर यहाँ पर शिव की स्तुति ही संसार के बन्धन से मुक्त कर सकती है, अतः प्रयोजन के कारण स्थाणु शब्द शिव के अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है।

6. **प्रकरण** – प्रसंग के अनुसार शब्द एक निश्चित अर्थ में नियंत्रित हो जाता है जैसे सर्वं जानाति देवः' इस उदाहरण में 'देव' शब्द 'आप' के अर्थ में नियन्त्रित है।

7. **लिंग** – किसी विशेष चिन्ह को देखकर अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे **'कुपितो मकरध्वजः'** मकरध्वज शब्द के समुद्र, औषधि, कामदेव अनेक अर्थ है परन्तु कुपित शब्द के साथ 'कामदेव' अर्थ में नियंत्रित हो गया है।

8. **अन्य–शब्द–सन्निधि** – किसी अन्य शब्द के सान्निध्य से शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे **'देवस्य पुरारातेः'** इस उदाहरण में देव शब्द के अनेक अर्थ होने से 'पुरारातिः' देव के सान्निध्य से 'पुरारिः' शब्द शिव का ही अभिधान करता है।

9. **सामर्थ्य** – सामर्थ्य के कारण अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे **'मधुना मत्तः कोकिलः'** इस उदाहरण में अनेक अर्थ का वाचक मधु शब्द कोकिल को मत्त करने की सामर्थ्य के कारण बसन्त में नियन्त्रित हो जाता है क्योंकि कोयल बसन्त में ही मदमस्त होती है।

10. **औचित्य** – औचित्य के कारण भी अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे **'पातु वो दयितामुखम्'** इस उदाहरण में मुख शब्द सामुख्य के अर्थ में नियन्त्रितः हो गया है।

11. **देश** – देश के आधार पर अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित होते हैं। जैसे 'भात्यत्र परमेश्वरः' शब्द 'राजा' अर्थ में नियन्त्रित हो गया है।

12. **काल** – शब्द के अर्थ बोधन में काल का भी विशेष महत्व है। उदाहरणार्थ– **'चित्र भानुर्विभाति'** यहाँ चित्रभानु शब्द अनेकार्थक है किन्तु दिन के समय बोले गये। चित्रभानु का अर्थ सूर्य तथा रात्रि में 'अग्नि' अर्थ होता है।

13. **व्यक्ति** – व्यक्ति अर्थात् स्त्रीलिंग एवं पुल्लिंग के आधार पर अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे मित्रं भाति, उदाहरण में मित्र शब्द सुहृत्, सूर्य आदि अनेक अर्थो का बोधक है किंतु नपुसंक लिंग में प्रयोग होने के कारण 'मित्र' शब्द 'सुहृत्' के अर्थ में नियन्त्रित हो गया है। इसी प्रकार 'मित्रो भाति' उदाहरण में मित्र शब्द पुल्लिंग में प्रयोग होने के कारण सूर्य अर्थ में नियन्त्रित हो गया है।

14. **स्वरादि** – इसके उदाहरण वेदों में प्राप्त होते हैं, काव्य में नहीं। स्वरभेद के कारण शब्द अन्य अर्थ में नियंत्रित हो जाता है। **'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'** में स्वरभेद के

कारण अलग–अलग समास होने से अलग–अलग अर्थ होते हैं।

अन्त में आदि शब्द अभिनयादि का बोध होता है। अर्थात् अभिनेय आदि के द्वारा भी अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है।

इस प्रकार संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है अतः अन्यत्र दूसरे अर्थ का बोध कराने में असमर्थ होने के कारण अभिधा नहीं होगी तथा मुख्यार्थबाध, तद्योग व रूढ़ि तथा प्रयोजन के अभाव में लक्षणा नहीं होगी अतः शब्द जिस अर्थ में नियन्त्रित हुआ है उसका बोध कराने में व्यंजना ही सक्षम है। इसी को अभिधामूला व्यंजना कहा गया है।

व्यंजना के भेद का निरूपण करते हुए मम्मट ने इसके दो भेद किये हैं– शाब्दी व्यंजना एवं आर्थी व्यंजना। अभिधामूला ध्वनि शाब्दी व्यंजना ही है। इसके अनन्तर आर्थी व्यंजना का भेदों सहित निरूपण किया गया है। आर्थी व्यंजना अर्थ पर निर्भर करती है। आर्थी व्यंजना में अर्थ की प्रधानता रहती है, काव्य रसिकों को एक प्रतीत अर्थ के अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति होती है। बिना आर्थी व्यंजना के काव्य में कवित्व आ ही नहीं सकता। अर्थ व्यापकता के कारण ही कवि महाकवि बन जाता है। आर्थी व्यंजना कवि की प्रतिभा पर निर्भर करती है।

मम्मट ने आर्थी व्यंजना के 10 प्रकार बताये हैं –

1. वक्तृवैशिष्ट्य
2. बोधव्यवैशिष्ट्य
3. काकुवैशिष्ट्य
4. वाक्यवैशिष्ट्य
5. वाच्यवैशिष्ट्य
6. अन्यसन्निधिवैशिष्ट्य
7. प्रस्तावावैशिष्ट्य
8. देशवैशिष्ट्य
9. काल वैशिष्ट्य
10. अन्यविधवैशिष्ट्य।

आचार्य मम्मट ने आर्थी व्यंजना में वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व व्यंग्यार्थ त्रिविध अर्थों की व्यंजकता मानी है, इस आधार पर आर्थी व्यंजना के तीन भेद स्वीकार किये गये हैं परन्तु उनका निरूपण नहीं है। साहित्यदर्पणकार ने वक्ता, वाक्य, प्रकरण और देशकालादि के कारण उत्पन्न व्यंजकता, बोद्धव्य की विशेषता, काकु की विशेषता तथा चेष्टा के वैशिष्ट्य के आधार पर आर्थी व्यंजना के पाँच भेद स्वीकार किये हैं।

3.3.3.3 व्यंजना की स्थापना –

अभिधा व लक्षणा वृत्तियाँ अत्यन्त प्राचीन हैं किन्तु व्यंजना वृत्ति शब्दार्थ वैचित्र्य के कारण कवियों व महाकवियों में आदृत रही है। आचार्य मम्मट आनन्दवर्धन के अनुयायी हैं। तीनों अर्थों में ही साहित्यदर्पणकार व्यंजना वृत्ति की आवश्यकता इस प्रकार बताते हैं–

अभिधा, लक्षणा व तात्पर्या नाम वृत्ति अपने–अपने अर्थ का बोधन करके विरत हो जाने पर रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावसन्धि, भावशबलता वस्तु और अलंकारदिकों की प्रतीति में चौथी व्यंजनावृत्ति स्वीकार करनी चाहिये।

आचार्य विश्वनाथ ने व्यंजना वृत्ति की स्थापना के लिए निम्न बिन्दु प्रस्तुत किये हैं –

1. अभिधावृत्ति द्वारा रसादि की प्रतीति नहीं हो सकती।

2. अभिहितान्वयवादी मीमांसकों द्वारा स्वीकृत तात्पर्यावृत्ति अपने अन्वय ज्ञान में क्षीण हो जाती है, व्यंग्यार्थ का ज्ञान नहीं करा सकती।

3. लक्षणा के लिए तीनों हेतुओं का होना आवश्यक है अतः उन हेतुओं के अभाव में व्यंग्यार्थ बोध नहीं हो सकता। मम्मट ने लक्षणामूला ध्वनि के अर्थान्तर संक्रमित व अत्यन्ततिरस्कृत दो भेद किये हैं तथा अभिधामूला ध्वनि के भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और सलंक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के आधार पर दो भेद किये हैं संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के (1) शब्दशक्त्युद्भव (2) अर्थशक्त्युद्भव तथा (3) उभयशक्तित्युद्भव तीन भेद हैं। शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि वस्तु व अलंकार के भेद से दो प्रकार की तथा अर्थ शक्त्युद्भव के 12 भेद व उभयशक्त्युद्भव का एक भेद होता है। इस प्रकार संलक्ष्यक्रम के कुल 15 भेद होते हैं। मम्मट के काव्यप्रकाश में ध्वनि के कुल 51 भेद बताये गये हैं।

3.3.4 तात्पर्यावृत्ति –

काव्य शास्त्र में तीन प्रकार की शब्द शक्तियाँ मानी गयी हैं। इन तीनों शक्तियों द्वारा शाब्दबोध अर्थात् शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है। वाक्यार्थ ज्ञान के संदर्भ में वैयाकरण, नैयायिकों, व मीमासंकों के अपने–अपने मत है। मीमासंकों के वाक्यार्थ बोध के संदर्भ में दो मत हैं– अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद।

3.3.4.1 अभिहितान्वयवाद –

अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधा शक्ति के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है। उसके बाद वक्ता के तात्पर्य से उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होता है जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। बाद में उनका परस्पर अन्वय होता है तथा जिस विशिष्ट अर्थ का वाक्यार्थ के रूप में बोध होता है उसे तात्पर्यार्थ कहते हैं। इसी को अभिहितान्वयवाद भी कहते हैं। आकांक्षा, योग्यता व सन्निधि के बल से परस्पर अन्वय होने पर प्रतीत होने वाले अर्थों के न होने पर भी विशिष्ट प्रकार का तात्पयार्थ रूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है।

वाक्य के एक पद के सुनने के पश्चात् दूसरे पद को सुनने की जिज्ञासा आकांक्षा कहलाती है। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के सम्बन्ध में बाधा उपस्थित न हो उसे योग्यता कहते हैं। 'अग्निना सिञ्चति' में अग्नि में सिञ्चन की योग्यता नहीं है। वक्ता द्वारा अविलम्ब पदों का उच्चारण सन्निधि कहलाता है। अतः आकांक्षा, योग्यता व सन्निधि से युक्त समुदाय ही वाक्य कहलाता है। इसमें पहले अभिधा शक्ति से पदों के अर्थ का ज्ञान होता है फिर तात्पर्यवश अन्वय होता है।

3.3.4.2 अन्विताभिधानवाद –

इस मत में अन्वित पदों से ही विशिष्ट अर्थ का बोध होना माना गया है। अन्विताभिधानवाद में अभिधा शक्ति के द्वारा अन्वित पदार्थ ही उपस्थित होता है अतः उसके अन्वय बोध के लिए तात्पर्याख्या नामक पृथक् शक्ति की आवश्यकता नहीं है। अतः काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'तात्पयार्थोऽपि केषुचित' कहकर तात्पर्यावृत्ति से प्रतिपाद्य तात्पर्य अर्थ को स्वीकार करने में अपनी सम्मति दी है। आचार्य विश्वनाथ ने व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में 'अंगीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्' में अभिधा, लक्षणा व

तात्पर्य के अतिरिक्त व्यंजना को चौथी वृत्ति स्वीकार किया है। आचार्य विश्वनाथ तात्पर्यवृत्ति के विषय में लिखते हैं कि–

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे। (साहित्यदर्पण/ 2/20)

अर्थात् कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों ने पदो के पृथक्–पृथक् उपस्थित पदार्थों के कर्तृत्व, कर्मत्व आदि रूप से परस्पर अन्वय के बोधन के लिए वाक्य में तात्पर्य नाम की शक्ति मानते हैं और तात्पर्यार्थ को उस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ मानते हैं। अभिप्राय स्पष्ट है कि एक–एक पदार्थ का अभिधा शक्ति के द्वारा अलग–अलग बोध कराने के बाद अभिधा शक्ति विरत हो जाती है, उन बिखरे हुए पदार्थों को परस्पर सम्बद्ध करके वाक्यार्थ का स्वरूप देने वाली तात्पर्य नामक वृत्ति है। उसका प्रतिपाद्य तात्पर्यार्थ कहलाता है और उसका बोधक वाक्य होता है। यह अभिहितान्वयवादियों का मत है।

3.4 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में आपने शब्द की तीनों शक्तियों अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के विषय में जाना। विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने शब्द के विविध प्रकारों की चर्चा की है। आचार्य आनन्दवर्धन वाच्यप्रतीयमान दो ही भेद मानते हैं तो आचार्य मम्मट व विश्वनाथ शब्द के तीन भेद वाचक लक्षक व व्यञ्जक तथा उनके तीन प्रकार के अर्थ वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ व व्यंग्यार्थ स्वीकार करते हैं, तीनों अर्थो का बोधन कराने के लिए अभिधा, लक्षणा व व्यंजना को स्वीकार करते हैं। वाक्यार्थ ज्ञान के विषय में मीमासंको का अपना मत है वह तात्पयार्थ के आधार पर तात्पर्या वृत्ति को मानते हैं। साक्षात् संकेतित तथा मुख्यार्थ को बताने वाली अभिधा शक्ति है परन्तु जब मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने पर उसका समीपवर्ती अर्थ रूढ़ि या प्रयोजन से ग्रहण किया जाता है उस अर्थ को जानने के लिए लक्षणा की आवश्यकता होती है परन्तु जहाँ अभिधा व लक्षणा से अर्थ की प्रतीति न होकर शब्द का कोई विलक्षण अर्थ पाठक के सामने होता है वह व्यंजना व्यापार होता है। मीमांसक व्यंजना को स्वीकार नहीं करते अतः उन्होंने मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ को स्वीकार करने के लिए तात्पर्यावृत्ति ग्रहण किया है।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

1. आकांक्षा – वाक्य में श्रोता की जिज्ञासा।
2. योग्यता – पदार्थों के परस्पर संबंध में बाधा का अभाव, शब्द में अर्थ का सामर्थ्य
3. संकेतित अर्थ – अभिधा द्वारा ग्रहण कराया जाने वाला मुख्य अर्थ।
4. अभिधा – मुख्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति।
5. लक्षणा – शब्द की दूसरी शक्ति लक्षणा है। मुख्यार्थ में बाधा होने पर उसका सम्बन्धित अर्थ लक्षणा से ग्रहण किया जाता है।
6. व्यंजना – व्यंजन, ध्वनन, द्योतन आदि। शब्दार्थ से भिन्न विलक्षण अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति।
7. उपादान – अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का ग्रहण, यह लक्षणा का भेद है।
8. लक्षण – दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिए स्वार्थ का समर्पण। यह लक्षणा का दूसरा भेद हैं।

9.	जाति	–	वस्तु का प्राणपद धर्म, सामान्य (गो में गोत्व जाति सामान्य है।)
10.	वाचक	–	किसी अर्थ का अभिधान करने वाला शब्द
11.	यदृच्छात्मक	–	संज्ञा रूपशब्द (नामकरण आदि)
12.	रूढ़ अर्थ	–	लोक में प्रसिद्ध जैसे कुशल चतुर के अर्थ में रूढ़ है।
13.	शुद्धा	–	जिसका कोई प्रयोजन हो वह शुद्धा लक्षणा कहलाती है।
14.	तात्पर्य	–	शब्द के अर्थ से भिन्न अन्वित अर्थ को बताने वाली शक्ति।
15.	समय	–	संकेतग्रह
16.	हेतु	–	मुख्यार्थबाध, तद्योग, रूढ़ि या प्रयोजन (लक्षणा के तीन हेतु)
17.	स्खलद्गति	–	असमर्थ
18.	अनवस्थादोष	–	वस्तु के मूल उद्गम को पहचानने में बाधा उपस्थित होना।
19.	समनाधिकरण्य	–	जिसका अधिकरण समान हो अर्थात् उपमेय व उपमान के परस्पर तुलना का अधिकरण।
20.	विषय्यन्तः	–	उपमान के द्वारा उपमेय को अपने भीतर अन्तर्भाव (निगीर्ण) कर लेना।

3.6 उपयोगी पुस्तकें

1. काव्यप्रकाश, मम्मट, विश्वेश्वर टीका सहित, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।
2. काव्यप्रकाश, श्री निवास शास्त्री, साहित्य भंडार, मेरठ।
3. ध्वन्यालोक, आचार्य आनन्दवर्धन, विश्वेश्वर टीका सहित, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।
4. साहित्य दर्पण, डॉ. निरूपण विद्यालंकार, साहित्य भंडार, मेरठ।
5. संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास, पी.वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

3.7 बोध प्रश्न –

प्र.1 मुख्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति है–

(अ) अभिधा (ब) लक्षणा

(स) व्यंजना (द) तात्पर्य

प्र.2 आर्चाय मम्मट के मत में संकेतित अर्थ के प्रकार है–

(अ) तीन (ब) चार

(स) एक (द) दो

प्र.3 आचार्य आनन्द वर्धन ने शब्द के दो ही अर्थ स्वीकार किये है–

(अ) वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ (ब) लक्ष्यार्थ, तात्पर्यार्थ

(स) वाच्यार्थ, प्रतीयमानार्थ (द) लक्ष्यार्थ, वाच्यार्थ

प्र.4 'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' इस कथन की समीक्षा कीजिए?

प्र.5 शब्द शक्तियाँ कितने प्रकार की है। अभिधा शक्ति को स्पष्ट कीजिए?

प्र.6 'लक्षणा तेन षड्विधा' इस वाक्य की समीक्षा कीजिए?

प्र.7 अभिधामूला व लक्षणामूला किस शब्द शक्ति के भेद है–

(अ) लक्षणा (ब) अभिधा

(स) व्यंजना (द) तात्पर्या

प्र.8 मम्मट के अनुसार आर्थी व्यंजना कितने प्रकार की बतायी गयी है–

(अ) दो (ब) पांच

(स) चार (द) दस

प्र.9 अभिहितान्वयवादी जिस शब्द शक्ति को मानते है, वह है–

(अ) तात्पर्या (ब) अभिधा

(स) लक्षणा (द) व्यंजना

प्र.10 व्यंजना का महत्त्व बताते हुए लक्षणामूला व्यंजना की व्याख्या कीजिए?

प्र.11 अभिधामूला व्यंजना पर एक लेख लिखिए?

प्र.12 तात्पर्यावृत्ति पर टिप्पणी लिखिए?

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र.1. अ

प्र.2. ब

प्र.3. स

प्र.4. देखिये भाग 3.3.1.1

प्र.5. देखिये भाग 3.3.1 और 3.3.1.3

प्र.6. देखिये भाग 3.3.2.1

प्र.7. स

प्र.8. द

प्र.9. अ

प्र.10. देखिये भाग 3.3.3.1

प्र.11. देखिये भाग 3.3.3.2

प्र.12. देखिये भाग 3.3.4

इकाई – 4

काव्य के दोष तथा गुण : स्वरूप विवेचन

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 काव्य के दोष

4.2.1 दोष का सामान्य लक्षण

4.2.2 दोषों की नित्यता एवं अनित्यता

4.2.3 16 शब्द दोष

4.2.3.1 सामान्य 16 शब्द दोष – पदगत एवं समासगत

4.2.3.2 सामान्य 16 शब्द दोष – वाक्यगत

4.2.3.3 पदांशगत

4.2.3.4 केवल वाक्यगत 20 दोष

4.2.4 23 अर्थदोष

4.2.5 13 रसदोष

4.3 काव्य के गुण

4.3.1 गुण का लक्षण

4.3.2 गुण एवं अलंकार

4.3.3 गुणों के भेद

4.3.3.1 वामनकृत 10 भेद

4.3.3.2 मम्मटकृत 3 भेद

4.3.4 माधुर्य

4.3.5 ओज

4.3.6 प्रसाद

4.4 सारांश

4.5 शब्दावली

4.6 बोध प्रश्न

4.7 प्रमुख उपयोगी ग्रन्थ

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

आप प्रथम प्रश्न–पत्र साहित्यशास्त्र : सिद्धान्त एवं समीक्षा की चतुर्थ इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई में आपका परिचय काव्य के दोष एवं गुणों से कराया जायेगा। इस पाठ में –

1 आप काव्य के शब्दगत दोषों का अध्ययन करेंगे।

2 आप 23 अर्थगत दोष जानेंगे।

3 आपको 13 रस दोषों का ज्ञान कराया जायेगा।

4 आप काव्य के गुणों माधुर्य, ओज एवं प्रसाद के विषय में जानेंगे।

5 आप गुण एवं अलंकार का भेद समझ सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

काव्य सौन्दर्य की विवेचना करने वाले शास्त्र के लिए भिन्न–भिन्न कालों में काव्यालंकार, काव्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र तथा क्रियाकल्प जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया। साहित्यशास्त्र के लक्षण ग्रन्थों के प्रणयन की विक्रमसंवत के पूर्व भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक लगभग 2000 वर्षों तक सुदीर्घ परम्परा पायी जाती है। इस अवधि में साहित्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय रीतिसम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, रससम्प्रदाय, अलंकारसम्प्रदाय, वक्रोक्तिसम्प्रदाय तथा औचित्यसम्प्रदाय भी विकसित हुए। सभी साहित्यशास्त्रियों ने काव्य के लक्षण, हेतु एवं प्रयोजन बताते हुए उसके विभिन्न अंगों, शब्द शक्तियाँ, काव्य के भेद, रस, गुण, दोष एवं अलंकारों की विवेचना अपने–अपने मतानुसार की।

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में 'काव्यपुरूष' की कल्पना कर उसके द्वारा विभिन्न अंगों में विभक्त काव्य विद्या का ज्ञान भिन्न–भिन्न आचार्यों को कराने का उल्लेख किया है। विश्वनाथ ने इस काव्यपुरूष के स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया है–

"काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्।"

काव्य का लक्षण करते हुए कुछ आचार्यों ने शब्द, कुछ ने शब्दार्थ तथा अन्य ने रस या ध्वनि को आधार माना।

इसी प्रकार काव्य के आत्मभूत तत्व के विषय में भी मतभेद होने से अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए। साहित्यशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों पर दीर्घकाल तक विद्वानों द्वारा इतना विवेचन और मंथन किया गया है कि दंडी की यह उक्ति सत्य ही प्रतीत होती है कि यह त्रिभुवन अंधकार में डूब जाता यदि शब्द ज्योति इसे आलोकित नहीं करती–

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते।।

सहृदयों के हृदयों को आह्लादयुक्त करने वाले काव्य को दोष दूषित एवं गुण भूषित करते है। 'दूषयति काव्यमिति दोषः' जो काव्य को दूषित करे अर्थात् उसके आत्मभूत रस का अपकर्ष या हानि करे वही दोष है, अन्यथा रस की हानि न होने पर कीटाविद्ध रत्न के समान वह काव्य ग्राह्य होता है। दोष एवं गुण दोनों ही रस में रहते हैं और रस वाच्यार्थ पर आश्रित होता है अतः दोष शब्द, अर्थ एवं रस तीनों में पाये

जाते हैं। इसी प्रकार माधुर्य, ओज तथा प्रसाद ये गुण मुख्यतया रसनिष्ठ होने पर भी गौणी वृत्ति से शब्द एवं अर्थ में भी पाये जाते हैं –

'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' (काव्य प्रकाश 8/94)

अतः प्रस्तुत इकाई में आप काव्य के शब्दगत दोष जो पद, पदांश, वाक्य में पाये जाने वाले 16 सामान्य दोष है तथा केवल वाक्य में पाये जाने वाले 20 दोष हैं, 23 अर्थ दोष एवं 13 रस दोषों का विस्तृत अध्ययन करेंगे। साथ ही काव्य के गुणों का भी स्वरूप समझेंगे।

4.2 काव्य के दोष

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'

मम्मटकृत इस काव्य–लक्षण में काव्य के विशेषणों में सर्वप्रथम शब्दार्थ की समष्टि का "अदोषौ" अर्थात् दोष रहित होना प्रथमतः आवश्यक माना है। विश्वनाथ इसका खंडन करते हुए आशंका व्यक्त करते हैं कि सर्वथा दोष रहित काव्य दुर्लभ है या विरल है, –

"काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्"।
किं चैवं सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात्।।

अतः संसार में या तो काव्य मिलना कठिन हो जायेगा, या बहुत कम मिलेगा।

इसी प्रकार "न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः" इस ध्वनि प्रधान उत्तम काव्य के उदाहरण में भी विधेयाविमर्ष दोष के रहने से काव्यत्व की हानि होगी। स्वयं विश्वनाथ ने रस के अपकर्षक दोषों को ही दोष माना है– 'रसापकर्षका दोषाः' एवं साधारण दोषों के होने पर भी काव्य में काव्यत्व उसी प्रकार स्वीकार किया है जैसे कीड़ों से खाया हुआ रत्न–रत्न ही रहता है उसी प्रकार जिस काव्य में रसादि की अनुभूति स्पष्ट रूप से हो रही है वहाँ दोष के होते हुए भी काव्यत्व की हानि नहीं होती–

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः।।

(सा.द. प्रथम परिच्छेद)

'दूषयति काव्यमिति दोषः' जो काव्य को दूषित करे वह दोष है। अतः दोष स्वरूपतः दोष न होकर रस का अपघातक होने पर ही दोष होता है, यदि वह रस को दूषित नहीं करता तो दोष नहीं है, इसी के आधार पर दोषों की नित्यता एवं अनित्यता की व्यवस्था बनती है। तथाहि – **काव्यात्मभूतस्य रसस्याऽनपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते। अन्यथा नित्यदोषानित्यदोषत्वव्यवस्थाऽपि न स्यात्।** श्रुतिकटुत्व दोष शृंगारादि कोमल रसों में कठोर वर्णों की रचना के दोषाधायक होने के कारण दोष है किंतु वीरादि दीप्त रसों में नहीं।

अब हम काव्य–दोष के सामान्य लक्षण पर विचार करेंगे कि आखिर काव्य के दोष किसे कहेंगे?

4.2.1 दोष का सामान्य लक्षण

मम्मट के अनुसार काव्य–दोष का लक्षण है–

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।।

मुख्यार्थ अर्थात् रस (न कि वाच्यार्थ) का जिससे अपकर्ष हो उसे दोष कहते हैं, अतः रस का अपकर्षजनक हेतु दोष हुआ। रस का आश्रय क्योंकि वाच्यार्थ है अतः वह भी मुख्यार्थ है– अतः उसका अपकर्षक भी दोष कहलायेगा और वह अर्थ दोष है। रस तथा वाच्यार्थ इन दोनों के बोधन में शब्दादि उपकारक होते हैं अतः उनमें रहने वाला शब्द दोष कहलाता है।

विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण के प्रथम परिच्छेद में कहा है – दोषास्तस्यापकर्षकाः।

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव, शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव, व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव, साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते।

अर्थात् काव्य के अपकर्षकों को दोष कहते हैं। जैसे काणत्व, खञ्जत्वादि दोष शरीर को दूषित करते हुए उसमें रहने वाली आत्मा को हानि पहुंचाते हैं उसी प्रकार श्रुतिदुष्टत्व काव्य के शरीरभूत शब्द एवं अपुष्टार्थत्वादि दोष अर्थ को दूषित करते हुए, उनके द्वारा काव्य के आत्मभूत रस का अपकर्ष करते हैं। जैसे मूर्खत्वादि दोष साक्षात् आत्मा का अपकर्ष करते हैं वैसे ही स्वशब्दवाच्यत्वादि दोष काव्य के आत्मभूत रस का अपकर्ष करते हैं। अतः साक्षात् या परम्परया काव्य के आत्मभूत रस के अपकर्षक ही काव्य दोष कहे जाते हैं।

अतः विश्वनाथ के अनुसार दोष का लक्षण हुआ –

'रसापकर्षका दोषाः' – (सा. द. सप्तम परिच्छेद।) रस का अपकर्ष तीन प्रकार से हो सकता है–

1. रस की प्रतीति के रूक जाने से,
2. रस की उत्कृष्टता की विघातक वस्तु के बीच में आ जाने से,
3. रसास्वाद में विलम्ब हो जाने से। अतः दोष वही है, जिसमें इनमें से कोई लक्षण मिलता हो।

4.2.2 दोषों की नित्यता एवं अनित्यता–

'दूषयति काव्यमिति दोषः' जो काव्य को दूषित करे, रस की हानि करे, वही दोष है। अतः दोष स्वरूपतः दोष न होकर रसापकर्षक होने पर ही दोष होता है। यहाँ तक कि कहीं कहीं दोष, दोष न रहकर गुण भी बन जाते हैं। ऐसे दोष अनित्य कहलाते हैं। दोषों की नित्यता एवं अनित्यता उनके रसापकर्षत्व के आधार पर होती है। च्युतसंस्कार आदि कुछ दोष सदा दोष ही रहते हैं अतः उन्हें नित्य दोष कहा जाता है। श्रुतिकटुत्वादि दोष केवल श्रृंगारादि कोमल रसों में दोष होते हैं, रौद्र, वीरादि में नहीं। यहाँ तक कि दोष गुण भी हो जाते हैं जैसे निम्न पद्य में, सन्दिग्धत्व दोष गुण हो गया है 'पृथुकार्तस्वरपात्रं' आदि विशेषणों का कौनसा अर्थ लिया जाये यह सन्दिग्ध है परन्तु दोनों अर्थ दो भिन्न स्थितियों के बोधक होकर व्याजस्तुति से राजा की निंदा को सूचित करते हैं अतः सन्दिग्धत्व दोष भी गुण हो गया है –

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममवायवोः सदनम्।।

अधिकपदत्व दोष के गुण हो जाने का उदाहरण –

वद वद जितः शत्रुर्न हतो जल्पंश्च तव तवास्मीति।

चित्र–चित्रमरोदीद्धा हेति परं मृते पुत्रे।।

यहाँ हर्ष भयादि से युक्त वक्ता के होने से अधिक पदत्व दोष भी गुण हो गया है। इसी प्रकार अन्य अनित्य दोषों की भी स्थिति होती है।

4.2.3 शब्द–दोष

विश्वनाथ ने काव्य दोष पांच प्रकार के माने हैं –

ते पुनः पञ्चधा मताः। पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत्। (सा. द. 7/1)

पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस में रहने के कारण काव्य–दोष पांच प्रकार के हैं।

मम्मट ने काव्य दोषों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है –

1. शब्द दोष – (1) सामान्य 16 दोष
   पदगत एवं समासगत,
   वाक्यगत,
   पदांशगत,
   (2) केवल वाक्यगत 20 दोष
2. अर्थ दोष – 23 भेद,
3. रस दोष – 13 भेद

4.2.3.1 सामान्य 16 दोष–पदगत एवं समासगत

दुष्टं पदं श्रुतिकटुच्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम्।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम्।।
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम्।
अविमृष्टविधेयांश विरूद्धमतिकृत् समासगतमेव।।

(का.प्र. 7/50–51)

पदगत एवं समासगत दोनों		केवल समासगत	
1.	श्रुतिकटु अथवा दुःश्रवत्व	14.	क्लिष्ट
2.	च्युत संस्कार	15.	अविमृष्टविधेयांश
3.	अप्रयुक्त	16.	विरूद्धमतिकृत
4.	असमर्थ		
5.	निहतार्थ		
6.	अनुचितार्थ		
7.	निरर्थक		
8.	अवाचक		

9. तीन प्रकार का अश्लील

10. सन्दिग्ध

11. अप्रतीत

12. ग्राम्य

13. नेयार्थ

ये 16 सामान्य शब्द दोष पद एवं समास, पदांश तथा वाक्य तीनों में पाये जाते हैं। इनसे भिन्न प्रतिकूलवर्णता आदि 21 दोष केवल वाक्य में ही होते हैं। क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश तथा विरूद्धमतिकृत ये तीन शब्द दोष केवल समासगत होते हैं शेष 13 पद एवं समास दोनों में पाये जाते हैं इसमें से ही कुछ दोष पदांश एवं वाक्य में भी पाये जाते हैं। अब हम इन्हें विस्तार से उदाहरण सहित समझेंगे।

1. श्रुतिकटु अथवा दुःश्रवत्व –

'श्रुतिकटु परूषवर्णरूपं दुष्टम्'

दुःश्रवया श्रुतिकटु उस पद को कहते हैं जो कठोरवर्ण रूप होने से दुष्ट हो अथवा कानों में खटके। दुःश्रवत्व दोष शब्द को दूषित करते हुए श्रृंङ्गारादि कोमल रसों का अपकर्ष करता है अतः उनमें यह दोष माना जाता है। वीर, रौद्रादि उग्र रस में यह गुण बन जाता है।

उदा. – **अनङ्.गमङ्.गलगृहापाङ्.गभङ्ि.गतरङ्ि.गतैः।**
आलिङ्ि.गतः स तन्वङ्.गया कातार्थ्यं लभते कदा।।

यहाँ 'कातार्थ्य' पद त् थ् र् के संयोग से कठोर होकर श्रृंगार रस में श्रुतिकटुत्व दोष का कारण बन रहा है। अतः पदगत शब्द दोष है।

सा दूरे च सुधासान्द्रतरङ्िगत विलोचना।
बर्हिनिर्ह्लदनार्होऽयं कालश्च समुपागतः।।

इस पद्य में 'बहिनिर्ह्रादनार्ह' यह समस्त पद श्रुतिकटु है। यह समस्तगत शब्ददोष का उदाहरण है।

2. च्युत संस्कार– च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम्

जो पद व्याकरण के नियम के अनुकूल न हो उसमें यह दोष पाया जाता है। यह दोष नित्यदोष है सदैव रस का अपकर्ष करने वाला है।

जैसे ..... **दीनत्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः।।**

इस पद्य में याचना के अर्थ में 'अनुनाथते' पद का प्रयोग किया गया है जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। 'आशिषि नाथः' इस सूत्र से आशीः अर्थ में नाथ् धातु आत्मनेपदी होती है याचना के अर्थ में नहीं। अतः यह च्युतसंस्कार दोष का उदाहरण है। दोष का परिहार 'अनुनाथति स्तनयुगं' इस पाठ से हो सकता है।

3. **अप्रयुक्त – 'तथाऽऽम्नातमपि कविभिनाद्दतम्'** व्याकरण कोषादि में उस रूप से प्रसिद्ध होने पर भी कवियों द्वारा जिसे न अपनाया गया हो ऐसे शब्द का प्रयोग अप्रयुक्तत्व दोष है। जैसे 'देवतानि पुंसि वा' इस प्रकार अमरकोष में पठित दैवत शब्द विकल्प से पुल्लिङ्ग होता है किंतु किसी महाकवि द्वारा इसका उपयोग पुल्लिङ्ग नही किया गया है अतः **'.... तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथवा'** इस पद में अप्रयुक्तत्व दोष है।

4. **असमर्थ – 'असमर्थ यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्ति शक्तिः'** – अर्थात् व्याकरण कोशादि में पठित होने पर भी उस अर्थ में शक्ति का न होना असमर्थ दोष है क्योंकि वहां शक्तिग्रह किसी अन्य उपपद के सहायक होने पर ही होता है। जैसे 'हन् हिंसागत्यों' सूत्र से हन् का अर्थ गति भी है किंतु यह अर्थ उपसंदानोपजीवी है जैसे पद्धति, जंघादि शब्दों में हन् धातु गति अर्थ का बोधक उनके सहयोग से होता है।

'सुरस्त्रोतास्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्' इस उदाहरण में हन् धातु गमन अर्थ का बोध कराने में असमर्थ है, अतः हन्ति इस पद में असमर्थ नामक दोष है।

5. **निहतार्थ – निहतार्थत्वमुभयार्थस्य शब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः :–** जब प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों अर्थों के वाचक शब्द का प्रयोग अप्रसिद्ध अर्थ में किया जाता है तो वहां निहतार्थ दोष होता है जैसे 'यमुनाशम्बरं व्यतानीत्' इस उदाहरण में शम्बर शब्द जल अर्थ में आया है। यद्यपि 'नीरक्षीराम्बुशम्बरम्' – इस कोष में शम्बर का अर्थ जल भी है किंतु इसका प्रयोग शम्बर असुर के लिये ही प्रसिद्ध है अतः यहां अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग होने से निहतार्थ दोष है।

अप्रयुक्तत्व दोष एकार्थक शब्द में पाया जाता है जबकि निहतार्थ अनेकार्थक शब्द में।

6. **अनुचितार्थ – 'शूरा अमरतां यान्ति पशुभूता रणाध्वरे'** – रणरूप यज्ञ में पशुभूत शूरलोग अमरत्व को प्राप्त होते हैं। यज्ञ में पशु के समान मरना कायरता है अतः 'पशुभूता शूरा' में शूरों में पशु की समानता दिखलाना अनुचितार्थ दोष है।

7. **निरर्थक – 'निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजन चादिपदम्'** केवल पादपूर्ति हेतु प्रयुक्त च आदि पद निरर्थक होते हैं। यथा –

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरधुते! मम हि गौरि।
यहाँ हि शब्द केवल पादपूर्ति हेतु प्रयुक्त हुआ है।

8. **अवाचक – 'यच्चोपसर्गसंसगादर्थान्तर गतम्'** अर्थात् जो उपसर्ग के सम्बन्ध से अन्य अर्थ का बोधक हो जाता है वह अवाचक पद होता है – **गीतेषु कर्णमादत्ते** – अर्थात् गीतों पर कान देने की बात कही है।

आङ्.पूर्वक 'दा' धातु का अर्थ लेना है देना नहीं अतः 'आदत्ते' पद में अवाचकत्व दोष है।

9. **तीन प्रकार का अश्लीलत्व –** जो असभ्य अर्थ का व्यंजन करे उसे अश्लील कहते हैं। व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमग्ड.ल का व्यंजक होने से अश्लीलत्व तीन प्रकार का होता है – **'त्रिधेति व्रीडाजुगुप्सामग्ड.लव्यंजनकत्वाद्** (का.प्र. 7/9)

लज्जा का उदाहरण – दृप्तारिविजये राजन् साधनं सुमहत्तव – यहां 'साधन' शब्द से लिंगरूप लज्जाजनक अर्थ व्यड्.य है।

जुगुप्सा – 'प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ते तदा' अर्थात् हे तन्वि, तब तुम्हारे विनाश के समय वायु धीरे से चली। यहां वायु शब्द अपानवायु का व्यंजक होने से घृणा का उदाहरण है।

अमड्.गल – विनाश शब्द से अमड्.गल व्यंजित हो रहा है अतः यह तीसरे प्रकार का अश्लीलत्व का उदाहरण है।

10. **सन्दिग्ध –** जहाँ किसी पद का कौनसा रूप है इस विषय में सन्देह हो वहाँ सन्दिग्ध नामक शब्द दोष होता है जैसे –

आलिङ्.गतस्तत्रभवान् सम्पराये जयश्रिया।
आशीः परम्परां वद्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरू।।

इस पद्य में 'वन्द्यां' पद स्त्रीलिंग बन्दी शब्द का सप्तमी एकवचन का रूप है या स्त्रीलिंग वन्द्या शब्द द्वितीया विभक्ति इस विषय में सन्देह होने से सन्दिग्धत्व दोष है।

11. **अप्रतीत – 'अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम्'** जो शब्द किसी विशेष शास्त्र में प्रसिद्ध है अर्थात् उसका पारिभाषिक शब्द है उसे साधारण रूप में प्रयोग करना अप्रतीत दोष है। जैसे

सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः।
विधीयमानमप्येतन्न भवेत्कर्मबन्धनम्।।

तत्वज्ञान अर्थात् – आत्मज्ञान की महाज्योति से जिसके कर्मसंस्कारों का नाश हो गया है उस जीवन्मुक्त पुरूष के द्वारा किये जाने वाले कर्म उसके बंधन का कारण नहीं होते। यहां 'आशय' शब्द जो वासना या संस्कार अर्थ में योगशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है **(आशेरते फलपर्यन्तमिति आशयाः कर्मसंस्काराः)** का साधारण रूप में प्रयोग किया गया है अतः अप्रतीत नामक शब्द दोष है।

12. **ग्राम्यं – ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम्।** जो शब्द केवल लोक में पाये जाते हैं और चतुर पुरूषों में व्यवहृत नहीं होते वे ग्राम्य कहे जाते हैं जैसे – 'कटिस्ते हरते मनः' – इसमें कटि शब्द ग्राम्य है – श्रोणि, नितम्ब आदि नागर शब्द हैं।

13. **नेयार्थ –**

निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादाभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः।

कुछ लक्षणाएं रूढ होती है जो वाचक शब्द के समान ही सामर्थ्य से अर्थ का

बोध कराती है कुछ प्रयोजनवश, किंतु जहां लक्षणा के इन दोनो हेतुओं के न होने पर भी कवि स्वेच्छापूर्वक लक्षणा करे तो वह दूषित होती है और यह नेयार्थ दोष कहलाता है। उदाहरणतः **'कमले चरणाघातं मुखं सुमुखि तेऽकरोत्'** – हे सुमुखि, तुम्हारे मुख ने कमल में लात मारी। यहाँ चरणाघात का लक्ष्यार्थ जीत लेना है। लात मारने के लिये लात होना आवश्यक है मुख में लात नहीं होती है अतः यहाँ मुख्यार्थ बाधित होकर 'जीत लेना' यह लक्ष्यार्थ निकलता है किंतु उसका रूढ़ि या प्रयोजन में से कोई हेतु नहीं है। अतः यह नेयार्थ दोष है।

श्रुतिकटु से लेकर नेयार्थ तक के 13 दोष पदगत एवं समासगत दोनों होते हैं किंतु क्लिष्ट अमृष्टविधेयांश, विरूद्धमतिकृत् ये तीन शब्द दोष, पदसमुदाय या वाक्य में ही पाये जाते हैं।

14. **क्लिष्ट – क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता** – अर्थात् – जहाँ अर्थ की प्रतीति साक्षात् न होकर व्यवधानयुक्त होती है वहाँ क्लिष्टत्व दोष पाया जाता है – जैसे क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः– यहां केवल जल की स्वच्छता बतानी है किंतु उसे क्षीरोद अर्थात् क्षीरसागर, उसकी कन्या क्षीरोदजा अर्थात् लक्ष्मी उसकी वसति कमल और उसकी जन्मभूमि अर्थात जल प्रसन्न हुआ कहकर अर्थ में क्लिष्टता उत्पन्न कर दी।

15. **अमृष्टविधेयांश अथवा विधेयाविमर्श**
'अमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशां यत्र तत्।'

जहाँ विधेयांश की प्राधान्यता निर्दिष्ट न हो वहाँ अमृष्टविधोयांश नामक शब्द दोष होता है। जब विधेयांश को समास में डाल दिया जाता है तो उसकी प्राधान्यता नष्ट हो जाती है क्योंकि समास में कभी पूर्व पद प्रधान होता है तो कभी उत्तर पद और कहीं अन्य पद। प्रत्येक वााक्य में विधेय का निर्देश प्रधानता से होना चाहिये जैसे –

'रक्षांस्यपि पुरः स्थातुमलं रामानुजस्य मे' – मैं रामानुज हूँ क्या मेरे सामने राक्षस ठहर सकेंगे – यहाँ वक्ता को राम के संबंध से अपनी विशेषता बतानी है किंतु रामानुज' इस समस्त पद का अंश होने से राम पद की प्रधानता दब गई है अतः यहां अविमृष्टविधेयांशत दोष है। अन्य उदाहरण जैसे **'यत्र ते पतति सुभ्रु कटाक्ष षष्ठबाण इव पञ्चशरस्य'** इस वाक्य में षष्ठत्व उत्प्रेक्ष्य है। और वही विधेय है, किंतु समास का अंश होने से वह अप्रधान हो गया है। 'षष्ठ इव' यह असमस्त प्रयोग होना चाहिये था।

अमुक्ता भवता नाथ मुहूर्तमपि सा पुरा – इस उदाहरण में अमुक्ता का अ नञ् प्रसज्यप्रतिषेधक है, जो विधेय होता है अतः उसे समास में न रखकर न मुक्ता ऐसा पृथक पद रखना चाहिये। प्रसज्यप्रतिषेध में सीधा निषेध होता है जैसे 'न गच्छेत्' और यह क्रिया से सम्बद्ध होता है अतः इसका समास नहीं होता।

समास करने से निषेध की प्रधानता की प्रतीति नहीं होती। अमुक्ता इत्यादि पद्य में निषेध ही विधेय है अतः 'न' के साथ समास नहीं होना चाहिये। यही अविमृष्ट विधेयांश दोष है।

पर्युसदास नञ् में तद्भिन्नतत्सदृश पदार्थ का बोध होता है जैसे 'अब्राह्मणः। अब्राह्मण से ब्राह्मण जाति से भिन्न व्यक्ति किंतु उसके समान हाथ पैर वाले मनुष्य का बोध होता है। इसमे नञ् उत्तरपद के साथ सम्बद्ध होता है अतः इसमें निषेध की अप्रधानता एवं उत्तरपद की प्रधानता है। यहां निषेध विधेय नहीं है। अतः जहां प्रतिषेध प्रधान है फिर भी पर्युदास अर्थात् समासगत नञ् का प्रयेाग होता है तो वह अविमृष्ट विधेयांश दोष होता है।

प्रसज्यप्रतिषेध नञ् का लक्षण –

अप्राधान्य विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्य प्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्।।

पर्युदास नञ् का लक्षण –

प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।।

16. विरूद्धमतिकृत – जो पद विरूद्धमति पैदा करता है वहां विरूद्धमतिकृत दोष होता है – जैसे – 'भूतयेऽस्तु भवानीशः' –

भवानी का अर्थ भव की पत्नी पार्वती है अतः नवानीश शब्द से पार्वती का कोई दूसरा पति प्रतीत होता है अतः यहां विरूद्धमतिकृत दोष है।

चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः।
कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहः।

यहां 'गलग्रह' पद गला दबोचना जैसे अन्ष्टि अर्थों की प्रतीति कराता है गलग्रहः के स्थान पर कण्ठग्रह कहना चाहिये था।

गोरपि यद्वाहनतां प्राप्तवतः सोऽपि गिरिसुतासिंहः
सविधे निरङ्कारः पायाद्वः सोऽम्बिकारमणः।

इस पद्य में 'अम्बिकारमणः' माता के साथ रमणकरने वाला आदि रूप अर्थ से विरूद्धमति को उत्पन्न करता है।

4.2.3.2 सामान्य 16 शब्द दोष–वाक्यगत

पदगत एवं समासगत जिन 16 सामान्य शब्द दोषों का उल्लेख किया गया है उनमें से च्युत संस्कार, असमर्थ और निरर्थक ये तीन सामान्य दोष वाक्य में नहीं पाये जाते। श्रुतिकटुत्वादि शेष पदगत सजातीय 13 दोष वाक्य में भी पाये जाते हैं। इनमें से कुछ पदांश में भी पाये जाते हैं –

अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्।

वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन।।

(का प्र. 7/73)

क्रमशः उदाहरण – दिये जायेंगे

1. **वाक्यगत श्रुतिकटु**

'स्मरार्त्यन्धः कदा लप्स्ये कार्ताथ्य विरहे तव', स्मरार्ति, कार्ताथ्य, लप्स्ये इन अनेक पदों में रेफ और महाप्राण वर्णों का संयोग होने से वाक्यगत श्रुतिकटु दोष है।

2. **वाक्यगत अप्रयुक्तत्व –**

स रातु वो दुश्च्यवनो भावुकानां परम्पराम्।
अनेडमूमताद्यैश्च द्यतु दोषैरसम्मतान्।।

(का. प्र. 7/73)

इस पद्य में इन्द्र अर्थ में प्रयुक्त पद 'दुःच्यवन' तथा गूंगा–बहिरापन अर्थ में प्रयुक्त अनेडमूक अप्रयुक्त है।

3. **वाक्यगत निहतार्थत्व –**

सायकसहायबाहोर्मकरध्वजनियमितक्षमाधिपतेः।
अब्जरूचिभास्वरस्तेभातितरामवनिपश्लोकः।।

यहाँ सायक, मकरध्वज, क्षमा, अब्ज और श्लोक शब्दों का प्रयोग क्रमशः खड्ग, समुद्र, पृथिवी, चन्द्रमा और यश के अर्थ में हुआ जबकि इनके लोकप्रसिद्ध अर्थ बाण, कामदेव, सहन करना, कमल और पद्य है अतः वाक्यगत निहतार्थ दोष है।

4. **वाक्यगत अनुचितार्थ –**

कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राममभितो....

(का. प्र. 7/73)

इस उदाहरण में राजा की स्तुति करते हुए कुविन्द पटयसि आदि शब्दों का जो अन्यार्थ जुलाहादि निकलता है उससे स्तूयमान राजा का तिरस्कार सूचित होता है। अतः यह वाक्यगत अनुचितार्थ का उदाहरणार्थ है।

5. **वाक्यगत अवाचकत्व –**

प्राभ्रभाड्विष्णुधाममाप्य विषमाश्वः करोत्ययम्।
निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणाम्।।

यहां प्राभ्रभाड़, विष्णुधाम, विषमाश्व, निद्रा, पर्ण शब्द क्रमशः प्रकृष्टमेघ, आकाश, सूर्य, संकोच तथा दल अर्थों के लिये प्रयुक्त जो कि साक्षात् रूप से उनके वाचक नहीं है अतः अवाचकत्व दोष है।

6. **वाक्यगत अश्लीलत्व –**

वाक्यगत अश्लीलत्व व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमङ्गल के भेद से त्रिविध होता है। क्रमशः उदाहरण देते हैं।

भूपतेरूपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना।
तत्तत्प्रहरणोत्साहवती मोहनमादधौ।।

यहाँ उपसर्पण, प्रहरण, और मोहन शब्द व्रीडाजनक होने से अश्लील हैं।

तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति परोत्सर्गञ्च भुञ्जते।
इतरार्थग्रहे येषां कवीनां स्यात्प्रवर्तनम्।।

इस पद्य में वान्त, उत्सर्ग एवं प्रवर्तन शब्द जुगुप्सा की प्रतीति कराने से अश्लील हैं।

पितृवसतेमहं व्रजामि तां सह परिवारजनेन यत्र मे .....

इस उदाहरण में पितृवसति का अर्थ पितृगृह एवं शमशान होने से अमंगलजनक अश्लीलता है।

7. **वाक्यगत सन्दिग्धत्व –**

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनः।
मार्गणप्रवणो भास्वद् भूतिरेष विलोक्यताम्।।

इस पद्य के राजापरक एवं भिक्षुकपरक दो अर्थ निकलते हैं किंतु कौन सा अर्थ विवक्षित है यह निर्णय न होने से वाक्यगत सन्दिग्धत्व दोष है।

8. **वाक्यगत अप्रतीतत्व –**

तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगताजुषः।
दृढ़भूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः स फलितः सखे।।

यहाँ अधिमात्रोपाय, तीव्रसंवेग और दृढ़भूरि योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं योगदर्शन के अध्येता को ही उन शब्दों का अर्थज्ञान हो सकता है अतः उनका साधारण प्रयोग करने से वाक्यगत अप्रतीतत्व दोष है।

9. **वाक्यगत ग्राम्यत्व –**

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा–तथा।।

इसमें गल्ल भल्ल, खादन आदि अनेक शब्द ग्राम्य हैं।

10. **वाक्यगत नेयार्थता दोष –**

वस्त्रवैदूर्यचरणैः क्षतसत्वरजःपरा।
निष्कम्पा रचिता नेत्रयुद्धं वेदय साम्प्रतम्।।

यहां वस्त्र वैदूर्य (अम्बरमणि) की किरणों से निष्कम्पा (पृथ्वी) का क्षतसत्वरजः परा (अंधकार नष्ट हो गया है) अतः नेत्रयुद्ध वेदय (आंखें खोलो) यह अर्थ लक्षणा के उचित हेतुओं के बिना निकलता है अतः वाक्यगत नेयार्थता दोष है।

11. **वाक्यगत क्लिष्टता –**

धम्मिलस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः।
रज्जयत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम्।।

इस पद्य में जिसकी बन्धव्युत्पत्ति अर्थात् गूंथने की कला अद्भुत है उस धाम्मिल की शोभा देखकर किसका मन अनुरक्त नहीं होता यह अर्थ जो पद दूर–दूर है उनका अन्वय करने से होता है अतः वाक्यगत क्लिष्टत्व दोष है।

12. **वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश –**

न्यक्कारो ह्यमेव में यदरयस्तत्राप्यसौ तापस .....

इस पद्य में 'न्यक्कार' विधेय है और 'अयम्' उद्देश्य है। 'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' इस नियम के अनुसार वाक्य में पहले उद्देश्य बाद में विधेय का प्रयोग होना चाहिये। किंतु यहाँ इसका विपरीत है अतः यह वाक्यगत अविमृष्ट विधेयांश दोष है क्योंकि पहले विधेय का कथन करने पर उसकी प्रधानता नहीं रहती।

13. **वाक्यगत विरूद्धमतिकृत्**

श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवालिङ्गितमूर्तयः।
विग्रहक्षपणेनाद्य शेरते ते गतासुखाः।।

इस पद्य में क्षमादि गुणों से युक्त राजा सुखपूर्वक सोते हैं यह अर्थ विवक्षित है किंतु 'श्रितक्षमाः, शिवालिङ्गत मूर्तयः' आदि पदों से मारे गये राजा दुःखों से मुक्त होकर सो रहे हैं यह विरूद्ध प्रतीति भी होती है अतः वाक्यगत विरूद्धमतिकृत दोष हैं।

इस प्रकार पद एवं समास के समान ही ये सामान्य दोष वाक्यों में भी पाये जाते हैं।

4.2.3.3 16 सामान्य शब्द दोष – पदांशगत

ऊपर विवेचित 16 शब्द दोषों में से पदांशों में कुछ ही दोष पाये जाते हैं –

पदस्यांशेऽपि केचन – का. प्र. 7/73

1. **पदांशगत श्रुतिकटु –**

तद् गच्छ सिद्ध्यै कुरू देवकार्यम् ..... इस उदाहरण में 'सिद्ध्यै' पद का ध्यै पदांश श्रुतिकटु है।

2. **पदांशगत निहतार्थ –**

'धातुमत्तां गिरिर्धरन्ते' इसमें धातुमत्ता पद का अंश मत्ता शब्द प्रमत्त स्त्री के अर्थ में प्रसिद्ध है किंतु यहां उसका तद्वत्ता इस अप्रसिद्ध अर्थ प्रयोग है अतः पदांश में निहतार्थ दोष है।

3. **पदांशगत निरर्थकत्व –**

प्रोत्सर्पद्विरहानलेन च ततः सन्तापितानां दृशाम् ..... यहां एक ही कुरङ्गेक्षणा का ग्रहग होने से 'दृशां' यह बहुवचन निरर्थक है।

4. पदांशगत अवाचकत्व –

'वर्ण्यते किं महासेनो विजेयो यस्य तारक' इसमें 'विजेयः' पद में वत्त प्रत्यय के अर्थ में यत् प्रत्यय का प्रयोग किया गया हैं अतः पदांशगत अवाचकत्व दोष है।

5. पदांशगत अश्लीलत्व –

'पाणिः पल्लवपेलवः' इसमें पेलव पद का अंश पेल व्रीडाजनक है अतः अश्लीलत्व दोष है

6. पदांशगतसंदिग्धत्व –

कस्मिन्कर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्तपतेतराम्।
अयं साधुचरस्तस्मादञ्जलिर्बध्यतामिह।।

इसमें स्राधु शब्द से भूतपूर्वे चरट् से चरट् प्रत्यय होकर पहले साधु अर्थ है या साधुषु चरतीति साधुचरः साधुओं में रहता है यह अर्थ है यह सन्देह होने पर पदांशगतसन्दिग्ध दोष है।

7. पदांशगत नेयार्थकत्व –

'संग्रामे निहताः शूरा वचोबाणत्वमागताः'

इसमें वचः शब्द से गीः शब्द लक्षित होता है। किंतु इस लक्षणा में रूढ़ि या प्रयोजन कोई हेतु न होने से नेयार्थत्व दोष पाया जाता है।

असमर्थत्व तथा च्युतसंस्कार जैसे दोष पदांश में संभव नहीं है।

4.2.3.4 केवल वाक्यगत 20 दोष

पूर्व में विवेचित श्रुतिकटु आदि 16 सामान्य शब्द दोष भिन्न प्रकार के थे जो पद समास, पदांश एवं वाक्यों में पाये जाते हैं। प्रतिकूलवर्णता आदि 20 दोष केवल वाक्यों में ही पाये जाते हैं और ये उन 16 सामान्य दोषों से भिन्न हैं।

1.	प्रतिकूलवर्णता	11.	अभवन्मतसम्बन्ध
2.	उपहतविसर्गता	12.	अनभिहितवाच्यता
3.	विसंधि	13.	अस्थानपदता
4.	हतवृत्तता	14.	अस्थानसमासता
5.	न्यूनपदता	15.	सङ्कीर्णता
6.	अधिकपदता	16.	गर्भितता
7.	कथितपदता	17.	प्रसिद्धिविरोध
8.	पतत्प्रकर्षता	18.	भग्नक्रमता
9.	समाप्तपुनरात्तता	19.	अक्रमता
10.	अर्धान्तरैकपदता	20.	अमतपरार्थता

प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम्।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम्।।
अर्थान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम्।
अपदस्थपदसमासं सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम्।।
भग्नप्रक्रममक्रममममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा।।

(का.प्र. 7/74)

विश्वनाथ ने लुप्तविसर्गत्व और सन्ध्यश्लीलत्व नामक दो अलग दोष मानते हुए 23 वाक्यदोष दिखाये हैं – सा.द. 7, 5–8

1. **प्रतिकूलवर्णता** – जिस रस में जिन वर्णों का प्रयोग कहा गया है उसके विपरीत वर्णों का प्रयोग प्रतिकूलवर्णता है। कोमल रस में कठोर और प्रदीप्त रस में कोमल वर्णों का प्रयोग करने से प्रतिकूलवर्णत्व दोष होता है। श्रृंगाररस में टवर्ग का प्रयोग वर्जित है जैसा कि इस उदाहरण में हैं–

   अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठिमाम् .....

   अतः प्रतिकूलवर्णता दोष है।

2. **उपहतविसर्गता** – जहाँ विसर्ग ओ–रूपता को प्राप्त हो जाय या लुप्त हो जाय वहाँ उपहतविसर्गता दोष होता है। विश्वनाथ ने इन दोनों दोषों को भिन्न माना है। मम्मट ने एक श्लोक में ही दोनों का उदाहरण सिद्ध किया है।

   धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः।
   यस्य भृत्या वलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविताः।।

   पूर्वार्थ में विसर्ग की ओरूपता धीरो, विनीतो, आदि पदों में और उत्तरार्ध में भृत्या वलोत्सिक्ता आदि में विसर्ग का लोप रूप उपहतविसर्गता नामक दोष पाये गये हैं।

3. **विसन्धि**

   सन्धि स्थल में सन्धि का न होना विसन्धि दोष है जो तीन प्रकार का है संधिविश्लेष, संध्यश्लीलत्व तथा संधिकष्टत्वा। विश्वनाथ ने इन्हें भिन्न–भिन्न तीन दोष माना है।

   'दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गते' यहाँ प्रगहयादि के कारण अनेक बार संधिभङ्ग होने से संधिविश्लेष है। राजन् ! विभान्ति भवतश्चरितानि तानि इन्दो..

   यहां 'तानि इन्दो' में दीर्घ संधि छंद भंग के कारण नहीं की गई अतः संधि विश्लेष दोष है। 'चलण्डाभरचेष्टितः' में संध्यश्लीलत्व दोष है 'उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्वव स्थितिः' इस उदाहरण में संधि के कारण कष्टत्व स्पष्ट है।

4. **हतवृत्त** – हतवृत्त तीन प्रकार के हैं –

1. जो छन्द लक्षण के अनुसार है किंतु सुनने में बुरा लगने वाला है,

2. अंत लघु जिसमें गुरूभाव को प्राप्त नहीं होता हो,

3. जो छंद रस के विपरीत हो।

जैसे – वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादर्शनच्छेदात् इसमें लक्षण के अनुसार हरिणी छंद होने पर भी यदिहान्यत् स्वादुः स्यात् अश्रव्य है–

विकस्तितसहकार भारहारि, परिमल यह पुष्पिताग्रा का उदाहरण होने से अंतिम वर्ण हारि का रि गुरू होना चाहिये था अतः यहाँ अप्राप्त गुरूभावान्तलघु दोष है।

'हन्त सततमेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कुपितः'।
अयि मयि मानिनि मा कुरू मानम्।

यह छन्द हास्य रस के अनुरूप है न कि श्रृंगार के। अतः यह हतवृत्तता दोष है।

5. **न्यूनपदता** – 'यदि मय्यर्पिता दृष्टिः, किं ममेन्द्रतया तदा' – इसमें प्रथम चरण में 'त्वया' पद न्यून है।

6. **अधिकपदता** – 'वाचमुवाच कौत्सः' यहां वाचम् अधिक है, उवाच ही पर्याप्त है। उवाच मधुरां वाचम् इसमें वाणी का विशेषण होने से अधिक दोष नहीं है।

7. **कथितपदता** – 'जक्षुर्बिसं धृतविकासिबिसप्रसूनाः' 'बिस' शब्द की पुनरूक्ति होने से कथितपदता दोष है, दूसरी बार सर्वनाम का प्रयोग होना चाहिये।

8. **पतत्प्रकर्षता** –

'प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वाला' विकटोरूसटाच्छटः
श्वासक्षिप्तकुलक्ष्मामृत्पातु वो नर केसरी।।

यहाँ अनुप्रास क्रमश गिरता हुआ अंत में बिल्कुल गिर गया है अतः पतत्प्रकर्षता दोष है।

9. **समाप्तपुनरात्तता** –

'नाशयन्तो धनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः।
पतन्ति शशिनः पादां भासयन्तः क्षमातलम्।

तीसरे चरण 'पतन्ति शशिनः पादां' से वाक्य की समाप्ति हो जाने पर चतुर्थ चरण में फिर एक विशेषण लाया गया है। अतः समाप्तपुनराप्तता दोष है।

10. **अर्धान्तरैकपदता**

'इन्दुर्विभाति कर्पूरगौरैर्धवलयन्करैः।
जगन्मा कुरू तन्वङ्ि.ग मानं पादानते प्रिये।।

इसमें जगत् का सम्बन्ध पूर्वार्ध के साथ है उसके उत्तरार्ध में चले जाने से अर्धान्तरैकपदता दोष है।

11. **अभवन्मतसम्बन्ध** – जहां कवि का अभिमत संबंध अर्थात् अन्वय न बन सके वहां अभवन्मतसम्बन्ध दोष होता है –

ज्योत्स्नाचयः पयःपूरस्तारकाः कैरवाणि च।
राजति व्योमकासारराजहंसः सुधाकरः।।

यहां आकाश रूप कासार (तालाब) का सम्बन्ध चंद्रिका रूप जल और तारों रूप कुमुदों के साथ कवि को अभिमत हैं किंतु उसका राजहंस के साथ समास होने से उतने अंश का उक्त पदों के साथ सम्बन्ध असम्भव है अतः अभवन्मत सम्बन्ध दोष है।

12. **अनभिहितवाच्यता** –

'व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्य वामाक्षिकुप्यसि' यहाँ व्यतिक्रमलवमपि अपि शब्द अवश्य कहना चाहिये था। इस दोष में अपि जैसे द्योतक शब्दों का अनभिधान होता है।

13. **अस्थानस्थपदता** – अनुचित स्थान में किसी पद को रखने से अस्थानस्थपदत्व दोष होता है।

उदाहरण – 'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्.गा' इसमें 'तदीय' शब्द में तत्पद से गङ्.गा का परामर्श किया है, अतः उससे पूर्व गङ्.गा पद को अवश्य आ जाना चाहिए, क्योंकि सर्वनाम से पूर्व का परामर्श होता है।

14. **अस्थानसमासता** –

अद्यापि स्तनशैलदुर्गाविषमे सीमन्तिनीनां हृदि।
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः।।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्।
फुल्लत्कैरवकोशनिःसरदलिश्रेणी कृपाणं शशी।।

इस पद्य में प्रथम दो चरणों में क्रोधी चन्द्रमा की उक्ति में समास नहीं किया और अंतिम चरण में कार्य की उक्ति में किया है अतः अस्थानस्थ समास का उदाहरण है।

15. **सङ्.कीर्णता** – जहाँ एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में घुस जाते हैं। जैसे 'चन्द्रं मुञ्च कुरङ्.गा पश्य मानं नभोऽङ्.ग' इसमें प्रथम वाक्य का पश्य शब्द दूसरे वाक्य में घुस गया है और द्वितीय वाक्य का मानं शब्द का सम्बन्ध है मुञ्च से है वह प्रथम वाक्य में घुस गया है अतः संङ्.कीर्णत्व दोष है।

16. **गर्भितता** – एक वाक्य में यदि दूसरा वाक्य घुस जाये तो गर्भितत्व दोष होता है। जैसे –

'रमणे चरणप्रान्ते प्रणति प्रवणेऽधुना।
वदामि सखि ते तत्त्वं कदाचिन्नोचिताः क्रुधः।।

यहाँ 'वदामि सखि ते तत्त्वम्' यह वाक्यान्तर बीच में घुस आया है अतः गर्भितता दोष है।

17. **प्रसिद्धिविरोध** – कविसमय या कविप्रसिद्धि का उल्लङ्घन होने पर प्रसिद्धि विरोध नामक दोष होता है। जैसे मेघों के शब्द को 'रव' नहीं कहते गर्जित, स्तनित कहते हैं किन्तु 'घोरो वारिमुचां रवः' मेघ के गर्जन को रव कहा है अतः प्रसिद्धिविरोध नामक दोष है।

18. **भग्नक्रमता** – जिसका जिस क्रम से प्रारम्भ किया है उसका अन्त भी उसी क्रम से होना चाहिये, क्रम भंग होने पर भग्नक्रमता दोष होता है जैसे 'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत' यहाँ 'उक्तः' से क्रम प्रारम्भ किया है अतः अंत भी उससे ही होना चाहिये किंतु प्रतिवचन में भाष् धातु का प्रयोग होने से भग्नक्रमता दोष है।

19. **अक्रमता** –

समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्
शरदि हंसरवाः परूषीकृत स्वर मयूरमयूररमणीयताम्।

इस पद्य में 'समय एव करोति बलाबलं' यह परामृश्यमान वाक्य है इसका सम्बन्ध इति से है अतः इसके बाद इति आना चाहिये था न प्रणिगदन्त के बाद। अतः अक्रमता दोष है।

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।।

इसमें त्वं के बाद च आना चाहिये था अतः अक्रमता दोष हैं।

20. **अमतपरार्थता** – जहाँ कोई अनिष्ट अन्य अर्थ प्रतीत होता है वहाँ यह दोष होता है यथा 'राममन्मथशरेण ताडिता' यहाँ श्रृंगार रस है किंतु वह प्रकृत वीभत्स रस का विरोधी होने से अनिष्ट है।

इस प्रकार आपने शब्द दोष समझे जो 16 सामान्य दोष (श्रुतिकटु आदि) पद, पदांश और वाक्य तीनों से रहने वाले तथा प्रतिकूलवर्णतादि 20 दोष केवल वाक्य में रहने वाले हैं।

4.2.4 23 अर्थ–दोष

अथोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरूक्तदुष्क्रमग्राम्याः
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरूद्धश्च।
अनीवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेष परिवृताः
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरूद्धः।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः

(का.प्र. 7/75)

अर्थ दोष

1. अपुष्ट
17. अपदयुक्तता

2. कष्ट
3. व्याहत
4. पुनरूक्त
5. दुष्क्रम
6. ग्राम्य
7. सन्दिग्ध
8. निर्हेतु
9. प्रसिद्धिविरूद्ध
10. विद्याविरूद्ध
11. अनवीकृत
12. नियम में अनियम
13. अनियम में नियम
14. विशेष में अविशेष
15. अविशेष में विशेषरूप परिवृत
16. साकाङ्क्षता
18. सहचरभिन्नता
19. प्रकाशितविरूद्धता
20. विध्ययुक्तत्व
21. अनुवादायुक्तत्व
22. त्यक्त पुनः स्वीकृत
23. अश्लील

ये 23 प्रकार के अर्थ दोष हैं और इसका सम्बन्ध अनुवृत्ति या आक्षेप से बाद में होता है। क्रमशः उदाहरण से समझाते हैं ।

1. **अपुष्ट** – यदि किन्ही विशेषणों का ग्रहण करने पर भी अर्थ में बाधा उपस्थित न हो तो उनका उपयोग न होने से वहाँ अपुष्टार्थ दोष होता है यथा – 'विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्च रूषं प्रिये।' यहाँ 'वितत' विशेष मानत्याग में उपकारी नहीं होने से अपुष्टार्थ है। अधिकपदत्व से इसका यही भेद है कि उसमें पदार्थ के अन्वय के साथ ही बाध का ज्ञान होता है जबकि इसमें अन्वय के बाद बाध की प्रतीति होती है।

2. **कष्टार्थ** – जहाँ अर्थ की प्रतिपत्ति कठिनता से होती हो, वहां कष्टार्थत्व दोष पाया जाता है जैसे –

वर्षत्येतदहर्पतिर्न तु घनो घामस्थमच्छं पयः
सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरित्पूरों यया प्लाविताः,
व्यासस्योक्तिषु विश्वसित्यपि न कः श्रद्धा न कस्यश्रुतौ,
न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिणी भास्वन्मरीचिष्वपः।।

इस पद्य में इस अप्रस्तुत अर्थ का बोध भी कठिनता से होता है कि यमुना और वर्षा दोनों सूर्य से उत्पन्न हैं, अतः उनका जल भी सूर्य से ही उत्पन्न हुआ होगा इसलिये सूर्य की किरणों में जल का ज्ञान होना उचित है किंतु भ्रमित हरिणी उनमें जल का विश्वास नहीं करती, तब नायक, नायिका सम्बन्धित व्यंजना तो बहुत दूर की बात है।

3. **व्याहत** – पहले किसी वस्तु का उत्कर्ष या अपकर्ष दिखाकर अनन्तर उसके विपरीत कथन करने से व्याहतत्व दोष होता है यथा –

हरन्ति द्वदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः।
वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका।।

4. **पुनरूक्तत्व** –

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।।

द्वितीय चरण में व्यतिरेक से जो अर्थ निकलता है कि 'विवेक से सम्पत्ति होती है' उसी को उत्तरार्ध द्वारा पुनरूक्त किया गया है अतः पुनरूक्ति दोष है।

5. **दुष्क्रमत्व – 'देहि में वाजिनं राजन् गजेन्द्रं वा मदालसम्।**

यहाँ पहले हाथी मांगकर फिर घोड़ा मांगना चाहिये, यहां दाता के सौकर्य या याचक अपने संतोष के लिये हाथी बाद में मांग रहा है। जो घोड़ा देने में असमर्थ है वह हाथी कैसे देगा अतः दुष्क्रमत्व दोष है।

6. **ग्राम्यत्व** – 'स्वपिहि त्वं समीपे में स्वपिम्येवाधुना प्रिये।' यहाँ अविदग्ध ग्राम्य अर्थ है।

7. **सन्दिग्धत्व** – 'अचला अबला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनीषिणः' यहाँ बिना किसी प्रकरण के कथन है कि हे बुद्धिमानों ! बताओ कि पर्वत और स्त्रियों में कौन सेवनीय हैं? अतः निर्णय करना कठिन है कि वक्ता का तात्पर्य श्रृंगार रस से सम्बन्धित है या शान्त से। अतः सन्दिग्धत्व दोष है।

8. **निर्हेतुत्व** –

गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि।
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः।।
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयात्।
विमोक्ष्ये शस्त्र! त्वामहमपि यते स्वस्ति भवते।।

इस पद्य में द्रोणाचार्य द्वारा शास्त्र त्याग का हेतु पुत्र शोक कहा गया है किंतु अश्वत्थामा द्वारा शस्त्र त्याग करने का कोई कारण नहीं बताया अतः निर्हेतुत्व दोष है।

9. **प्रसिद्धिविरूद्धता** – जगत् में प्रसिद्धि के विरूद्ध या कवि समय की प्रसिद्धि के विरूद्ध अर्थ होने पर प्रसिद्धि विरूद्धता दोष होता है –

'ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः –

शूल धारण करना शिव का प्रसिद्ध है विष्णु का नहीं

'पादाघातादशोकस्ते संजाताङ्कुरकण्टकः।'

रमणियों के पाद प्रहार से अशोक में पुष्पोद्गम की कावसमय में प्रसिद्धि है अंकुर निकलना उसके विरूद्ध है।

10. **विद्याविरूद्धता** – जो अर्थ शास्त्र के विपरीत हो वह विद्याविरूद्ध दोष है जैसे –

अनन्यसदृशं यस्य बलं बाह्वोः समीक्ष्यते।
षाड्गुण्यानुसृतिस्तस्य सत्यं सा निष्प्रयोजना।।

अर्थशास्त्र राजा के द्वारा षाड्गुण्य का प्रयोग उचित माना गया है अतः शास्त्रविरूद्ध अर्थ होने है विद्या–विरूद्ध दोष है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों के विरूद्ध भी दोष हो सकते हैं।

11. अनवीकृतत्व –

सदा चरति रवे भानुः सदा वहति मारूतः।
सदा धत्ते भुवं शेषः सदा धीरोऽविकत्थन।।

चारों चरणों में 'सदा' पद होने से अनवीकृतत्व दोष है कथितपदत्व दोष पर्याय रखने से हट जाता है किंतु यहाँ सदा पद का पर्याय रखने पर भी चमत्कार न होने से दोष बना रहता है।

नये–नये पदों का प्रयोग करने पर अनवीकृतत्व दोष नहीं रहता जैसे –

यदि दहत्यनिलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता।।

12–15 चार प्रकार के परिवृत दोष –

परिवृत का अर्थ है वैपरीत्य।

1. सनियमपरिवृत – जहाँ नियम सहित कहने योग्य बात को बिना नियम कहा जाये वहाँ यह दोष होता है जैसे – आपातसुरसे भोगे निमग्नाः किं न कुर्वते।' 'आपात एवं' इस प्रकार नियम सहित कहना चाहिये था।

2. अनियमपरिवृत – जहां नियम से कहने योग्य बात न होने पर भी नियम से कही जाय यथा – 'आवर्त एव नाभिस्ते नेत्रे नीलसरोरूहे।' यहाँ 'आर्वत एव' इस प्रकार नियम का कथन नहीं होना चाहिये।

3. विशेष परिवृत – जहाँ असामान्य या विशेषवाचक पद का प्रयोग करना चाहिये वहाँ सामान्य वाचक शब्द का प्रयोग कर दिया जाय जैसे – 'यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीष्वमसारिकाः।' यहाँ कृष्णाभिसारिकाओं के वर्णन में काली रात्रि की वाचक 'तामिस्त्रा' का प्रयोग उचित था जिसके स्थान पर सामान्य 'रजनी' शब्द का प्रयोग किया गया है–

4. अविशेष परिवृत – जहाँ सामान्यवाचक पद के प्रयोग के स्थान पर विशेष वाचक पद का प्रयोग किया जाये हीरकाणां निधेरस्य सिन्धोः किं वर्णयामहे।' यहाँ समुद्र के लिये सामान्य 'रत्नाना निधिः' कहना चाहिये था।

16. साकांक्षता – जहाँ किसी पद की आकाङ्क्षा रह जाय जैसे –

ऐशस्य धनुषों भङ्ग क्षत्रस्य च समुन्नतिम्।
स्त्रीरत्नं च कथं नाम मृष्यते भार्गवोऽधुना।।

यहां 'स्नीरत्नं' पद के बाद 'उपेक्षितुं' पद की आकाङ्क्षा होती है।

17. **अपदयुक्तता** – जहाँ अस्थान या अनुचित स्थान में अनावश्यक पद जोड़ दिये जायें। जैसे –

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवम्।
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लक्ड़ेति दिव्या पुरी।।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेट्टग्वरो लभ्यते।
स्याच्चेदेष न रावण क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः।।

इस पद्य में रावण के प्रति उपेक्षा दिखाना अभीष्ट होने से चतुर्थ चरण में 'क्वनुपुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः' पदों का प्रयोग अनुचित तथा अनावश्यक है।

18. **सहचरभिन्नता** – जहाँ उत्कृष्ट पदार्थों के साथ निकृष्ट अर्थों का सहचार हो। जैसे–

सज्जनो दुर्गतौं मग्नः कामिनी गलितस्तनी।
खलः पूज्यः समज्याया तापाय मम चेतसः।।

यहाँ सज्जन एवं कामिनी के साथ खल का सहचार सहचरभिन्नता दोष उत्पन्न करता है।

19. **प्रकाशित विरूद्धता** – जहाँ विरूद्ध अर्थ भासित होता हो जैसे – 'कुमारस्ते नराधीश, श्रियं समधिगच्छतु' हे राजन् आपके कुमार राजलक्ष्मी पायें। यहाँ आप मर जायें यह विरूद्ध अर्थ प्रकाशित हो रहा है।

20. **विध्ययुक्तता** – 'आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान्हनिष्यति।' यहाँ परपक्ष का हनन किये बिना स्वपक्ष का आनन्दित करना संभव नहीं यह अर्थ है। परपक्ष का कथन बाद में होने से कहने की विधि अयुक्त है।

21. **अनुवादायुक्तता** –

'चण्डीशचूडाभरण चन्द्रलोकतमोपह।
विरहिप्राणहरण कदर्थय न मां वृथा।।

चन्द्रमा से दुःख न देने की प्रार्थना है, किन्तु उसको विरहिप्राणहरण कहा गया है अतः अनुवाद की अयुक्तता है।

22. **समाप्तपुनरात्तत्व** –

लग्नं रागावृताग्ड़या सुहढ़मिह ययैवासियष्टचारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरूषैर्या च दृष्टा पतन्ती
तत्सक्तोऽयं न किंचिद् गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मिदत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद् गदितुमिति गतेवाम्बुद्धिं यस्यकीर्तिः।।

इस पद्य में 'विदितं तेऽस्तु' तक ही वाक्य पूरा हो गया था जिसे 'तेनास्मि .... से फिर उठाया है।

23. **अश्लीलता** –

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः।
यथास्य जायते पातो न तथा पुनरून्नतिः।।

यह व्रीडाजनक अश्लीलता का उदाहरण है।

4.2.5 13 रस दोष

व्यभिचारिरसस्थायीभावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथमच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः।।

(का.प्र.सप्तमउल्लास 60, 61)

1. व्यभिचारि भावों का शब्दतः कथन
2. रसों का शब्दतः कथन
3. स्थायिभावों का शब्दतः कथन
4. अनुभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति
5. विभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति
6. प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण
7. रस की बार–बार दीप्ति
8. रस का अनवसर में विस्तार
9. अनवसर में रस का विच्छेद
10. अङ्गरस का अत्यधिक विस्तार
11. अङ्गीरस का त्याग
12. प्रकृतियों का विपर्यय
13. अनङ्ग (जो प्रकृत रस का उपकारक नहीं है) उसका कथन।

ये 13 रस में रहने वाले दोष हैं।

1. 'जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने' लज्जां रूप व्यभिचारि भाव का शब्दतः कथन किया गया है। 'आसीन्मुकुलिताक्षी–सा' कहकर अनुभाव के द्वारा लज्जा का वर्णन उचित था।

2. **'तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत'।**
'चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम्।'

रस शब्द से श्रृंङ्गार शब्द से शब्दतः कथन किया गया है अतः स्वशब्दवाच्यत्व रस दोष है।

3. **'अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे।'**

यहाँ श्रृंगाररस के स्थायी 'रति' का शब्दतः कथन है।

4. **धवलयति शिशिररोचिषि भुवनतलं लोकलोचनानन्दे।**
ईषत्क्षिप्तकराक्षा स्मेरमुखी सा निरीक्ष्यतां तन्वी।।

उक्त पद्य में चन्द्रमा उद्दीपन विभाव है, नायिका आलम्बन विभाव, किन्तु नायक के अनुभाव का सूचक कोई पद नहीं हैं उसका आक्षेप कठिन कल्पना से होता है।

5. **परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः**
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः।

यहां रति का परिहारादि अनुभावों की करूण रस में भी सम्भावना होने से नायिका के विभावों की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति होती है।

6. **'मानं मा कुरू तन्वङ्गि ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्'**

यौवन की अस्थिरता शान्त रस का अङ्ग है और उसी का उद्दीपन विभाव है, जिसे यहां श्रृंगार रस में कह गया है अतः रस के प्रतिकूल विभाव का ग्रहण किया गया है।

7. कुमारसम्भवम् के रति विलाप प्रसङ्ग में करूण रस की पुनः पुनः दीप्ति नामक रस दोष पाया जाता है– 'अथ मोह परायणा सती', अथ सा, पुनरेव विह्वला' 'तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशम् इस प्रकार' एक ही उपभुक्त रस को बार–बार वर्णन किया गया है।

8. 'वेणी संहार' के द्वितीय अङ्क में वीरों के मरण प्रसङ्ग में भानुमती के साथ दुर्योधन का श्रृंगाररस का वर्णन अनवसर में रस के विस्तार का उदाहरण है।

9. महावीरचरित में राम और परशुराम के संरम्भ के पूरे वेग के समय अचानक उसे विच्छिन्न कर देना यह कहकर कि मैं 'कंकण खुलवाने जाता हूँ,' यहाँ अनवसर में रस का विच्छेद है।

10. अप्रधान पात्र या रस (अंङ्ग) का अधिक विस्तार कर देना जैसे 'किरातार्जुनीयम्' के आठवें सर्ग में अप्सराओं का विलास वर्णन या 'हयग्रीववध' नाटक में प्रतिनायक दैत्य हयग्रीव का वनविहार जलकेलि आदि का विस्तार से वर्णन भी रस दोष हैं।

11. अङ्गी अर्थात् प्रधान नायक या नायिका का विस्मरण जैसे 'रत्नावली' नाटिका में चतुर्थ अंक में उदयन द्वारा सागरिका की विस्मृति। इससे श्रृंगार रस की प्रतीति में बाधा उत्पन्न हो जाती है अतः यह रस दोष है।

12. दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य प्रकृतियों के अनुरूप जो स्वरूप वर्णन है उसके विपरीत होने पर प्रकृतिविपर्यय नामक रस दोष होता है। जैसे धीरोदात्त प्रकृति के नायक रामचन्द्रजी का धीरोद्धत की भांति, छल से बाली का वध करना अथवा 'कुमारसंभवम्' में उत्तम देवता पार्वती और महादेव के संभोग श्रृंगार का वर्णन करना।

13. रस के अनुपकारक अर्थात् अनङ्ग के वर्णन का उदाहरण 'कर्पूरमञ्जरी' नाटिका में पाया जाता है। जिसमें नायक और नायिका के वसन्तवर्णन की उपेक्षा कर बंदियों द्वारा किये गये बसन्तवर्णन की राजा ने प्रशंसा की है।

इन सभी रस दोषों का मुख्य कारण अनौचित्य का वर्णन करना ही है।

अतः आपने सभी दोषों का सविस्तार समझते हुए जाना कि शब्द एवं अर्थ में रहने वाले दोष परम्परया तथा रस में रहने वाले दोष साक्षात् रस के विद्यातक होते हैं। यदि दोष सदैव ही रस का अपकर्षक है तो वह नित्य दोष है जैसे च्युत संस्कारादि और अनित्य दोष सदैव रस के अपकर्ष नहीं होते श्रुतिकटुत्वादि।

4.3 काव्य के गुण

मम्मट ने अपने काव्य लक्षण में 'सगुणौ' पद देकर काव्य में गुणों की अपरिहार्यता का उल्लेख किया है।

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

शब्दार्थ में गुण की स्थिति मानने से वे स्वरूपाधायक धर्म हो जाते हैं केवल उत्कर्षाधायक नहीं जैसा कि विश्वनाथ साहित्यदर्पण में कहते हैं–

'गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्वस्य काव्ये उत्कर्ष–
मात्राधायकत्वं न तु स्वरूपाधायकत्वम्।'

वामन ने भी मम्मट के समान गुणों को काव्य की शोभा के उत्पादक धर्म माना है न कि केवल उत्कर्षाधायक–

काव्यशोभायाः कर्तारौ धर्मा गुणाः (काव्यालंकारसूत्र, वामन)

4.3.1 गुण का लक्षण

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।

जैसे आत्मा में शौर्यादि धर्म रहते हैं उसी प्रकार काव्य के आत्मभूत रस में अपरिहार्य रूप से रहने वाले तथा उसके उत्कर्षाधायक धर्मों को गुण कहते हैं। ये माधुर्यादि के योग्य वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं अतः वे वर्ण उन माधुर्यादि गुणों के व्यंजक होते हैं किंतु उन गुणों की स्थिति उन वर्णों में न होकर रस में ही प्रधान रूप से होती है। जैसे शौर्यादि आत्मा में रहने वाले धर्मों को भ्रान्ति पूर्वक लम्बे–चौड़े शरीर वाले व्यक्ति को देखकर उसका आकार ही शूरवीर है' इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है उसी प्रकार मधुरादि गुणों के व्यंजक सुकुमार वर्णों में भी मधुरादि गुणों का व्यवहार कर दिया जाता है।

अतः मम्मट के अनुसार गुण का लक्षण हुआ जो रस के उपकारक एवं उत्कर्षाधायक धर्म हैं वे गुण हैं।

विश्वनाथ ने काव्य का लक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम् किया है, अतः वे भी

'रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा'

गुण का लक्षण करते हैं। जैसे देह में आत्मा प्रधान होती है उसी प्रकार काव्य में रस की प्रधानता होने से उसके माधुर्यादि गुण शौर्यादि गुणों के समान गुण कहलाते हैं। अर्थात् जो पद समुदाय गुणों का व्यंजक होता है वह काव्य कहलाता है और गुण रस के धर्म हैं अतः जहां गुण है वहां रस भी अवश्य होगा और वहीं काव्यत्व होगा।

4.3.2 गुण एवं अलंकार

गुण एवं अलंकारों के संबंध में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। पहला अभेदवादी मत भटटोद्भट का है जिनके अनुसार लौकिक गुण एवं अलंकार में तो भेद किया जा सकता है क्योंकि द्वारादि अलंकारों का शरीर के साथ संयोग संबंध होता है और शौर्यादि गुणों का आत्मा के साथ समवाय संबंध किंतु ओजादि गुण एवं अनुप्रासादि अलंकारों का काव्य के साथ समवाय संबंध ही होता है अतः उनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है।

दूसरा भेदवादी मत वामन, आनन्दवर्धन एवं मम्मट का है। वामन ने गुणों को काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाले धर्म तथा अलंकारों को इस शोभा को बढ़ाने वाले कहा है –

काव्यशोभायाः कतारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।।

इस लक्षण के अनुसार भी काव्य में गुणों की अपरिहार्यता है।

आनन्दवर्धन के मत में काव्य के आत्मभूत रसादिध्वनि के आश्रित रहने वाले धर्म गुण हैं और काव्य के अङ्गभूत शब्दार्थ के धर्म अलंकार –

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।।

मम्मट ने काव्य में अलंकारों की स्थिति इस प्रकार कही है–

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
द्वाराहिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।

जो काव्य में विद्यमान रस को शब्दार्थ रूप अंगों के द्वारा कभी–कभी उपकृत करते हैं वे अनुप्रासादि अलंकार जैसे हारादि शरीर के शोभाधान के द्वारा शरीरी आत्मा के भी उत्कर्षजनक बनते हैं उसी प्रकार उत्कर्षाधायक होते हैं।

अतः गुण एवं अलंकार का मुख्य भेद यही हैं कि –

1. जहां गुण रस के धर्म होते हैं और काव्य की शोभा के जनक होते हैं अलंकार काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले होते हैं।
2. काव्य में गुणों का होना अपरिहार्य है जबकि अलंकार की स्थिति अपरिहार्य नहीं है।
3. गुण काव्य के स्वरूपाधायक धर्म हैं जबकि अलंकार उत्कर्षाधायक धर्म हैं।

4.3.3. गुणों के भेद

गुणों के भेद के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों में मतभेद पाया जाता हैं। भामह, मम्मट, विश्वनाथ ने माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुण ही माने हैं जबकि वामन ने दस शब्द गुण एवं दस अर्थ गुण माने हैं। वास्तव में मम्मट गुण को रस का धर्म मानते हैं न कि शब्द एवं अर्थ का। अतः इस प्रकार का विभाजन सम्भव ही नहीं वामन के दस गुणों का मम्मट तीन गुणों में अन्तर्भाव कर लेते हैं। अब हम इन दोनों मतों को समझेंगे।

4.3.3.1 वामनकृत दस भेद

ओजः प्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदरतार्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः (काव्यालंकार 3/1/4)

ये ओजादि दस पदरचना या काव्यांलकार शब्द के गुण हैं।

त एवार्थगुणाः – वे ही अर्थ के भी दस गुण हैं। शब्दगुण एवं अर्थगुण के नाम तो एक ही हैं लेकिन लक्षण भिन्न हैं।

	शब्द गुणों के लक्षण	**अर्थगुणों के लक्षण**
1.	गाढबन्धत्वमोजः	अर्थस्य प्रौढिरोजः
2.	शैथिल्यं प्रसादः	अर्थवैमल्यं प्रसादः
3.	मसृणत्वं श्लेषः	घटना श्लेषः
4.	मार्गाभेदः समता	अवैषयं समता
5.	आरोहावरोहकमः समाधिः	अर्थदृष्टिः समाधिः
6.	पृथक्पदत्वं माधुर्यम्	उक्तिवैचित्रयं मार्धुर्यम्
7.	अठरत्वं सौकुमार्यम्	अपारूष्यं सौकुमार्यम्
8	विकटत्वं उदारता	अग्राम्यत्वमुदारता
9	अर्थव्यक्ति हेतुत्वमर्थव्यक्तिः	वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थ व्यक्तिः
10	औज्जवल्यं कान्तिः	दीप्तरसत्वं कान्तिः

इन दस गुणों में से श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद इन चार गुणों का मम्मट ने ओज गुण में अन्तर्भाव कर लिया है। समता गुण को दोष रूप हो जाने से गुण नहीं माना। अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव प्रसाद में किया गया है। सौकुमार्य तथा कान्ति गुण को कष्टत्व एवं ग्राम्यत्व दोष का परिहार रूप होने से गुण नहीं माना है। इस प्रकार वामनाभिमत दस गुणों का मम्मट ने अपने माधुर्य, ओज एवं प्रसाद में अन्तर्भाव कर लिया तथा 'एवं न दश शब्द गुणाः' कहकर तीन ही गुण माने हैं। इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी वामनकृत दस शब्द गुणों एवं अर्थगुणों का खंडन किया है।

4.3.3.2 मम्मट कृत तीन भेद

माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।

वामन सम्मत दस शब्द गुणों एवं अर्थगुणों का खंडन करते हुए मम्मट का कथन है कि माधुर्य, ओज एवं प्रसाद नामक काव्य के तीन ही गुण हैं न कि दस। मम्मट गुण को रसाश्रय मानते हैं अतः गुणों का शब्दगत एवं अर्थगत इस प्रकार का कोई विभाग नहीं हो सकता।

4.3.4 माधुर्य

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्। (का.प्र. 8/89)

काव्य में जो चित को द्रवित करने का कारण श्रृंगार रस में रहने वाला आह्लादकस्वरूपत्व है

वह माधुर्य कहलाता है। यह माधुर्य गुण आह्लाद का जनक न होकर स्वयं आह्लादस्वरूप होता है क्योंकि श्रृंगारादि रस आह्लादस्वरूप होते हैं। आह्लादनं आह्लादः भाव में घञ् प्रत्यय करके स्वार्थ में 'क' करने से आह्लादः शब्द बनता हैं जिसका अर्थ है 'आह्लादयतीति आह्लादकः'।

भामह ने माधुर्य का लक्षण– 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते' किया है। उसी का खण्डन करते हुए मम्मट कहते हैं– 'श्रव्यत्वं पुनरोजः प्रसादयोरपि' श्रव्यत्व तो ओज और प्रसाद में भी पाया जाता हैं अतः इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है।

यह माधुर्यगुण सामान्यतः सम्भोग श्रृंगार में रहता है किंतु करूण, विप्रलम्भ तथा शांत रस में वह उतरोतर चमत्कार से युक्त होता है, अत्यन्त द्रवीभाव का कारण होने से। रति आदि के स्वरूप से अनुगत, आनन्द के उद्बुद्ध होने के कारण सहृदय पुरूषों के चित का पिघल सा जाना द्रवीभाव या द्रुति कहलाता है।

माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण समास तथा रचना निम्न होते हैं–

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू
अवृतिर्मध्यवृतिर्वा माधुर्ये घटना तथा।।

(का.प्र. 8/98)

अपने सिर पर स्थित अपने अपने वर्ग के अंतिमवर्ण से युक्त, टवर्ग को छोड़कर सभी स्पर्श वर्ण, ह्रस्व रकार तथा णकार और समासरहित या अल्पसमास वाली रचना माधुर्यव्यंजक होती है –

अनङ्.गरङ्.गप्रतिमं तदङ्.ग भङ्.गीभिरङ्.गीकृतमानतङ्.ग्याः।
कुर्वन्ति यूना सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि।।

.3.5 ओज

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः
वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च

(का. प्र. 8/91–92)

रस की भावना के समय चित्त की चार दशायें होती है, काठिन्य दीप्तत्व, विक्षेप और द्रुति। वीरादि रसों में किसी प्रकार का आवेश न होने पर अनाविष्ट चित्त की स्वभाव सिद्ध कठिनता होती है। विस्मय और हास आदि उपाधियों से चित्त का विक्षेप हास्य अद्भुतादि रसों में होता है। श्रृंगार, शांतादि में चित्त का द्रवीभाव पाया जाता है। रौद्रादि रसों में क्रोध और मन्यु के कारण चित्त का दीप्तत्व पाया जाता है –

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते

(सा.द. 8/4)

यह ओज सामान्यतः वीररस में रहता है किंतु वीभत्स और रौद्र रसों में भी इसका क्रमशः आधिक्य पाया जाता है।

ओज गुण के व्यंज्जक वर्णादि निम्न हैं –

1. वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का प्रयोग, 2. ऊपर नीचे अथवा दोनों जगह विद्यमान रेफ के साथ वर्णों का प्रयोग, 3. दो तुल्य वर्णों का योग (वित्त, उद्दाम), 4. नकार को छोड़कर टवर्ग का प्रयोग, 5. शकार एवं षकार का प्रयोग, 6. दीर्घ समास, 7. विकट रचना

4.3.6 प्रसाद

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।।

(का. प्र. 8/70)

सूखे ईंधन में जैसे अग्नि व्याप्त होती है, स्वच्छ वस्त्र में जैसे जल, उसी प्रकार जो चित्त में सहसा व्याप्त हो जाय वह प्रसाद गुण कहलाता है। वह सभी रसों में एवं रचनाओं में पाया जाता है। जब वीर रौद्रादि उग्र रसों में प्रसाद गुण होता है तो वह शुष्क इंधन में अग्नि के समान और श्रृंगार, करूणादि, कोमल रसों में होता है तो स्वच्छ वस्त्र में जल के समान चित्त में व्याप्त होता है प्रसाद गुण के व्यंज्जक वर्णादि निम्न हैं–

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।।

जो श्रवण मात्र से शब्द से अर्थ की प्रतीति कराता हो वह सभी रचनाओं में रहने वाला प्रसाद गुण है। यथा –

सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं मुक्ताकलापलुठसि स्तनयोः प्रियायाः
बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि।।

आपने इन तीनों गुणों के व्यंज्जक वर्णों समासादि की भी जानकारी प्राप्त की।

4.4 सारांश

आपने काव्य के दोष एवं गुणों को विस्तारपूर्वक समझा। आपने जाना कि च्युतसंस्कार जैसे दोष नित्य होते हैं क्योंकि वे सदैव ही रस के अपकर्षक होते हैं जबकि श्रुतिकटुत्वादि दोष अनित्य होते हैं क्योंकि वे दोष तभी होते हैं जब रस के प्रतिकूल होकर रसानुभूति में बाधक बनते हैं। ऐसे दोष स्वरूपतः दोष नहीं होते। दोष कुछ सामान्य होते हैं जो पद या समास में, पदांश में तथा वाक्य में पाये जाते हैं। इसके विपरीत कुछ शब्द दोष केवल वाक्य में ही पाये जाते हैं। आपने जाना कि अपुष्टत्वादि अर्थ गत दोष 23 प्रकार के हैं। इसी तरह मुख्यतः अनौचित्य के कारण रस में भी 13 दोष पाये जाते हैं। इस प्रकार आपने रस की हानि करने वाले दोषों का अध्ययन किया। जहॉ दोष काव्यत्व को दूषित करते हैं गुण उसके उत्कर्षाधायक होते हैं। काव्य में गुण अपरिहार्य है जबकि अलंकार उसकी शोभा को बढ़ाने वाले धर्म होने से सदैव अनिवार्य नहीं हैं। गुण मुख्यतः रस के धर्म हैं किंतु उपचार से वे शब्द और अर्थ में भी पाये जाते हैं। यद्यपि वामन ने दस अर्थ गुण एवं दस शब्द गुण माने हैं तथापि मम्मटादि काव्यशास्त्रियों ने माधुर्य, ओज एवं प्रसाद तीन ही काव्य गुण स्वीकार किये हैं।

4.5 शब्दावली

1. **उद्देश्य एवं विधेय** – प्रत्येक वाक्य में दो भाग होते हैं प्रथम उद्देश्य एवं दूसरा विधेय 'राम जाता है'– इस वाक्य में 'राम' उद्देश्य है और 'जाता है' विधेय। उद्देश्य का कथन पहले और विधेय का बाद में होता है। विधेय भाग को प्रधान माना जाता हैं।

2. **प्रसज्य प्रतिषेध** – निषेधार्थक नञ् दो प्रकार का होता है प्रसज्यप्रतिषेध नञ् तथा पर्युदास नञ्। जहाँ निषेध की प्रधानता होती है वहाँ प्रसज्य प्रतिषेध नञ् होता है इसमें नञ् का सम्बन्ध किया से होता है।

   अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
   प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्।।

3. **पर्युदास प्रतिषेध**– पर्युदास प्रतिषेध में नञ् समास के साथ चला जाता है और प्रतिषेध की प्रधानता न रहकर वह उत्तरपद के साथ हो जाता है उसका संबंध क्रिया से नहीं होता

   प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
   पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।।

4.6 बोध प्रश्न

1. काव्य के शब्दगत दोषों का विवेचन कीजिये।
2. काव्य के अर्थ दोषों का विवेचन कीजिये।
3. काव्य के रसगत दोषों का उदाहरण सहित विवेचन कीजिये।
4. काव्य के गुणों का विवेचन करते हुए गुण एवं अलंकार का भेद स्पष्ट कीजिये।

4.7 प्रमुख उपयोगी ग्रन्थ

1. काव्यप्रकाश – मम्मट : व्याख्याकार विश्वेश्वर
2. साहित्यदर्पण – विश्वनाथ : व्याख्याकार निरूपण विद्यालंकार
3. साहित्यदर्पण – विश्वनाथ : व्याख्याकार शालिगराम शास्त्री
4. Sahitya Darpan - P.V. Kane
5. History of Sanskrit Poetics - P.V. Kane
6. काव्यादर्श – दण्डी
7. रस सिद्धान्त – डॉ. नगेन्द्र
8. संस्कृत आलोचना – बलदेव उपाध्याय
9. ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन
10. आनन्द

4.8 बोध प्रश्नों का उत्तर

इकाई के 4.2, 4.3 भाग देखें।

इकाई – 5

वृत्ति, रीति एवं अलंकारो का स्वरुप विवेचन

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 वृत्ति

- 5.2.1 वृत्ति का तात्पर्य
- 5.2.2 वृत्ति का उद्‌गम
- 5.2.3 वृत्तियों की संख्या
- 5.2.4 भारतीवृत्ति
- 5.2.5 सात्वती वृत्ति
- 5.2.6 कैशिकी वृत्ति
- 5.2.7 आरभटी वृत्ति

5.3 रीति

- 5.3.1 रीति का तात्पर्य
- 5.3.2 रीति का लक्षण
- 5.3.3 रीति का उद्‌गम व विकास
- 5.3.4 रीति के भेद
- 5.3.5 वैदर्भी रीति
- 5.3.6 गौडी रीति
- 5.3.7 पांचाली रीति
- 5.3.8 लाटी रीति
- 5.3.9 रीति का महत्व

5.4 अलंकार

- 5.4.1 अलंकार का लक्षण
- 5.4.2 अलंकार का विकास क्रम
- 5.4.3 अलंकार विभाजन के दो मत
- 5.4.4 अलंकार के नियामक तत्व
- 5.4.5 अलंकार का वर्गीकरण
- 5.4.6 अलंकार सम्प्रदाय का महत्व

5.5 सारांश

5.6 बोध प्रश्न

5.7 उपयोगी पुस्तकें

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा, एम. फिल. पाठ्यक्रम के प्रथम प्रश्न पत्र के प्रथम खण्ड की इकाई सं. 5 में आप भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त रीति, अलंकार एवं नाट्य वृत्तियों का अध्ययन करेंगें। काव्य का वैशिष्टय समझने के लिए आलोचना की महती आवश्यकता है। कवि तो काव्य का निर्माण करता है किन्तु आलोचक ही उसके रस को जानने में, काव्य का मर्म समझने में सफल होता है। भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य के बहिरंग के साथ–साथ अन्तरंग की भी व्यापक समीक्षा की गई है। रीति, वृत्ति एवं अलंकार काव्य के बाहरी तत्व भले ही है किन्तु रस उनका प्राणभूत तत्व है। रीति, गुण, अलंकार, दोष, रस, वृत्ति इत्यादि काव्य के मूलभूत तत्वों को जाने बिना हम काव्य की समीक्षा नहीं कर सकते हैं।

प्रस्तुत इकाई अध्ययन के उपरान्त आप–

- भारतीय नाट्य वृत्तियों के स्वरुप, भेद को जान सकेगें।
- भारतीय काव्यशास्त्र के मूलतत्व रीति एवं अलंकार का व्यापक अध्ययन करेंगे।
- इनका गहन अध्ययन कर आप काव्य की समीक्षा करने में समर्थ होंगे।

5.1 प्रस्तावना

भारतीय साहित्यशास्त्रियों यथा भामह, दण्डी, वामन एवं कुंतक इत्यादि ने काव्य के अभिव्यंजना पक्ष को, उसकी संघटना को, काव्यालोचन का आधार माना है। आनन्दवर्धन एवं उनके अनुयायी ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्यालोचन में काव्य की विषयवस्तु तथा अभिव्यंजना शैली को समग्र रुप में अन्वित एक युति (Unit) के रुप में स्वीकार किया है।

पश्चिम के प्रसिद्ध कवि एवं समालोचक टी. एस. इलियट ने कहा है– कवि के पास अभिव्यक्त करने के लिए 'व्यक्तित्व' नहीं अपितु विशिष्ट प्रकार होता है। **(The Poet has not a personality to express but a particular medium)**

इसी 'प्रकार विशेष', संघटना या अभिव्यंजना शैली का काव्यालोचन में प्रधान महत्व है। इसके अन्तर्गत आलोचक काव्य के शब्द, अर्थ, पदशय्या, गुण, रीति, अलंकार आदि का अध्ययन करते है।

वैदिक काल से ही काव्य निर्माण के साथ–साथ काव्य लक्षण ग्रन्थों की भी रचना की जाने लगी थी। सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है..... भरत का नाट्य शास्त्र। इसके अनन्तर भामह का काव्यालंकारसूत्र, दण्डी का काव्यादर्श, दण्डी का काव्यालंकारसारसंग्रह, वामन का काव्यालंकारसूत्र, रुद्रट का काव्यालंकार, आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, राजशेखर का काव्यमीमांसा, भोजराज का श्रृंगारप्रकाश एवं सरस्वतीकण्ठाभरण, मम्मट का काव्यप्रकाश, धनंजय का दाशरुपक, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण, रामचन्द्र गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण पं. जगन्नाथ का रसगंगाधर..... इत्यादि।

5.2 वृत्ति

5.2.1 वृत्ति का तात्पर्य

वृत्ति शब्द 'वृतुवर्तने' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर बनता है। वर्तन का अर्थ है जीवन और वृत्ति का अर्थ हुआ पुरुषार्थ का साधक व्यापार अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति में सहायता देने वाला व्यापार। नाट्य नें वृत्तियों का महत्व असामान्य होता है इसीलिए वृत्तियाँ नाट्य की 'मातृभूता' (वृत्तयो नाट्यमातरः) कही गई हैं। वृत्तियों को परिभाषित करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त ने कहा है–

"काय–वाङ् मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तयः"

अर्थात् नाटक के पात्र अथवा काव्य के नायक नायिका के शरीर, वचन तथा मन की विचित्रता से युक्त चेष्टायें ही वृत्तियाँ हैं। भोजराज के अनुसार "चित्त के विकास, विक्षेप, संकोच तथा विस्तार की दशा में पात्रों के जो व्यवहार, व्यापार या वर्तन हुआ करते हैं उन्हीं का सामान्य नाम है– वृत्ति" **विश्वनाथ कविराज** – नाटकादि प्रबन्ध में उपनिबद्ध नायक–नायिका आदि के विविध व्यापारों को वृत्ति कहते है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के अनुसार 'रसानुकूल' उचित शब्दार्थ के प्रयोग को विभिन्न वृत्तियाँ कहा जाता है।

'रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः'

5.2.2 वृत्ति का उद्गम

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में वृत्तियों का उद्गम वेदों से बताया है–

ऋग्वेदानरती वृत्तियजुर्वेदाच्च सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्ववणात्तथा।। 22/24

भरतमुनि ने वृत्तियों के उद्गम के लिए एक पौराणिक आख्यान का भी उल्लेख किया है–

सृष्टि की प्रलयावस्था में जब सारा संसार एक समुद्र रुप में ही बचा था तब श्री विष्णु के वीर्य एवं बल से उत्पन्न मधु एवं कैटभ नामक दो दानवों ने विष्णु को यु(के लिए ललकारा। दोनों पक्षों की ओर से भयानक वाद–विवाद हुआ जिसमें आक्षेप पूर्ण वचन विन्यास इतना उग्र हो गया कि मानो समुद्र कांप रहा हो तब ब्रह्माजी ने कहा यह वाणी का व्यापार क्यों चल रहा है इस असुर को मारिये। तब श्री विष्णु ने कहा यह तो मैंने वक्ताओं एवं कवियों के सामने वक्तृता का आदर्श उपस्थित करने के लिए भारती वृत्ति की रचना की है। दैत्यों से द्वन्द्व यु(करते हुए जब अपने पादन्यास पृथ्वी पर बल देकर रखे तो भूमि पर अधिक भार होने से वाक्य भूयिष्ठा 'भारतीवृत्ति' उत्पन्न हुई। भरतों ;अभिनेताओंद्ध के लिए इस वृत्ति का निर्माण होने से भी इसका नाम भारती वृत्ति हुआ।

अब विष्णु ने युद्ध की तैयारी प्रारम्भ की। इसमें सत्व अर्थात् मनोवृत्ति को ठीक करना आवश्यक था। सत्व की प्रेरणा से उद्भूत होने के कारण इस वृत्ति का नाम सात्वती पड़ा। युद्ध में प्रस्थान करने से पहले विष्णु ने केशो को सजाया संवारा जिसके लक्ष्मी की श्रृंगारिक चेष्टायें भी सम्मिलित थी अतः श्रृंगार प्रधान सजावट के आधार पर इस वृत्ति का नाम कैशिकी पड़ा।

युद्ध में और तेजी आई। अमर्ष ओर क्रोध से भरी अनेक प्रकार की चारियों से युक्त घनघोर संग्राम होने लगा। तब उस समय आर भटी (कोड़े या तलवार जैसी) (योद्धाओं) की आंगिक क्रियाओं से जो वृत्ति निर्मित हुई उसका नाम आरभटी वृत्ति पड़ा।

शारदातनय के अनुसार ब्रह्मा जी जब शिव पार्वती नृत्य देख रहे थे उसी समय उनके चारों मुखों से चारों वृत्तियों का उद्गम हो गया।

इस प्रकार निष्कर्षतः भरत ने वृत्तियों के चार भेद किए है–

1. मानसिक व्यापार में सात्वती
2. वाग्व्यापार में भारती
3. कायव्यापार में कैशिकी एवं कठोर रसों में आरभटी।

अभिनव गुप्त ने भी इस विभाजन को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

पाठ्यप्रधाना भारती, अभिनय प्रधाना सात्वती,
अनुभावाद्यावेशमय रस प्रधाना आरभटी
गीतवाद्योपरञजक प्रधाना कैशिकी। (अभिनव भारती 20/23)

5.2.3 वृत्तियों की संख्या

वस्तुतः वृत्ति तत्त्व एकरूप ही है क्योंकि कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारों में परस्पर असम्भेद सर्वथा असंभव है किन्तु काय–वाङ्–मनस की चेष्टाओं में प्रत्येक के यथास्थान प्राधान्य की दृष्टि से वृत्ति तत्त्व को चतुर्विध बताया गया है। भरतमुनि चतुर्विध वृत्तियाँ स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त पाद ने उद्भट का मत उद्धृत करते हुए कहा है–आचार्य उद्भट ने सात्वती एवं कैशिकी वृत्ति को अस्वीकार कर 'फलसंविति' नामक वृत्ति को मानते हुए आरभटी, भारती एवं फलसंवित्ति नामक तीन ही वृत्तियों को माना है। परन्तु उद्भट के अनुयायी चार वृत्तियों के साथ "आत्मसंवित्ति" को भी स्वीकार कर पाँच वृत्तियाँ मानते है। भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण में "मध्यमकैशिकी" तथा "मध्यम आरभटी" नामक दो भेदों को स्वीकार कर कुल छः वृत्तियाँमानी है।

जबकि शृंगार प्रकाश में भोज भरतसम्मत चार वृत्तियों के अतिरिक्त इनके परस्पर मिश्रण होने से 'मिश्र वृत्ति' नामक एक अन्य भेद स्वीकार कर पाँच वृत्तियाँ मानते है। लेकिन भोजराज का यह भेद अन्य अलंकारिकों के स्वीकार्य नहीं है।

वृत्ति का एक अन्य विभाजन –

भारती वृत्ति शब्द प्रधान होने से 'शब्द वृत्ति' तथा इतर तीन अर्थ प्रधान होने से अर्थवृत्ति कहलाती है। आनन्दवर्धन ने इन चारों को आर्थीवृत्ति कहा है। भरत ने ऐसा कोई विभाजन नहीं किया है।

उद्भट ने तीन शाब्दीवृत्तियाँ मानी हैं– पुरुषा (कठोरवर्णवृत्ति) उपनागरिका (मृदुवर्णवृत्ति) ग्राम्या (तदितर वर्णवृत्ति)। मम्मट ने भी वृत्त्यनुप्रास के प्रसंग में इनका उल्लेख किया हैं तथा साथ ही यह भी बतलाया है कि वामन आदि ने इन तीनों को ही वैदर्भी गौड़ी और पाञ्चाली रीति कहा है।

माधुर्यव्यञ्जकैवर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा
कोमलाः परैः (काव्यप्रकाश 9/108–110)

रुद्रट ने तीन के स्थान पर 5 शब्द वृत्तियाँ मानी है– मधुरा, परुषा, प्रौढा, ललिता और भद्रा।

5.2.4 भारतीवृत्ति

या वाक्यप्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतपाठययुक्ता
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेतु वृत्तिः। (ना.शा. 22/25)
भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यवहारो नटाश्रयः। (द.रु. 3/5)

भारतीय परम्परा में मूक अभिनय करने वालों को 'नट' और संवादपरक अभिनय करने वालों को 'भरत' कहा जाता है। भरतो की कला भारती कहलाती है। इसमें अभिनय के साथ संवाद भी होता है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ है–

1. इसमें वाग्व्यापार की प्रधानता रहती है।
2. पुरुष इसका प्रयोग करते है।
3. स्त्रियों के लिए यह वर्जित है।
4. यह वृत्ति करुण एवं अद्भुत रसों में विशेष रुप से आती है।
5. इसमें संस्कृत पाठ्य रहता है।
6. इसका प्रयोग प्रस्तावना में विशेष रुप से होता है।
7. यह सभी रुपकों में सामान्य रुप से रहती है।

भारतीवृत्ति के भेद –

भेदास्तस्यास्तु विज्ञेयाश्चत्वारोड त्वमागताः।
प्ररोचनामुखञ्चचैव वीथी प्रहसनन्तथा।।

भारती वृत्ति के चार अंग है। प्ररोचना, आमुख, वीथी एवं प्रहसन यहाँ अंग से तात्पर्य अंश से है जैसा कि अभिनवभारतीकार ने कहा है– **अंगत्वमिति अंशत्वं प्राप्ता इत्यर्थः। अन्यथा यदि रुपकास्यांगत्वं प्राप्ता इत्युच्यते तदा वीथी प्रहसनं च रुपकभेदः न तु रुपकास्यांगम्।**

वीथी एवं प्रहसन रुपक के भेद है। ये वाग्व्यापार प्रधान होने से भारतीवृत्ति के प्रकारभूत है।

1. **प्ररोचना**

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना। (द.रु. 3/6)

रूपकादि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को अभिनय दर्शन की ओर उन्मुख करना प्ररोचना है। अर्थात् रुपक अथवा रुपककार की महिमा के संकीर्तन द्वारा सामाजिकों की मनोरंजनात्मक प्रवृत्ति को प्रस्तुत अभिनय के प्रति आड्डष्ट करना ही प्ररोचना है।

2. **आमुख या प्रस्तावना**

सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम्।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् प्रस्तावना वा। (द.रु. 3/9)

प्रस्तावना का मन्तव्य दर्शकों को अभिनेय नाट्यड्डति के विषय में बतलाना और उन्हें इस विशिष्ट अभिनय का आस्वादन करने के लिए जागरुक करना। यह कार्य कलात्मक शैली पर किया जाता है और इसके लिये नृत्य, गीत एवं चमत्कार पूर्ण मनोरम संवाद का आयोजन किया जाता है। इसमें अंगाभिनय का अवसर नहीं होता है सूचनाऐं वाचिक ही दी जाती हैं। अतः प्रस्तावना में वाग्व्यापारमूलक भारती का प्राधान्य स्वभाविक है। पात्र का जिस प्रकार प्रवेश होता है उसके आधार पर प्रस्तावना के भेद भी किए गए है। नाट्यशास्त्र में पाँच भेद है–

उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा।
प्रवृत्तकावलगिते पञ्चाङ्गान्यामुखस्य।। (ना.शा. 22/31)

उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक, अवलगित ये पाँच भेद है।

दशरुपककार ने तीन भेद किए है– कथोद्घत, प्रवृतक प्रयोगातिशय। उद्घात्यक एवं अवलगित का अन्तर्भाव वीथी के अंगों में ही दिया गया है।

कथोद्घात – में सूत्रधार के वाक्य या उसके अर्थ को लेकर पात्र प्रवेश करता है यह प्रक्रिया मुद्राराक्षस एवं वेणीसंहार में अपनाई गई है।

प्रवर्तक – में ऋतु वर्णन के साम्य के आधार पर पात्र प्रवेश करता है जैसा कि प्रियदर्शिका में किया गया है।

प्रयोगातिशय – सूत्रधार 'वह आ रहा है' कह कर प्रत्यक्ष निर्देश द्वारा सूचना देता है। यह विधि अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अपनाई गई है।

5.2.5 सात्वती वृत्ति

या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेतु वृत्ति।। (ना. शा. 22/39)

सत्व प्रधान व्यापारों की प्रमुखता रहने पर सात्वती वृत्ति होती है। सत्व का तात्पर्य मन से है।

मानस व्यापार ही सात्वती वृत्ति है। यह शौर्य, त्याग, दया, हर्ष आदि भावों के रूप में होता है। और इसको सात्विक, वाचिक, आङ्गिक अभिनय के द्वारा प्रकट किया जाता है।

इस वृत्ति की प्रमुख विशेषताऐं हैं–

1. सात्वती वृत्ति में सत्व गुण की प्रधानता रहती है।
2. न्याय सम्पन्न वृत्त का विधान रहता है।
3. यह हर्ष से उद्भट रहती है।
4. इसमें शोक का सर्वथा अभाव होता है।
5. इस वृत्ति का वीर, अद्भुत एवं रौद्र रसों में उपयोग होता है। शृंगार, अद्भुत एवं करुण रसों के यह अनुकूल नहीं पड़ती है।
6. इसमें उद्धत पात्रों की अधिकता रहने से प्रसंगवश या परस्पर आघर्षण कार्य भी रखा जाता है।

भरतमुनि ने सात्वती वृत्ति के चार प्रकार बताये हैं–

उत्थापक – जहाँ स्वयं युद्ध के लिए तैयार होकर दूसरे को ललकारा जाए वहाँ उत्थापक होता है।

परिवर्तक – किसी कार्य के लिए उठकर तैयार होकर उसमें लगकर भी संयोगवश किसी दूसरे कार्य को स्वीकार कर लेना परिवर्तक कहलाता है।

संल्लापक – वीरतापूर्ण तथा एक दूसरे को घर्षित करने वाले संवाद जैसे वेणी संहार में अश्वत्थामा तथा कर्ण का संवाद–

सांङ्घत्य – जहाँ शत्रु के संघ का भेदन मन्त्र, धन या दैवी शक्ति से अथवा किसी अन्य उपाय से किया जाए वहाँ साङ्घत्य कहा जाता है। जैसे मुद्राराक्षस में चाणक्य ने मलयकेतु के सहायकों की मन्त्र या विचार शक्ति से फोड़ लिया।

5.2.6 कैशिकी वृत्ति

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभावोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति।। (ना.शा. 22/48)

'कैशिकी' शब्द की उत्पत्ति 'केश' से हुई है नाट्यदर्पणकार ने इसकी व्युत्पत्ति बताते हुए कहा है अतिशयिनः केशा सन्त्यासामिति केशिकाः स्त्रियः, स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षणम्, तत्प्रधानत्वात् तासामियं कैशिकी। स्त्रियों की बहुलता के कारण ही इस वृत्ति का नाम कैशिकी है।

अभिनवभारतीकार के अनुसार –

"केशाः किञ्चिदप्यर्थजातमकुर्वन्तो देहशोभोपयोगिनः तद्वत् सौन्दर्योपयोगी व्यापारः कैशिकी वृत्तिरिति एवं यत् किञ्चित् लालित्यं तत्सर्वं कैशिकी विजृम्भितम्"

कुछ भी क्रिया न करने वाले को केश कहते हैं। जो केवल शरीर शोभा मात्र के आधायक होते है। उसी तरह सौन्दर्योपयोगी व्यापार का नाम कैशिकी वृत्ति है।

नाटक को सुललित व रमणीय बनाने में कैशिकीवृत्ति का अपना स्थान है। अभिनवगुप्त के अनुसार कैशिकीवृत्ति सभी वृत्तियों एवं काव्यों का प्राण तत्त्व है।

कैशिकी वृत्ति की प्रमुख विशेषतायें है–

1. कैशिकीवृत्ति में नानाविध मनोहारी वेशभूषण की शोभा रहा करती है।

2. इसमें स्त्रियों के कार्य कलाप एवं लीलायें विद्यमान रहती है।

3. कैशिकी वृत्ति में बहुविध नृत्य, गीत की योजना आवश्यक है।

4. इसमें कामोपभोग एवं रतिसुख से संबद्ध बहुविध व्यापारों का प्रधान्य रहता है।

5. कैशिकी वृत्ति में शृंगार परक अभिनय के अनुकूल चित्र विचित्र वेशभूषा बनाई जाती है, शरीर शृंगार की विशेषता होती है।

कैशिकी वृत्ति के चार अंग होते है–

नर्म च नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्भश्च।
कैशिक्याश्चत्वारो भेदा ह्येते समाख्याताः। (ना.शा. 22/49)

नर्म – का अर्थ है परिहास वचन जिसमें प्रिय का अभिमुखीकरण हो। इसके भी तीन भेद है केवल हास्य, सशृंगार हास्य, सभय हास्य।

नर्मस्फूर्ज – इसमें नायक–नायिका का प्रथम सम्मिलन सुखपूर्वक हो जाता है किन्तु बाद में दूसरों के जान लेने का भय उत्पन्न हो जाता है।

नर्मस्फोट – इसमें भय क्रोध आदि अन्य भावों के संस्पर्श से शृंगार की अभिव्यक्ति होती है।

नर्मगर्भ – में कौशल पूर्वक अपने स्वरुप को छिपाकर शृंगार का उपयोग किया जाता है।

5.2.7 आरभटी वृत्ति

आरभट प्रायगुणा तथैव बहुकपटवञ्चनोपेता।
दम्भानृतवचनवती त्वारभटी नाम विज्ञेया।। (ना. शा. 22/56)

आचार्य अभिनव गुप्त आरभटी वृत्ति को परिभाषित करते हुए कहते है– **"इयति इत्वराः भटाः सोत्साहाः अनलसाः तेषामियमारभटी कायवृत्तिः"।**

जो चलते हैं, क्रियाशील हैं, वे आरभट हैं। आलस्यरहित अनलस हैं, उन उत्साहसम्पन्न व्यक्तियों के व्यापार का नाम आरभटी है। यह कायवृत्ति है। इसे 'सर्वाभिनयात्मिका' एवं 'सर्वव्यवहारात्मिका' अर्थात् यह वृत्ति सभी प्रकार के आङ्गिक, वाचिक एवं सात्विक व्यापारों से युक्त होती है। आरभटी वृत्ति की प्रमुख विशेषतायें हैं–

1. आरभटी वृत्ति में वीरों के अनृत, द्वन्द्व, वंचना, क्रोधावेग, छल दम्भ आदि की प्रमुखता होती है।

2. यह वृत्ति कैशिकी के प्रतिकूलभाव को रखती है तथा न्यत्यवृत्त की प्रतिकूलता के कारण सात्वती से भी प्रतिकूलता ही रखती हैं।

3. यह वृत्ति कायिक, मानसिक तथा वाचिक व्यापारों तथा अभिनयों से युक्त रहने से नाट्य के लिए उपयोगी होती है क्योंकि इसमें अभिनयगत सभी विधानों का समायोजन संभव रहता हैं।

4. आरभटी वृत्ति की प्रवृत्तियाँ अनेक प्रकार की होती है यथा कभी कोई किसी दूसरे व्यक्ति का रुप धारण कर लेता है, कहीं आग लगती है। उत्तेजित भाषण, भ्रान्ति, व्यर्थ के विवाद, बाहुयुद्ध, शस्त्र प्रहार, कूदना, गिरना, इत्यादि इसके सामान्य तत्व है।

आरभटी के अंग –

संक्षिप्तकावपातौ वस्तूत्थापनमथापि सम्फेटः।
एते द्वयस्या भेदा लक्षणमेषां प्रवक्ष्यामि।। (ना.शा. 22/58)

संक्षिप्तिका – किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी की आकृति, अनुकृति बनाकर मुख्य वस्तु के स्थान पर निक्षिप्त कर देना।

अवपात – किसी विषम परिस्थिति में भय इत्यादि के व्याप्त हो जाने पर दौड़ धूप का अधिक बढ़ जाना।

वस्तूत्थापन – किसी विषम स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न भावनाओं का उत्पन्न होना

सम्फेट – युद्ध की परिस्थिति जिसमें कपट, निर्भेद, शस्त्र–प्रहार, वाग्युद्ध इत्यादि संग्राम विषयक सभी कुछ आ जाता है।

5.3 रीति

5.3.1 रीति का तात्पर्य

मनोगत भावों को अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न लेखक नवीन तथा विशिष्ट मार्गों का अवलम्बन करते हैं। इसी विशिष्ट लिखने के ढंग को शैली या रीति के नाम से पुकारते हैं। 'रीङ् गतौ' धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से रीति पद की रचना हुई है जिसका अर्थ है– 'गमन' या 'मार्ग' इस प्रकार रीति शब्द साहित्य के विभिन्न मार्गों का संकेत करता है। काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में रीति पद का तात्पर्य है– लेखक का विशिष्ट कथन।

इस दृष्टि से जितने लेखक होंगे उतनी ही रीतियाँ होंगी इसीलिए दण्डी ने कहा है कि रीतियाँ अनन्त हैं और उनमें परस्पर भेद भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं। रीति मत के प्रधान प्रतिपादक हैं आचार्य वामन। यद्यपि वामन से पूर्व भी 'रीति' की चर्चा प्राप्त होती रही है। लेकिन वामन पहले अलंकारिक हैं जिन्होंने रीति की स्पष्ट व्याख्या की। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति को काव्य की आत्मा माना। रीति का प्राचीन नाम है– मार्ग या पन्थ। भामह एवं दण्डी ने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है। भरत ने इसे प्रकृति कहा है। आनन्धवर्धन इसे संघटना नाम से कहते है। राजशेखर ने काव्य मीमांसा में लिखा है सर्वप्रथम सुवर्णनाभ नामक आचार्य ने रीतिविषयक ग्रन्थ की रचना की थी। किन्तु दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

भामह के समय साहित्य रचना के दो मार्ग प्रतिष्ठित थे वैदर्भ एवं गौड़ीय। इनमें से वैदर्भ प्रशंसित था एवं गौड़ीय की पृथक विशेषताएँ थी। भामह ने इसका विरोध किया एवं कहा हमें न तो वैदर्भ की प्रशंसा करनी चाहिए और न ही गौड़ीय की निन्दा हमें तो काव्य के शोभन गुणों की ओर ही ध्यान देना चाहिए। (काव्यालंकार 1/35)

दण्डी ने काव्य रचना के इन मार्गो का सम्बन्ध गुणों से स्थापित किया। दण्डी के अनुसार भरतप्रोक्त दश गुण वैदर्भ रीति मार्ग के प्राण हैं तथा गौड मार्ग में इसका विपर्यय देखा जा सकता है।

5.3.2 रीति का लक्षण

वामन ने रीति को परिभाषित करते हुए कहा है "विशिष्टा पदरचना रीति। विशेषो गुणात्मा।" अर्थात् पदों की विशिष्ट रचना रीति है और पदों में यह यह विशिष्टता गुणों के कारण आती है। ये गुण काव्य की शोभा के सम्पादक नित्य धर्म है–

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः'।

इस प्रकार रीति का सामान्य लक्षण है– पदों की वह रचना जिसमें काव्य गुणों की स्थिति अवश्यमेव विद्यमान हो।

5.3.3 'रीति' का उद्‌गम व विकास

वामन दो रीतियों के स्थान पर तीन रीतियाँ मानते हैं वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली। साथ ही वामन ने गुणों की संख्या 20 निर्धारित की। गुणों के नाम तो वही प्राचीन आचार्यों के रहे परन्तु 10 शब्दालंकार एवं 10 अर्थालंकार कह कर संख्या 20 कर दी गई। ये दश गुण हैं–

श्लेषः प्रसादः, समता माधुर्य सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरूदारत्वमोजः कान्ति समाधयः।।

रीति के इतिहास में रुद्रट का भी प्रमुख स्थान है। इन्होंने ये प्रमुख कार्य किए–

1. रीति को भौगोलिक बन्धनों से मुक्त कर काव्य व्यवहार की परम्परा में संयोजित किया।
2. वामन की तीन रीतियों के साथ चतुर्थ 'लाटी' रीति को जोड़ा।
3. रसो को भी रीतियों के साथ जोड़ा एवं रसौचित्य के अनुसार रीतियों के संयोजन की व्यवस्था दी।
4. रीतियों का विभाजन समास के आधार पर किया उनके अनुसार समास से रहित रीति वैदर्भी, दो या तीन पदों के समास वाली रचना पाञ्चाली रीति, पाँच या सात पदों के समास वाली रचना लाटी और समास बहुल रचना गौड़ी रीति है।

रूद्रट–काव्यालंकार – 2, 4–5

राजेशेखर ने काव्य मीमांसा में रीतियों का भौगोलिक विवेचन अलंकारिक रूप से किया है। राजशेखर ने रीतियों का आधार वचनविन्यास क्रम को बताया है। इनके अनुसार पूर्व में गौड़ी, पाञ्चाल तथा अवन्ती में पाञ्चाली रीति तथा विदर्भ में वैदर्भी रीति प्रचलित हुई। राजशेखर गौड़ी रीति में दीर्घ समास, पाञ्चाली में अल्पसमास एवं वैदर्भी रीति में समासरहित पदविन्यास मानते थे।

कर्पूरमञ्जरी में राजशेखर ने 'मागधी' रीति का भी प्रतिपादन किया है। राजशेखर काव्य में रीतियों को रस का परिस्रावक अनिवार्य तत्व मानते थे। भोज ने रुद्रट की चार रीतियों में 'अवन्तिका' तथा 'मागधी' रीति को जोड़कर कुछ छः रीतियाँ मानी हैं। भोज ने गुण तथा समास दोनों को ही रीतियों का आधार माना है।

भामह एवं दण्डी का अनुकरण करते हुए कुन्तक ने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। इन्होंने वैदर्भी को सुकुमार मार्ग, गौड़ी रीति को विचित्र मार्ग तथा पाञ्चाली रीति को मध्यम मार्ग का नाम दिया है। शारदातनय ने भी वचनविन्यास को रीतियों का आधार माना है। ये चार रीतियों के साथ सौराष्ट्री तथा द्राविड़ी रीति का भी प्रतिपादन करते हैं। वामन के ही समान अलंकार संग्रह के रचयिता आनन्दयोगी भी रीति को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए चार रीतियों को स्वीकार करते हैं एवं गुण, समास एवं वर्ण के आधार पर रीतियों का स्वरुप निर्धारित करते हैं।

"रीतिरात्मा काव्यस्य कथ्यते या चतुर्विधा" (अलंकार संग्रह 5.17)

रीतियों पर ध्वनिवादी आचार्यों ने भी विचार किया है इन्होंने पदसंघटना की विशेषता को स्वीकार तो किया है किन्तु इसको काव्य का बाह्य तत्व ही माना है। आनन्दवर्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ के अनुसार पदों की संघटना माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर रसौ को अभिव्यक्त करती है।

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता।।
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ति माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा

रसान् तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः।। (ध्वन्या/ 3/5, 6)

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी मम्मट के समान रीतियों एवं वृत्तियों में अभेद माना है किन्तु इन्होंने केवल वैदर्भी रीति का ही उल्लेख किया हैं।

रीति तत्व के इतिहास पर दृष्टिपात करने के उपरान्त हम यह कह सकते है कि रीति को काव्य की आत्मा मानने का साहस वामन के उपरान्त केवल अमृतानन्द योगी ने अलंकार संग्रह नामक अपने ग्रन्थ में किया है। वामन ने गुणों को रीति का आधार माना था। किन्तु परवर्ती आचार्यो ने वर्णों के विन्यास, समास, को भी उसका आधार स्वीकार किया है। रीतियों को पहले भौगोलिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया गया था किन्तु बाद में कवि स्वभाव को ही इसका मुख्य आधार माना है।

मम्मट काव्यप्रकाश में वृत्ति, रीति, मार्ग तथा संघटना को अभिन्न मानते हैं एवं इनका स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर वृत्त्यनुप्रास में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं। इन्होंने उपनागरिका, परुषा एवं कोमल नामक तीन वृत्तियें का उल्लेख किया है और स्पष्ट लिखा है कि कुछ इन तीन वृत्तियों को ही तीन रीतियाँ मानते हैं।

'केषाञ्चिदेता वैदर्भी प्रमुखा रीतयो मता' (काव्यप्रकाश 9/111)

इस प्रकार इन्होंने तीन गुणों पर आधारित तीन गुणाभिव्यंजक वृत्तियों को ही स्वीकारा है।

5.3.4 रीति के भेद

कवि स्वभाव के आधार पर यद्यपि रीति के अनन्त भेद किए जा सकते हैं लेकिन रीति के तीन अथवा चार भेद ही मान्य हैं। ये हैं वैदर्भी, पाञ्चाली, गौड़ी एवं लाटी। अलंकारशास्त्र में प्रारम्भ में वैदर्भ एवं गौड़ी ये दो ही मार्ग सर्वमान्य एवं प्रचलित थे। आचार्य वामन पाञ्चाली रीति के प्रथम प्रवर्तक माने गए हैं तो रुद्रट लाटी रीति के। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के नवम परिच्छेद में इन रीतियों का विस्तृत निर्वचन किया है।

पदसंघटना रीतिर संस्थानविशेषवत्।
उपकर्त्रीरसानां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा।।
वैदभी चाथ गौड़ी च पाञ्चाली लाटिका तथा।। (सा. दर्पण 9/1–2)

आचार्य रुद्रट काव्यालंकार में गौडी–पांचाली तथा लाटी का स्वरुप इस प्रकार बताते है–

पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र
द्वित्रपदा पाञ्चाली, लाटीया पञ्च सप्त वा यावद्
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया (अलंकार सर्वस्व 2–4–5)

साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने आचार्यों का नामोल्लेख किए बिना कुछ आचार्यों के मतानुसार रीति चतुष्टय का संक्षिप्त स्वरुप इस प्रकार है–

गौडीऽऽडम्बरब(ा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा
पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः।। (सा. द. 9/4)

5.3.5 वैदर्भी रीति

वामन ने वैदर्भी रीति को परिभाषित करते हुए कहा है–

"समग्र गुणोपेता वैदर्भी" अर्थात् वैदर्भी रीति में समस्त दस गुणों की सत्ता रहती है।

साहित्यदर्पणकार इस प्रकार परिभाषित करते है–

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।। (सा. दर्पण 9/2)

आचार्य रुद्रट ने इसका सूक्ष्म विवेचन करते हुए कहा है–

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीय बहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया।।

इसकी प्रमुख विशेषताऐं इस प्रकार हैं–

1. यह माधुर्य गुण पर आश्रित होती है।
2. इसमें समास या तो होते ही नहीं है अथवा स्वल्प होते हैं।
3. इसमें दसों गुणों की सत्ता रहती है।
4. इसमें द्वितीय वर्ग अर्थात् चवर्ग के वर्णों का बाहुल्य सुन्दर लगता है।
5. इसमें ऐसे वर्ण रहते हैं जो कि स्वल्प प्रयत्न से ही उच्चरित हो सकते हैं।

संस्कृत के कवियों में कालिदास तथा श्रीहर्ष वैदभी रीति के मान्य कवि हैं।

5.3.6 गौड़ी रीति

वामन ने काव्यालंकार सूत्र में गौड़ी रीति को इस प्रकार परिभाषित किया है–

समस्तात्युद्धपदाभोजः कान्ति गुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः।।

विश्वनाथ कविराज साहित्यदर्पण में कहते हैं–

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः
समासबहुला गौड़ी.....

इसकी प्रमुख विशेषताएं है–

1. इसमें ओजगुण के व्यंजक वर्णो का बाहुल्य होता है।
2. समासबाहुल्य होता है।
3. इसी रीति में विशेषकर ओज एवं कान्ति गुण आते हैं।
4. इसमें महाप्राण वर्णो का अर्थात् वर्ग के द्वितीय एवं चतुर्थ वर्ण का बाहुल्य होता है।

संस्कृत कवियों में भवभूति तथा वेणीसंहार के रचयिता भट्टनारायण गौड़ी रीति के मान्य कवि है।

5.3.7 पांचाली रीति

आचार्य वामन के अनुसार "माधुर्यसौकुमार्यसम्पन्ना पाञ्चाली" माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों से सम्पन्न रीति पाञ्चाली कहलाती है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार –

वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता।। (सा.द. 9/4)

अर्थात् पाञ्चाली रीति में माधुर्य एवं ओज के अभिव्यंजक वर्णों को छोड़कर –

1. अवशिष्ट वर्णों अर्थात् प्रसाद गुण के अभिव्यंजक वर्णों से पदरचना होती है।
2. इसमें पाँच या छः पदों के समास से बड़े समासों का प्रयोग नहीं होता है।
3. प्रसाद गुण सब संघनाओं का एक सामान्य गुण माना जाता है।

संस्कृत कवियों ने बाणभट्ट को पाञ्चाली रीति का मान्य कवि कहा गया है।

5.3.8 लाटी रीति

रुद्रट, विश्वनाथ प्रभृति आचार्य इसे चतुर्थ रीति के रुप में मानते है। रुद्रट ने इसे मध्यम समासवाली (पांचाली से अधिक और गौडी से कम) तथा विश्वनाथ ने इसे वैदर्भी एवं पाञ्चाली के मध्य की रीति माना है।

"लाटी तु रीति वैदर्भी पाञ्चाल्योरन्तर स्थिता" (सा. दर्पण 9/4)

5.3.9 रीति का महत्व

रीति सम्प्रदाय को गुण एवं अलंकार के परस्पर पार्थक्य को दिखाने का गौरव प्राप्त है। भामह ने गुण एवं अलंकार का परस्पर भेद नहीं दिखलाया और दण्डी ने काव्य की शोभा करने वाले समस्त धर्मों को भी अलंकार शब्द से व्यवहृत किया है–

"काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।"

परन्तु वामन ने काव्य में गुणों को अलंकारों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार काव्य की शोभा करने वाले धर्म 'गुण' कहलाते हैं तथा उसके अतिशय करने वाले धर्म अलंकार के नाम से पुकारे जाते है।

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः'

अलंकारों की अपेक्षा गुण अधिक महत्वशाली है क्योंकि वे काव्य में नित्य रहते हैं। काव्य में रसविधान विषयक अध्ययन अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय का गहन था। भामहादि अलंकारीवादी रस को काव्य का बहिरंग साधन मानते हैं। किन्तु वामन उसे अन्तरंग धर्मो में परिगणित कर इसकी महत्ता स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार रस अर्थ गुण कान्ति के रुप में काव्य में आता है। कान्ति का लक्षण है 'दीप्तरसत्व'।

इस प्रकार कान्ति गुप के भीतर रस का अन्तर्भाव कर रस की महत्ता स्वीकार की गई है। ध्वनितत्व की स्थापना हो जाने पर काव्य में रीति को वह महत्व तथा स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त नहीं हो रहा, जिसका प्रतिपादन वामन ने किया था। ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति को काव्य का बहिरंग प्रतिपादित करके रस को उसका मुख्य नियामक माना। इन्होंने काव्य में रीति के महत्व को स्वीकार तो किया था परन्तु केवल साधन के रुप में ही, साध्य के रुप में नहीं।

रीति को काव्य का बहिरंग साधन मानकर भी काव्य की समालोचना में वामन के महत्व से इंकार नहीं किया जा सकता। वामन ने रीतियों का भव्य प्रसाद गुणों के आधार पर निर्मित किया था। काव्य की शोभा के आधायक गुण रस के अनिवार्य धर्म हैं जो कि रस की स्थिति में स्थिर रुप में रहते हैं एवं उपस्थित रस का नियत रुप से उपकार करते हैं। बिना गुणों के काव्य में काव्यत्व नहीं रहता है। अतः रीति को काव्य की आत्मा नहीं मानने पर भी काव्य में उसका महत्व असन्दिग्ध है।

5.4 अलंकार

5.4.1 अलंकार का लक्षण

अलंकार शब्द–अलम् पूर्वक कृ धातु के प्रयोग से "अलङ्क्रियते अनेन" अथवा 'अलंकरोति' व्युत्पत्ति करने पर करण या भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है जिस पदार्थ या तत्व के द्वारा कोई वस्तु सुशोभित की जावे, उसके सौंदर्य में वृद्धि हो, वह पदार्थ या वस्तु अलंकार कहलाता है।

"वैचित्र्यम् अलंकारः" अथवा 'सौन्दर्यमलङ्कारः' कहकर भी विचित्रता एवं सौन्दर्य को अलंकार की कसौटी कहा है। जिस भाँति भौतिक शरीर को हार, कुण्डल इत्यादि अलंकार अलङ्कृत करते

हैं उसी प्रकार शब्द अर्थ रुपी शरीर वाले काव्य को भी उपमा, रुपक इत्यादि अलंकार अलङ्कृत करते है।

5.4.2 अलंकार का विकास क्रम

संस्कृत साहित्यशास्त्र में अलप्रार विषयक दो मत प्रचलित हैं।

1. अलंकारवादियों का
2. ध्वनिवादी आचार्यों का

भामह, दण्डी, उद्भट अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य है। इनके साथ जयदेव, रुद्रट तथा प्रतिहारेन्दुराज का भी नाम लिया जा सकता है। डॉ. एस. के दे ने 'संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास' नामक पुस्तक में दण्डी को अलंकार सम्प्रदाय का आचार्य न मानकर रीतिगुण सम्प्रदाय का आचार्य बताया है।

जबकि वी. राघवन दण्डी को अलंकार शास्त्र के ही आचार्य घोषित करते हैं।

Really Dandin belongs to the Alamkara school much more than Bhamaha.

- Raghavan : some concept of Alamkara Shastra P-139

अलंकारवादियों ने काव्य में अलप्रार तत्व को प्रधानता दी हैं भामह कहते हैं–

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्'

अर्थात् सुन्दर स्त्री का मुख आभूषण रहित पर जैसे शोभायमान नहीं होता है वैसे ही सरस काव्य की शोभा भी अलंकारों से ही होती है। दण्डी ने तो –

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।
ते च अद्यापि विकल्प्यन्तें कस्तान् कात्स्र्येन वक्ष्यति।। (काव्यादर्श 2.1)

कहकर काव्य के शोभाकर सभी धर्मो को अलंकार कह डाला है। वामन ने तो सौंदर्य को अलंकार मानकर ही काव्य की ग्राह्यता प्रतिपादित की है।

'काव्यम् ग्राह्ययमलंकारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः।' (काव्यालंकार सूत्र 1/1/1–2)

अलंकारसर्वस्वकार आचार्य रुय्यक की स्पष्ट सम्मति है कि प्राचीन आलंकारिको के मत से अलंकार ही काव्य में प्रधान होते है।

तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्। (अलंकारसर्वस्व पृ.–7)

मम्मट के काव्यलक्षण में 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' से रुष्ट होकर चन्द्रालोककार आचार्य जयदेव ने अनुष्ण अग्नि एवं अलंकारहीन काव्य को समकक्ष रखते हुए कहा है–

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णत्वमनलंकृती।। (चन्द्रालोक 1/18)

भामह तथा उनके उत्तरवर्ती दण्डी आदि आचार्यों ने रस को नाटक का ही मुख्य विषय मानकर काव्य में अलंकारों को अङ्गी रुप में प्रतिपादित करके रस आदि को उसके अङ्ग रुप में, उपकारक रुप में सिद्ध किया है।

अलंकारवादी आचार्य रस व उसके अङ्गभूत तत्वों से परिचित थे। उन्होंने अङ्गीभूत रस को रसवत् अलंकार, भाव को प्रेय अलंकार, रसाभास एवं भावाभास को ऊर्जस्वि अलंकार तथा भावशान्ति को समाहित अलंकार माना है। भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता को उन्होंने अलंकार मानकर यही नाम दिया है।

इस भाँति भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि स्पष्ट रुप से काव्य में रस की अनिवार्यता

प्रतिपादित करते हैं किन्तु वे रस को अलंकार का ही एक रुप मानते हैं।

पी. वी. काणे अपनी पुस्तक **'संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास'** (पृ. 259) में स्पष्ट लिखते है "ये ग्रन्थकार रस के अस्तित्व से भली भाँति परिचित थे। किन्तु इन्हें सामान्य काव्य पर कैसे घटाया जाय, इसका इन्हे ज्ञान नहीं था। इन्हें काव्य में अलंकार महत्वपूर्ण लगते थे यहाँ तक कि इन्होंने रसों को अलंकारों से गौड माना और इनका रसवत् इत्यादि अलंकारों के रुप में उल्लेख कर दिया।"

अलप्रारत्व के प्राधान्य पर प्रथम प्रबल प्रहार ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन द्वारा किया गया था। ये ध्वनि को काव्य की अत्मा मानकर गुण, रीति एवं अलंकारों का विचार उसके अङ्ग के रुप में करते हैं।

इनकी स्पष्ट मान्यता है कि काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की शोभा को बढ़ाने वाले इन अलंकारों का प्रयोग रसों के उपकारक के रुप में ही किया जाना चाहिये।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन का मत है–

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गारिताहत्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्।। (ध्वन्यालोक– 2.7)

काव्यप्रकाशकार मम्मट भी इसी मत के समर्थक है उनके अनुसार जो धर्म अङ्गीभूत रस का हार इत्यादि के समान कभी उपकार करते है वे अलंकार कहलाते हैं।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलप्रारस्तेऽनुप्रासोपमादयः।। (काव्यप्रकाश 8/88)

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में (अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति), हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में (अङ्गाश्रिता त्वलंकाराः) पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में (काव्यात्मानो व्यङ्गयस्य रमणीयताप्रयोजका त्वलंकाराः) एवं विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में–

शब्दार्थयोरस्थिराः धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्गन दिवत्।। (सा.द. 10.1)

कहकर आनन्दवर्धन के हो मत ही पुष्टि की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भरत के पश्चात् तथा आनन्दवर्धन से पूर्व साहित्य शास्त्रियों ने काव्य में अलंकारों को अङ्गी रुप में प्रतिष्ठित किया। किन्तु ध्वनिवादी आचार्यो ने अलंकारों को काव्य की शोभा का आधायक तत्व मानकर गौण स्थान दिया। उनकी मान्यता रही कि काव्य में अलंकारों की रचना रस की अपेक्षा से होनी चाहिये। परवर्ती साहित्यशास्त्रियों ने मम्मट इत्यादि की पद्धति को ही अङ्गीकार कर काव्य में अलंकारों का चित्रण किया है।

5.4.3 अलंकार विभाजन के दो मत

1. आश्रयाश्रयि भाव
2. अन्वयव्यतिरेकि भाव

1. आश्रयाश्रयि भाव

रुय्यक के अनुसर 'योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकार' अर्थात् जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है वह उसका अलंकार होता है यदि अलंकार शब्द पर आश्रित है तो शब्दालंकार और अर्थ पर आश्रित है तो अर्थालंकार, शब्द एवं अर्थ दोनों पर आश्रित है तो उभयालंकार कहा जाएगा।

2. **अन्वयव्यतिरेकिभाव**

योऽलंकारो यदीयावन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारः।

मम्मट के अनुसार अन्वयव्यतिरेक भाव अलंकार के शाब्दत्व या आर्थत्व के निर्णय का आधार है। यदि शब्द विशेष के रहने पर अलंकार विशेष रहे और न रहने पर न रहे, तो अन्वयव्यतिरेकभाव से नियन्त्रित होने के नाते उसे शब्दालंकार कहा जाएगा। यदि शब्दपरिवर्तन कर देने पर भी अलंकार रहे तो वह अर्थालंकार होगा।

5.4.4 अलंकार के नियामक तत्व

उक्ति की विचित्रता ही अलंकार है। यह उक्ति जब काव्यगत चमत्कार को उत्पन्न करती है, तो वही अलंकार है। अलंकारों के मूल के विषय में आचार्यों ने निम्न मत प्रतिपादित किए हैं–

1. अलंकारों का मूल वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति

भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का मूल कहा है। यह सब अलंकारों में रहती है अतः कवि को इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यं कोऽलप्रारोऽनया विना।। (काव्यालंकार 2.85)

दण्डी अतिशयोक्ति को अलंकारो के अलंकारत्व का आधार मानते है।

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।। (काव्यादर्श 2.20)

ध्वनिवादी आचार्यो में आनन्दवर्धन, मम्मट एवं अभिनवगुप्त ने भी वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को ही अलंकारों का मूल माना है। इनका कहना है– जिस अलंकार में कवि की प्रतिभा के द्वारा अतिशयोक्ति रहती है वहीं चारुत्व होता है यह सर्वालंकार रुप है।

"तेनातिशयोक्ति सर्वालंकारसामान्यम्। तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात् तस्य चारुत्वातिशययोगोऽस्य त्वलंकार मात्रतैवेति_____" (ध्वन्यालोक 3.27 की वृत्ति)

अलंकारों का मूल उपमा

अप्पय दीक्षित ने उपमा को सब अलंकारों का एकमात्र मूल तत्व माना था।

अलंकारों का मूल वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष

रुद्रट ने अलंकारों को मूल वास्तव, औपम्य अतिशय तथा श्लेष को माना है।

इन्हीं आधारों पर आगे चलकर अलंकारों का वर्गीकरण किया गया है–

5.4.5 अलंकारों का वर्गीकरण

अलंकारों का सर्वप्रथम विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र में है और उसमें चार अलंकार बताये गए हैं– उपमा, रुपक, दीपक एवं यमक। इनमें से एक शब्दालंकार (यमक) एवं अन्य अर्थालंकार हैं। इनके उपरान्त–

भामह ने 38 – दो शब्दालंकार 36 अर्थालंकार

दण्डी ने 37 – दो शब्दालंकार 35 अर्थालंकार

उद्भट ने 41 – चार शब्दालंकार 37 अर्थालंकार

वामन ने 31 – दो शब्दालंकार 29 अर्थालंकार

बताए हैं। धीरे–धीरे यह संख्या बढ़ती गई एवं कुवलयानन्द तक यह संख्या 123 हो गई।

रुद्रट ने काव्यालंकार में अलंकारों की विवेचना अधिक वैज्ञानिक तथा विशद रुप से की है। उन्होंने अलंकारों के दो वर्ग किए शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। पुनः अर्थालंकारों को चार भागों में बाँटा–वास्तव, औपन्य, अतिशय एवं श्लेष

भोज ने 72–24 शब्दालंकार 24 अर्थालंकार 24 उभयालंकार

मम्मट ने 68–6 शब्दालंकार 62 अर्थालंकार

आचार्य रुय्यक ने अलकारों का विशेष वर्गीकरण किया उन्होंने अलंकारों के दो वर्ग किए–

1. शुद्ध अलंकार → शब्दालंकार, अर्थालंकार
2. मिश्र अलंकार → संसृष्टि तथा संकर

1.	अर्थपुनरुक्ति	–	पुररुक्तवदाभास अलंकार
2.	व्यंजनपुनरुक्ति	–	छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास अलंकार
3	स्वरव्यंजनपुररूक्ति	–	यमक अलंकार
4.	शब्दार्थोभयपुनरुक्ति	–	लाटानुप्रास अलंकार
5.	स्थानाविशेषणश्लिष्टवर्णपुनरुक्ति	–	चित्र अलंकार

अर्थालंकार

1.	सादृश्यमूलक	–	उपमा, रुपक आदि
2.	विरोधमूलक	–	विरोध, विभावना आदि
3.	काव्यन्यायमूलक	–	पर्याय, परिवृत्ति आदि
4.	लोकन्यायमूलक	–	प्रत्यनीक, मीलित आदि
5.	शृंखलाबंन्धमूलक	–	कारणमाला, एकावली आदि
6.	तर्कन्यायमूलक	–	काव्यलिंग, अनुमान आदि
7.	गूढार्थप्रतीतिमूलक	–	व्याजोक्ति, सूक्ष्म आदि

अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द में सर्वाधिक 123 अलंकारों का विवेचन है जिनमें से 100 विशुद्ध अलंकार हैं 7 रसवादादि अलंकार हैं, 10 प्रमाणालंकार एवं 6 मिश्र अलंकार है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रसगंगधर में उपमा से लेकर उत्तर अलंकार तक 100 अलंकारों की विवेचना की है। इस भाँति भरत से लेकर जगन्नाथ पर्यन्त अलंकारों का स्वरुप निरन्तर परिवर्धित होता रहा है।

5.4.6 अलंकार सम्प्रदाय का महत्व

इस सम्प्रदाय के प्राचीन्त्व तथा महत्व का परिचय इसी घटना से लगता है कि इसी के नाम पर ही समस्त आलोचनाशास्त्र को अलंकार शास्त्र के नाम से अभिहित किया जाता है।

भामह, दण्डी आदि प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों ने जिस अलंकार तत्व को काव्य में सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा अनिवार्य तत्व प्रतिपादित किया था ध्वनिवादी आचार्यों ने उस अलंकार तत्व के महत्व को कम कर दिया। उन्होंने अलंकारों को काव्य के मूल तत्व रस का उपकारक कह कर उसे बाह्य सौन्दर्यबोधक तत्व माना और उसकी अनिवार्यता का विरोध किया।

इतना होने पर भी ध्वनिवादी अलंकार तत्व की ओर से उदासीन नहीं रह सके और उन्होंने अपने

ग्रन्थों में अलंकार की विस्तृत विवेचना की है। मम्मट का काव्यप्रकाश, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण तथा पण्डितराज जगन्नाथ का रसगंगाधर इसका साक्षी है। इतना ही नहीं मम्मट ने तो काव्यलक्षण में 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' कहकर काव्य में अलंकार को स्थान तो दिया चाहे वह स्थान गौण ही क्यों न हो। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनिवादी आचार्य भी काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता से सहमत थे।

5.5 सारांश

वृत्ति से तात्पर्य है नटों की क्रिया या व्यापार जिसका रुपक में प्रदर्शन होता है। वृत्ति केवल वही नहीं हैं जिसका शरीर के विभिन्न अंगों से प्रदर्शन किया जाए, अपितु मन तथा वागिन्द्रिय का व्यापार भी वृत्ति है।

नाट्य में चार वृत्तियाँ ही हो सकती हैं। रंगमंच पर उपस्थित अभिनेता वचनों द्वारा मनोगत अभिप्राय का प्रकाशन करता है तथा नाना प्रकार के चेष्टायें दिखलाकर भावप्रकाशन को स्पष्ट तथा पुष्ट करता है। वचन से सम्बन्ध रखने वाली वृत्ति भारती है। चेष्टा दो प्रकार की होती है– सात्विक अभिनय तथा आंङ्गिक अभिनय। सात्विक अभिनय अभिनेता के हृदयगत भावों की पर्याप्त रुपेण अभिव्यक्ति करता है यह अभिनय गूढ तथा सूक्ष्म भावों को प्रस्तुत करने में समर्थ होता है अतः यह है सात्वती वृत्ति।

अभिनेता अपने अंगों के संचालन एवं चेष्टाओं से भी भावों को प्रकाशित करता है। यह दो प्रकार से होता है जब क्रोध, भय आदि उग्र भावों का प्रदर्शन अभीष्ट होता है, तब चेष्टा भी तदनुरुप होती है। यह उग्र व्यापार या उग्र अभिनय आरभटी वृत्ति हुआ। इसके अरिक्ति जब प्रेम, रति, हास्य को दिखाता है एवं मृदु संभाषण संगीत नृत्य द्वारा सौकुमार्य का प्रदर्शन करता है यह मृदुल आंगिक अभिनय होता है कैशिकी वृत्ति।

काव्य में रसविधान विषयक अध्ययन अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय का गहन था। भामहादि अलंकारीवादी रस को काव्य का बहिरंग साधन मानते हैं। किन्तु वामन उसे अन्तरंग धर्मो में परिगणित कर इसकी महत्ता स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार रस अर्थ गुण कान्ति के रुप में काव्य में आता है। कान्ति का लक्षण है 'दीप्तरसत्व'।

इस प्रकार कान्ति गुण के भीतर रस का अन्तर्भाव कर रस की महत्ता स्वीकार की गई है। इस सम्प्रदाय के प्राचीनत्व तथा महत्व का परिचय इसी घटना से लगता है कि इसी के नाम पर ही समस्त आलोचनाशास्त्र को अलंकार शास्त्र के नाम से अभिहित किया जाता है। भामह, दण्डी आदि प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों ने जिस अलंकार तत्व को काव्य में सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा अनिवार्य तत्व प्रतिपादित किया था ध्वनिवादी आचार्यों ने उस अलंकार तत्व के महत्व को कम कर दिया। उन्होंने अलंकारों को काव्य के मूल तत्व रस का उपकारक कह कर उसे बाह्य सौन्दर्यबोधक तत्व माना और उसकी अनिवार्यता का विरोध किया।

5.6 बोध प्रश्न

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. आचार्य अभिनव गुप्त प्रोक्त वृत्ति की परिभाषा दीजिये।
2. आचार्य भरत ने किन वृत्तियों का उद्गम किस वेद से बताया है?
3. आचार्य उद्भट का वृत्ति विभाग बतायें?
4. रुद्रट द्वारा बताई गई 5 शब्दवृत्तियों का उल्लेख करें?
5. भारती वृत्ति के भेदों का उल्लेख करें?
6. कैशिकी वृत्ति के भेद लिखें?

7. सात्वती वृत्ति की दो प्रमुख विशेषताएं लिखें?
8. वृत्ति का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए वृत्तियों के उद्‌गम से सम्बन्धित पौराणिक कथा बताइये?
9. वृत्तियों की संख्या विषयक विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुए भारती वृत्ति का परिचय दीजिये?
10. निम्नलिखित में से किन्हीं दो का संक्षिप्त परिचय दें?
    (1) सात्वती वृत्ति
    (2) कैशिकी वृत्ति
    (3) आरभटी वृत्ति
    (4) भारती वृत्ति
11. रीति शब्द की व्युत्पत्ति बताइये।
12. रीति की प्रतिष्ठापक आचार्य का नामोल्लेख करें।
13. भोज द्वारा स्वीकृत रीतियों के नाम लिखिये।
14. वामन के अतिरिक्त और किस अलंकार शास्त्री ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।
15. रीति के सर्वमान्य चार भेदों का उल्लेख करें।
16. वैदर्भी रीति किस–किस संस्कृत कवियों की मान्य रीति है?
17. पांचाली रीति की प्रमुख दो विशेषता लिखें।
18. गौडी रीति की दो विशेषताऐं लिखें।
19. रीति का लक्षण बताते हुए रीति के उद्‌गम व विकास पर एक लेख लिखें;
20. 'रीति के भेद' की संक्षिप्त विवेचन करें।
21. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी करें–
    (1) वैदर्भी रीति
    (2) पांचाली रीति
    (3) गौडी रीति
21. आचार्य भरत द्वारा बताये गए चार अलंकारों का उल्लेख करें?
22. अलंकारों के विषय में प्रचलित दो सिद्धान्तों का उल्लेख करें?
23. अलंकार कितने प्रकार के हैं?
24. काव्य में अलंकार के प्राधान्य का विरोध करने वाले प्रथम आचार्य कौन से थे?
25. अलंकारवादियों ने रस, भाव, रसाभास एवं भावाभास का अन्तर्भाव किन अलंकारों में किया है?
26. अलंकारों के मूल तत्वों का उल्लेख करें?
27. सर्वाधिक अलंकारों (123) की गणना किस आचार्य द्वारा किस ग्रन्थ में की गई है?
28. अलंकार विषयक अलंकारवादियों का मत स्पष्ट कीजिये।
29. अलंकार विषयक ध्वनिवादियों के मत का उल्लेख करें।
30. अलंकारों के नियामक तत्वों की समीक्षा करें।
31. आचार्य रुय्यक के अलंकार वर्गीकरण का उल्लेख करें।
32. अलंकारों के विभाजन पर एक संक्षिप्त लेख लिखे।

33. अलंकारों के विकास क्रम का उल्लेख करें।

34. अलंकार सम्प्रदाय पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

5.7 उपयोगी पुस्तकें

1.	नाट्य शास्त्र	–	भरत मुनि
2.	साहित्य दर्पण	–	आचार्य विश्वनाथ
3.	नाट्यदर्पण	–	रामचन्द्रगुणचन्द्रकृत
4.	संस्कृत नाट्यकोश	–	डॉ. रामसागर त्रिपाठी
5.	दशरुपकम्	–	धनंजयकृत
6.	काव्यप्रकाश	–	आचार्य मम्मट टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर
7.	संस्कृत आलोचना	–	बलदेव उपाध्याय
8.	हिन्दी नाट्यशास्त्र	–	बाबूलाल शास्त्री शुक्ल
9.	संस्कृत आलोचना	–	बलदेव उपाध्याय
10.	संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास	–	पी.वी. काणे
11.	History & Sanskrit Poeties	–	एस. के. डे.
12.	रस गंगाधर	–	पण्डितराज जगन्नाथ
13.	काव्यलंकारसूत्राणि	–	आचार्य वामन
14.	काव्यालंकार	–	भामह
15.	Some Concept of Alamkar Sastra	–	वी. राघवन
16.	भारतीय साहित्यशास्त्र	–	बलदेव उपाध्याय
17.	भारतीय साहित्यशास्त्र एवं काव्यालंकार	–	भोलाशंकर व्यास
18.	भारतीय काव्यालोचन के सिद्धान्त	–	राजवंशसहाय 'हीरा'
19.	भारतीय काव्य शास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त	–	राजवंशसहाय 'हीरा'
20.	नाटकलक्षणरत्नकोश	–	सागरनन्दी

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. कायवाङ्–मनसा चेष्टा एव सह वैचित्र्येण युक्ता
2. ऋग्वेद में भारती, यजुर्वेद में सात्वती, सामवेद से कैशिकी, अथर्ववेद से आरभटी
3. आरभटी, भारती तथा फलसंवित्ति
4. मधुरा, पुरूषा, प्रौढ़ा, ललिता एवं भद्रा
5. प्रारोचना, आमुख, वीथी एवं प्रहसन
6. नर्म, नर्मस्फूज देखें 5.1.7
7. देखें 5.1.6

8. देखें 5.1.2 एवं 5.1.3
9. देखें 5.1.4 एवं 5.1.5
10. देखें 5.1.5 से 5.1.8
11. 'रीङ् गतौ' धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से रीति पद की व्युत्पत्ति हुई है जिसका अर्थ है गमन या मार्ग।
12. रीति के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं– वामन
13. वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली, लाटी, आवन्तिका एवं मागधी
14. आनन्द योगी ने अलंकार संग्रह ग्रन्थ में
15. वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली एवं लाटी
16. कालिदास एवं श्रीहर्ष
17. देखें 5.1.6
18. देखें 5.1.5
19. देखें 5.1.0 से 5.1.2 तक
20. देखें 5.1.3
21. देखें 5.1.4 से 5.1.6
22. उपमा, रुपक, दीपक एवं यमक
23. आश्रयाश्रयिभाव एवं अन्वयव्यतिरेकि भाव
24. तीन (1) शब्दालंकार (2) अर्थालंकार (3) उभयालंकार
25. ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन
26. रस को रसवत् अलंकार में, भाव को प्रेय अलंकार में एवं रसाभास एवं भावाभास को उर्जस्वि अलंकार में अन्तर्भाव किया है।
27. वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति, उपमा, वास्तव, श्लेष,
28. आचार्य अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थ कवलयानन्द में।
29. देखें 5.2.0
30. देखें 5.2.1
31. देखें 5.2.4
32. देखें 5.2.5
33. देखें 5.2.4
34. देखें 5.2.1
35. देखें 5.2.0 से 5.2.5 तक

इकाई – 6

काव्यात्मान्वेषण एवं ध्वनि सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यो की उपस्थापनाएँ

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 काव्य की आत्मा

6.2.1 रस सम्प्रदाय

6.2.2 अलंकार संम्प्रदाय

6.2.3 रीति सम्प्रदाय

6.2.4 ध्वनि सम्प्रदाय

6.2.5 वक्रोक्ति सम्प्रदाय

6.2.6 औचित्य सम्प्रदाय

6.3 काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य

6.3.1 भरत

6.3.2 भामह

6.3.3 दण्डी

6.3.4 उद्‌भट

6.3.5 वामन

6.3.6 रूद्रट

6.3.7 राजशेखर

6.3.8 कुन्तक

6.3.9 महिमभट्‌ट

6.3.10 क्षेमेन्द्र

6.3.11 भोजराज

6.3.12 विश्वनाथ

6.3.13 अप्पयदीक्षित

6.3.14 पंडितराज जगन्नाथ

6.1 ध्वनि सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों की उपस्थापनाएँ

6.1.1 आनन्दवर्धन

6.1.2 अभिनवगुप्त

6.1.3 मम्मट

6.5 सारांश

6.6 शब्दावली

6.7 बोध–प्रश्न

6.8 प्रमुख उपयोगी ग्रन्थ

6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

अब आप प्रथम प्रश्न–पत्र साहित्यशास्त्र : सिद्धान्त एवं समीक्षा की षष्ठ इकाई का अध्ययन करेंगे। इस इकाई में आप काव्य–शास्त्र के प्रमुख आचार्यों एवं सम्प्रदायों का अध्ययन करेंगे।

1. आपका परिचय काव्यशास्त्र के छः सम्प्रदायों से कराया जायेगा।
2. आप काव्यशास्त्र के प्रमुख 14 आचार्यों के विषय में जान सकेंगे।
3. आप ध्वनिसम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों के विषय में तथा उनकी उपस्थापनाओं के विषय में जान सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

साहित्यशास्त्र या काव्यशास्त्र के प्रणयन की सुदीर्घ परम्परा जो भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक अक्षुण्ण रूप से चली उसमें शब्द व अर्थ का साहित्य, काव्य का लक्षण उसके हेतु व प्रयोजन, काव्य के भेद, दृश्यकाव्य, श्रव्यकाव्य, रस, अलंकार, गुण व दोषों की समीक्षा की गयी लेकिन इनमें सबसे प्रमुख प्रश्न था काव्य के आत्मभूत तत्व का। काव्य का प्राणभूत वह कौन सा तत्त्व है जिसके रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है। काव्य में सबसे अधिक उपादेय और महत्वपूर्ण तत्व या अंग कौन सा है, इसके विषय में विभिन्न मत पाये गये हैं और इसी के आधार पर विभिन्न सम्प्रदायों की स्थापना हुई। जो समीक्षक रस को काव्य की आत्मा मानते हैं वे रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं। जिन्होंने अलंकारों को ही काव्य की आत्मा माना वे अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी कहे गये। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहने वाले रीति सम्प्रदाय के मानने वाले हुए। इसी प्रकार 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले ध्वनि सम्प्रदाय के संस्थापक व अनुयायी बने। 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' का उद्घोष करके वक्रोक्ति सम्प्रदाय के मानने वाले तथा औचित्य को काव्य की आत्मा मानने वाले औचित्य सम्प्रदाय के अनुयायी कहे गये। भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक दो हजार वर्षो तक जो भी साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ आचार्यों द्वारा रचे गये वे सभी इन छः सम्प्रदायों में से किसी न किसी को मानने वाले थे। अतः संस्कृत समीक्षा शास्त्र का मूल प्रश्न काव्य की आत्मा का अन्वेषण था। इसका हल खोजने में ही सम्प्रदायों का जन्म हुआ।

6.2 काव्य की आत्मा

भामह ने काव्य का लक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा' किया है अतः उन्होंने काव्य के

केवल शब्दार्थमय शरीर की चर्चा की। दण्डी ने भी मनोरम अर्थ से युक्त पदावली को काव्य का शरीर कहा– 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यच्छिन्ना पदावली।' इस काव्य शरीर में सर्वप्रथम प्राणप्रतिष्ठा करने का कार्य वामन ने किया। उन्होंने काव्य–शरीर की आत्मा के अनुसंधान करने का सर्वप्रथम प्रयत्न 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर किया। इस प्रकार काव्य की आत्मा क्या है? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न साहित्य–समीक्षकों के समक्ष उपस्थित हो गया। वामन के पश्चात् काव्य की आत्मा का निर्धारण आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहकर एवं पूर्ववर्ती आचार्यों के मत के आधार पर ध्वनि को सिद्ध किया। उनके अनुसार काव्य का जीवनाधायक तत्त्व ध्वनि ही है रीति या संघटना तो केवल काव्य के अवयव–संस्थान के समान ही हैं। राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में काव्य पुरूष की कल्पना की और ध्वनि में वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि को छोड़कर केवल रस–ध्वनि अर्थात् रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया। कुन्तक ने काव्यात्मान्वेषण को और आगे बढ़ाते हुए काव्य में न केवल शब्दार्थ के साहित्य को, न केवल रमणीय अर्थ से युक्त पदावली को न ही केवल रीति को, बल्कि 'वक्रकविव्यापारशालिनि' जिसमें ध्वनि और रस दोनों का समावेश है प्राणभूत तत्त्व माना। इसी क्रम में क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का प्रधानभूत तत्त्व स्वीकारते हुए 'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।' औचित्य सम्प्रदाय की स्थापना की।

इस प्रकार काव्य का लक्षण करते हुए शब्द और अर्थ के वैशिष्ट्य का अनुसंधान करते हुए उनकी तीन प्रकार की विशिष्टताऐं सामने आयी–

1. धर्म आधारित
2. व्यापार आधारित
3. व्यंग्य आधारित

धर्म दो प्रकार के हैं नित्य एवं अनित्य। अनित्य धर्म अलंकार है एवं नित्य धर्म गुण। अतः धर्मगत वैशिष्टय के आधार पर दो सम्प्रदाय अलंकार सम्प्रदाय एवं रीति सम्प्रदाय विकसित हुए।

व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है – 1. वक्रोक्ति 2. भोजकत्व। वक्रोक्ति उक्ति वैचित्र्य को ही कहते हैं, इसके आधार पर कुन्तक का वक्रोक्ति सम्प्रदाय विकसित हुआ एवं भोजकत्व व्यापार की कल्पना रस निरूपण में भट्टनायक ने की अतः रस सम्प्रदाय विकसित हुआ। व्यंग्यमूलक वैशिष्ट्य के आधार पर ध्वनि सम्प्रदाय का विकास माना जा सकता है।

अतः काव्यात्म तत्त्व का अन्वेषण एवं निर्धारण जो स्पष्ट रूप से वामन से प्रारंभ हुआ काव्य शास्त्र के छः प्रसिद्ध सम्प्रदायों में परिणत हुआ। इसका यह अर्थ नहीं है कि वामन से पूर्व सम्प्रदायों की स्थापना नहीं हुई थी। रस सम्प्रदाय के आदि आचार्य नन्दिकेश्वर माने गये हैं और भरत के नाट्यशास्त्र में इस को ही काव्य का प्राण माना गया। अग्निपुराण में स्पष्ट उक्ति है – **'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।'** काव्य में वक्रोक्ति से उत्पन्न चमत्कार के मुख्य होने पर भी रस ही उसका प्राण होता है। स्वयं भरत ने भी रस को ही काव्य का मौलिक या मूलभूत तत्व माना 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।' अब हम इन सम्प्रदायों के अनुयायी आचार्य एवं उनकी मान्यताओं को क्रमशः समझेंगे।

6.2.1 रस सम्प्रदाय

मम्मट ने अपने काव्य प्रयोजनों में 'सद्यः परनिर्वृत्ति' को सकलमौलिभूत प्रयोजन कहा है अर्थात् काव्य के श्रवण, पठन या दर्शन का मुख्य प्रयोजन सहृदय को तुरन्त आनन्द की प्राप्ति करवाना

है। अतः काव्य में रस ही प्राणभूत तत्त्व है।

रस को काव्यभूत जीवनाधायक तत्त्व भरत के समय से ही माना जाता रहा है। भरत ही रस संप्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रसों का और सातवें अध्याय में भावों का विस्तार से विवेचन किया है। उनके प्रसिद्ध रससूत्र –

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः'

की व्याख्या भिन्न–भिन्न व्याख्याकारों ने अपने–अपने मतानुसार की है। विशेष रूप से चार व्याख्याकार भट्टनायक, भट्टलोल्लट, शंकुक एवं अभिनवगुप्त अत्यधिक प्रसिद्ध हुए। उनके नाट्यशास्त्र पर लिखी गई अभिनवगुप्त की अभिनवभारती सर्वाधिक प्रचलित एवं प्रसिद्ध टीका है। भरत का रस–सूत्र ही रस सिद्धान्त का प्राणभूत है। काव्य चाहे श्रव्य हो या दृश्य उसका चरम लक्ष्य रसोन्मेष ही है। यद्यपि भरत ने नाट्य को नाट्यरस की संज्ञा दी है। रसनिष्पत्ति के प्रसंग में विभाव, अनुभाव, व्याभिचारिभाव आदि का विश्लेषण भी अत्यन्त सूक्ष्मता से किया गया है। रसानुभूति के संबंध में विभिन्न मत पाये जाते हैं। भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद, शंकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद तथा अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद। रसों की संख्या के विषय में भी मतभेद पाये जाते हैं। नाट्य या दृश्यकाव्य में आठ ही रस स्वीकार किये गये हैं एवं शान्त रस का निषेध किया गया है। श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, वीभत्स, भयानक, अद्‌भुत तथा शांत इन नौ रसों के अतिरिक्त रूद्रट ने प्रेयान् नामक रस को, विश्वनाथ ने वात्सल्य को तथा गौडीय वैष्णवों ने मधुरस को रसों की श्रेणी में जोड़ा है।

अन्य सभी सम्प्रदायों की तुलना में रस–सम्प्रदाय सबसे अधिक प्राचीन एवं आलंकारिकों में सर्वमान्य है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि में रसध्वनि को मुख्य तथा काव्य की आत्मा माना है। भोजराज ने स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति तथा रसोक्ति में से रसोक्ति को विशेष चमत्कारयुक्त कहा है। विश्वनाथ ने तो रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।'**

रस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं भरत, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, शारदातनय रूपगोस्वामी आदि।

6.2.2 अलंकार सम्प्रदाय

भामह को अलंकार सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। उद्‌भट, दण्डी, रूद्रट, प्रतिहारेन्दुराज, जयदेव आदि आचार्य भी इसो सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। ये सभी अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। जैसे अग्नि में उष्णता उसका प्राणाधायक तत्व है उसी प्रकार अलंकार भी काव्य का जीवन है। चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव मम्मट के काव्यलक्षण में आये हुए 'अनलंकृती पुनः क्वापि' पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं –

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनंलकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलङ्‌कृती।। (चन्द्रालोक 1/8)

अलंकाररहित काव्य की कल्पना को उन्होंने उष्णतारहित अग्नि के समान माना है। काव्य में रस एवं ध्वनि की सत्ता को अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य भी स्वीकार करते हैं किंतु उसके प्राधान्य का निषेध करते हैं। वे रस का अन्तर्भाव रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्विन् और समाहित नामक चार प्रकार के रसवदलंकारों में करते है।

'रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसं यथा। (भामह काव्यालंकार 3/6)

दण्डी ने भी आठों रसों और स्थायी भावों को रसवत् अलंकारों में ही निर्दिष्ट किया है। रस का समावेश उन्होंने माधुर्यगुण में भी किया है।

'मधुरे रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। (दण्डी काव्यादर्श।' 3/5)

रूद्रट ने प्रतीयमान अर्थ का समावेश 'भाव' नामक अलंकार में कर लिया। अलंकारों का महत्व सभी सम्प्रदायों ने स्वीकार किया, यहां तक कि उसके महत्व को दर्शाने के लिये काव्यशास्त्र के लिये अलंकारशास्त्र शब्द भी काफी प्रचलित रहा।

भरत के नाट्यशास्त्र में चार अलंकारों यमक, उपमा, रूपक और दीपक का ही उल्लेख मिलता है लेकिन इनका क्रमशः विकास होते होते इनकी संख्या 100 से भी अधिक हो गई। भरत ने जिन 36 लक्षणों का विवेचन किया है परवर्ती आलंकारिकों ने उन्हें अलंकार में सम्मिलित कर लिया।

अलंकारों के मूल विभेदक तत्वों पर भी आलोचकों द्वारा विचार किया गया है। रूद्रट ने औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष इन चार को अलंकारों के विभाजन का मूल कारण माना है जबकि रूय्यक ने औपम्य, विरोध, लोकन्यायादि को।

6.2.3 रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक वामन ने अलंकार के स्थान पर रीति की प्रधानता की स्थापना की। काव्य में आत्मतत्त्व का प्रश्न उठाने वाले वे प्रथम आचार्य हैं उन्होंने बलपूर्वक रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकारते हुए कहा

'रीतिरात्मा काव्यस्य।' (काव्यालंकार सूत्र 1/2/6)

विशिष्ट पद रचना रीति है –

'विशिष्टा पदरचना रीतिः।' (का.सू. 1/2/7)

प्रत्येक कवि की अपने मनोगत भावों को अभिव्यक्त करने की अपनी विशिष्ट शैली होती है इसीलिये दंडी का कथन है कि रीतियाँ अनन्त हैं।' रीति गुणों पर अवलम्बित है क्योंकि पदों में विशिष्टता गुण ही लाते हैं, गुणों के अभाव में पद सामान्य होते हैं।.

'विशेषो गुणात्मा।' (का.सू. 1/2/8)

इसीलिये रीति सम्प्रदाय को गुण सम्प्रदाय भी कहा जाता है। गुण काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अंतरंग धर्म हैं क्योंकि वे रस में रहते है। गुणों की स्थिति काव्य में सदा अचल रूप में रहती है।

गुणों की प्रधानता स्वीकार करने के साथ ही उनकी विस्तृत व्याख्या वामन ने की है। भरत ने नाट्य शास्त्र में जिन दस गुणों–श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कांति का उल्लेख किया है एवं दंडी ने भी इन्ही दस गुणों को शब्दगत और अर्थगत वैशिष्ट्य के साथ माना है, वामन ने उन्हीं दस के दो भेद करते हुए बीस गुणों को मान्यता दी और प्रत्येक का लक्षण किया। वामन ने गुणों को काव्य शोभा के उत्पादक धर्म मानकर **'काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः'** उनको प्रधान तथा अलंकारों को शोभावर्धक

धर्म **'तदतिशय हेतस्त्वलंकारा'** मानकर उन्हें गौण माना। भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में 24 प्रकार के गुण माने हैं एवं उनके तीन भेद – बाह्य, आन्तर एवं वैषयिक किये हैं। भामह, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथादि ने माधुर्य, ओज एवं प्रसाद तीन ही गुण माने एवं अन्य सभी गुणों का अन्तर्भाव इन तीन में कर दिया।

रीति का प्राचीन नाम मार्ग था। भामह एवं दंडी ने भी वैदर्भ मार्ग और गौड मार्ग का उल्लेख किया है। भामह के अनुसार न तो वैदर्भ मार्ग प्रशंसनीय है और न ही गौड मार्ग निंदनीय है जैसा कि दंडी मानते हैं अपितु काव्य के शोभन गुणों पर ही ध्यान दिया जाना चाहिये। दंडी की दृष्टि में वैदर्भ मार्ग दस गुणों से युक्त है अतः कवियों के लिये आदर्श है जबकि गौड मार्ग त्याज्य एवं अस्पृहणीय है।

दंडी ने दो ही रीतियाँ मानी हैं। वक्ता, वाच्य, विषय एवं रस का औचित्य रीति के नियामक तत्व है। रीति कवि के स्वभाव पर आश्रित है। कालिदास एवं श्रीहर्ष वैदर्भी रीति के एवं भवभूति एवं भट्टनारायण गौड़ी रीति के कवि हैं। वामन ने तीन रीतियाँ मानी।

1. वैदर्भी
2. गौड़ी और
3. पांचाली।

वैदर्भी रीति में समस्त दस गुण रहते हैं, गौड़ीय रीति में केवल ओज और कांति तथा पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुण ही रहते हैं। राजशेखर ने भी वैदर्भी, मागधी और पांचालिका इन तीन रीतियों का उल्लेख किया है। रूद्रट ने चौथी लाटीया रीति और भोज ने आवन्ती और मागधी मिलाकर छः रीतियाँ कर दी। वामन की तीन रीतियाँ ही अधिक मान्य हुईं। मम्मटादि ने रीतियाँ स्वीकार तो कीं लेकिन काव्यात्म रूप में नहीं काव्य–शरीर के अवयव संस्थान के रूप में ही **'रीतयोऽवयवसंस्थान विशेषवत्।'** ये रीतियाँ शरीर के अवयवों के समान उपयोगी एवं शोभाजनक होते हुए भी आत्मा का स्थान नहीं ले सकतीं। अतः रीति को काव्य की आत्मा उद्घोषित करने वाले प्रमुख आचार्य वामन ही थे और दंडी उनके समर्थक।

कुंतक ने रीतियों का नामकरण भौगोलिक आधार पर न करके कवि के स्वभाव के साथ जोड़ते हुए उन्हें सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग एवं मध्यम मार्ग नाम दिया।

6.2.4 ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनि सम्प्रदाय अलंकार शास्त्र में सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं मान्य है। काव्य के अन्तरस्तत्त्व की व्याख्या करते हुए ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि की उद्भावना की है। इसका मुख्य श्रेय आनन्दवर्धन को जाता है। उन्होंने ध्वनिविरोधी मतों को परास्त कर ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना की।

उत्तम काव्य वह है जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त हो। अर्थ मुख्यतः दो प्रकार के हैं – 1. वाच्य एवं 2. प्रतीयमान। वाच्य में अलंकार का और प्रतीयमान में ध्वनि का समावेश होता है। प्रतीयमान अर्थ की सत्ता कामिनी के शरीर में लावण्य के समान काव्य के अंगों से पृथक चमत्कार जनक एवं नित्य होती है। आनन्दवर्धन के अनुसार–

प्रतीयमानं पुररन्यदेव,
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यामिवाङ्गनासु।। (ध्वन्यालोक 1/4)

ध्वनि की स्थापना काव्य के अन्य अंगों से पृथक कर स्वतंत्र रूप में की गयी। वाल्मिकि, व्यास, कालिदास के ग्रन्थ सभी उत्तमकाव्य ध्वनि के ही उदाहरण थे किंतु उसे स्वतंत्र तत्त्व के रूप में आनन्दवर्धन ने ही स्थापित किया। अभिनवगुप्त द्वारा उसकी लोचन टीका लिखकर उसे सिद्धान्त रूप में दृढ़ता प्रदान की गई। मम्मट ने ध्वनि को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित कर दिया। इसीलिये उन्हें **'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य'** की संज्ञा से विभूषित किया गया। वैयाकरणों ने जिसे 'स्फोट' कहा है – **'स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः** अर्थ जिस शब्द से स्फुटित होता है वह स्फोट और इस स्फोट को अभिव्यक्त करने का कार्य जो उच्चरित शब्द करता है उसे ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि मुख्यतः तीन प्रकार की है –

1. रस ध्वनि
2. अलंकार ध्वनि
3. वस्तु ध्वनि

1. रसध्वनि में सभी नौ रस, भाव, भावाभास, रसाभास, भावोदय, भावशांति एवं भावशबलता भाव–सन्धि आदि की भी गणना है। वस्तु एवं अलंकार की अपेक्षा रसध्वनि ही मुख्य है।

ध्वनि का खंडन करने वाले प्रमुख आचार्य है। मुकुलभट्ट, भट्टनायक, प्रतिहारेन्दुराज, कुंतक, महिमभट्टादि।

ध्वनिवादी आचार्यों के मत की विवेचना इकाई 4.4 में विस्तार से की जायेगी।

6.2.6 औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य की कल्पना यद्यपि प्राचीन है किंतु इसे स्वतंत्र रूप से सम्प्रदाय की मान्यता क्षेमेन्द्र द्वारा ही दिलाई गयी है। भरत नाट्य में औचित्य को परम आवश्यक मानते थे। उनका कथन है –

'अदेशजो हि वेशस्तु न शोभा जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते।।

आनन्दवर्धन ने भी अनौचित्य को ही रसभंग का मुख्य कारण माना है। औचित्य के द्वारा वस्तु का उपनिबन्धन एवं काव्य में कल्पना और विधान ही रस के उन्मेष में समर्थ होते हैं –

अनौचित्याद् ऋते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्यौपनिषत्परा।। (ध्वन्यालोक)

आनन्दवर्धन ने ध्वनि ओर औचित्य को परस्पर 'उपकारक' माना है। क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ औचित्यविचारचर्चा में औचित्य के विषय में कहा है –

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशः किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते।। (औचित्यविचारचर्चा, 7)

अर्थात् जो वस्तु सदृश हो, जिससे उसका मेल मिले उसे उचित कहते हैं और उचित का भाव ही औचित्य है।

इस औचित्य को ही उन्होंने काव्य रस का जीवित, प्राण और चमत्कार माना है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरूते अधुना।। (औचित्यविचार चर्चा, 3)

क्षेमेन्द्र ने पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग तथा वचन के आधार पर औचित्य के कुल 27 भेद किये हैं। इनके द्वारा प्रदर्शित औचित्य के भेद ध्वन्यालोक में भी पाये जाते हैं। न तो गुण ही और न अलंकार औचित्य तत्व के बिना शोभा धारण कर सकते हैं।

औचित्येन विना रूचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः।

6.2.5 वक्रोक्ति सम्प्रदाय

सम्प्रदायों की स्थापना के संबंध में यह ध्यान देने योग्य है कि सभी अलंकार शास्त्रियों ने काव्य–समीक्षा के प्रमुख अंगों, रीति, अलंकार, गुण, रस, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्यादि की विवेचना संक्षेप या विस्तार से की, उन पर अपना मत या विरोध प्रस्तुत किया किंतु उन्होंने काव्य की आत्मा इनमें से किसी एक तत्व को ही माना और इस प्रकार वे किसी एक सम्प्रदाय के अनुयायी या प्रवर्तक हुए।

'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग वक्रोक्ति सम्प्रदाय की स्थापना से बहुत पहले से प्रचलन में था। बाणभट्ट ने कादम्वरी में इसका प्रयोग क्रीडालाप के अर्थ में किया। अमरूकशतक में 'सुन्दर उक्ति' अर्थ में यह प्रयुक्त हुआ है। सामान्य कथन से काव्य की उक्ति अधिक चमत्कार जनक होनी चाहिये यही वक्रोक्ति का तात्पर्य है। भामह ने अतिशयोक्ति का ही दूसरा नाम वक्रोक्ति कहा है। वे अलंकारों में वक्रोक्ति को अत्यन्त आवश्यक मानते हैं – **वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते** अर्थात् वक्र अर्थ का कथन शब्दों के लिए अलंकार का कार्य करता है। अभिनवगुप्त भी लोक में व्यवहृत शब्द एवं अर्थ के विलक्षण रूप में होने को वक्रोक्ति मानते हैं।

शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता।
लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्।।

दंडी ने सम्पूर्ण साहित्य का ही विभाजन स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में किया है। स्वभावोक्ति यथार्थ वर्णन है और वक्रोक्ति में अतिशयता विद्यमान होती है अतः उपमा रसवद् आदि अलंकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते हैं।

वामन की दृष्टि में वक्रोक्ति सादृश्य पर आश्रित लक्षणा है।

सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति :

रूदट् ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार माना है, किन्तु वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्व या आत्मा मानते हैं। उनके मत में वक्रोक्ति का लक्षण है 'वैदग्ध्य–भंगीभणितिः' अर्थात् किसी वस्तु का साधारण कथन न करके अलौकिक ढ़ंग से कथन करना। भामह से लेकर वक्रोक्ति की जो यात्रा अलंकार के मूल तत्व के रूप में प्रारम्भ हुई, वामन के समय में लक्षणा के रूप में अर्थालंकार में स्वीकृत हुई, रूद्रट के काल में शब्दालंकार मानी गई, कुन्तक तक आते–आते काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। काव्य में रस एवं

ध्वनि भी कुन्तक को मान्य थे किंतु जीवनाधायक तत्व के रूप में नहीं।

कुंतक ने वक्रोक्ति के 6 भेद किये –

1. वर्णवक्रता
2. पदपूर्वार्ध–वक्रता
3. पदोत्तरार्ध वक्रता
4. वाक्य वक्रता
5. प्रकरण वक्रता
6. प्रबन्ध– वक्रता

प्रबन्ध वक्रता में कुन्तक ने नाटकीय कथानकों के भीतर किये गये अन्तरों पर भी ध्यान दिया और उनका औचित्य सिद्ध किया इन्होंने अपनी वक्रोक्ति की कल्पना में ध्वनि के सभी भेदों को समेट लिया। उपचार वक्रता के भीतर इन्होंने ध्वनि के बहुत सारे भेदों का समावेश किया है। ध्वनि सिद्धान्त के आचार्यों ने वक्रोक्ति को स्वीकार किया किंतु उन्हें ध्वनि में ही अन्तर्भुक्त कर लिया।

6.3 काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य

संस्कृत के काव्यशास्त्र का इतिहास भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ एवं उसके बाद भी निरन्तर चला आया है जिसमें लगभग 50 आचार्य, 6 सम्प्रदाय एवं अनेकों ग्रन्थ रत्न उभर कर आये। उनमें से कुछ प्रमुख आचार्यों एवं उनकी रचनाओं का परिचय अब आप प्राप्त करेंगे। संस्कृत आलोचना अपने में पाश्चात्य आलोचना के तीन शास्त्रों – पोइटिक्स, रेटारिक तथा एस्थेटिक्स का समावेश करते हुए काव्य के (दृश्य एवं श्रव्य) सभी अंगों का विस्तृत विवेचन करती है। श्रव्य काव्य की आलोचना का प्रारम्भ छठी शताब्दी में भामह से हुआ लेकिन दृश्य काव्य की आलोचना का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में नटसूत्रों द्वारा मिलता है और भरत के नाट्यशास्त्र में तो सम्पूर्ण विकसित रूप में देखने को मिलता है।

6.3.1 भरत

भरत का काल विद्वानों द्वारा विक्रम पूर्व पंचम शती से लेकर विक्रम की दूसरी शताब्दी के मध्य निर्धारित किया गया है। भरतमुनि की रचना नाट्यशास्त्र न केवल आलोचना का ग्रन्थ है अपितु वह समस्त कलाओं का विश्व कोष है। जैसा कि स्वयं भरत ने कहा है –

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।

नाट्य के समान ही इस नाट्यशास्त्र में भी इन सभी ललित एवं उपयोगी कलाओं का बृहत् संगम पाया जाता है। यह एक युग की रचना न होकर अनेक सहस्त्राब्दियों का सामूहिक साहित्यिक प्रयास है। इसके प्राचीन संस्करण में 12,000 श्लोक थे किंतु, वर्तमान में उपलब्ध संस्करण 6000 श्लोकों एवं 36 अध्यायों का है। मूल ग्रन्थ सूत्र भाष्यात्मक था, बाद में कारिकायें एवं अनुवंश्य श्लोक जोड़े गयें। इन दोनो संस्करणों का उल्लेख शारदातनय ने अपने ग्रन्थ भाव प्रकाशन में किया है।

इसके प्रारम्भिक अध्यायों में नाट्य की उत्पत्ति तथा अभिनय से सम्बंधित विषयों का विवेचन

किया गया है। रस एवं भाव का वर्णन छठे एवं सातवें अध्याय में है। वाचिक अभिनय के प्रसंग में काव्य की आलोचना दस दोष, दस गुण एवं चार अलंकारों की मीमांसा करते हुए प्रारम्भ की गयी है। नाट्यशास्त्र की एक मात्र टीका अभिनवगुप्त विरचित अभिनवभारती ही उपलब्ध है यद्यपि इसके नौ टीकाकारों का उल्लेख मिलता है। स्वयं अभिनवगुप्त ने भी उनका उल्लेख किया है। भरत के प्रसिद्ध रससूत्र के चार टीकाकारों भट्टोद्भट्ट, भट्टलोल्लट, भट्टनायक एवं शंकुक के मतों का उल्लेख मम्मट ने भी किया है। नाट्यशास्त्र अपनी प्रौढ़ता एवं प्रामाणिकता के कारण परवर्ती आलोचकों का सदैव ही उपजीव्य एवं प्रेरणा स्रोत रहा है।

6.3.2 भामह

यद्यपि म.म.पी.वी. काणे ने दंडी को भामह का पूर्ववर्ती बताया है तथापि अधिकांश विद्वानों द्वारा भामह को ही साहित्यशास्त्र का भीष्मपितामह माना गया है और उनके काव्य लक्षण को ही सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। साहित्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र से अलग करके एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में सर्वप्रथम भामह ने ही प्रतिष्ठित किया था। काव्य के विभिन्न अंगों का विस्तृत एवं सम्पूर्ण रूप से विवेचन सर्वप्रथम उनके ग्रन्थ काव्यालंकार में ही पाया जाता है। उनके छंदशास्त्र एवं अलंकारशास्त्र के अन्य ग्रन्थों का उल्लेख एवं उद्धरण अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं किन्तु ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते। उदभट द्वारा काव्यांलकार पर लिखी गई टीका भामहविवरण का भी उल्लेख ही प्राप्त होता है स्वयं ग्रन्थ नहीं। काव्यालंकार में 6 परिच्छेदों में कुल 400 श्लोक हैं जिनमें काव्य–शरीर का वर्णन, 24 अलंकारो, 3 गुणों, 10 दोषों, न्यायनिर्णय का प्रतिपादन तथा शब्द तत्व का विवेचन किया गया है। पंचम परिच्छेद के न्याय दोष प्रकरण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण में इन पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट दिखता है एवं इन्हें दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति के मध्ययुग का माना जाता है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'सार्वसर्वज्ञ' को प्रणाम किया है, अतः कुछ आलोचक भ्रमित होकर इन्हें बौद्ध कहने लगे। इनके कश्मीरी ब्राह्मण होने में किसी को संदेह नहीं है। उन्होंने बौद्धों के अपोहवाद का भी खंडन किया है, जो बौद्ध होने पर असम्भव था। उन्होंने अपने समकालीन व्याकरण दर्शन और न्याययदर्शन की वैदिक एवं बौद्ध परम्पराओं के बौद्धिक संघर्ष को प्रस्तुत करते हुए अपने स्वतंत्र विचार भी रखे। भामह ने आलोचना के जो प्रसिद्ध सिद्धान्त दिये वे हैं – 1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् – इससे शब्दार्थ के साहित्य को लेकर आगामी युग में चर्चा चल पड़ी और अलंकारों के दो भेद शब्दालंकार एवं अर्थालंकार प्रचलित हुए।

2. भरत के दस गुणों का तीन गुणों में अन्तर्भाव।
3. वक्रोक्ति समस्त अलंकारों का प्राण है।
4. दस दोषों का विवेचन।
5. रीति से अधिक गुणों पर आस्था।

6.3.3 दण्डी

भामह के बाद अष्टम शती में दण्डी हुए जिन्होंने काव्यशास्त्र का स्वतंत्र ग्रन्थ 'काव्यादर्श' लिखा। इसके अतिरिक्त उनका एक गद्यकाव्य दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरी कथा भी प्राप्त होते हैं। दंडी की प्रसिद्धि उनके पदलालित्य के कारण महाकवि के रूप में अधिक हुई–

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।

दंडी ने अपनी अवन्तिसुन्दरी कथा में स्वयं को भारवि का प्रपौत्र बताया है एवं बाण और मयूर की प्रशंसा की है। अतरंग प्रमाण भी सिद्ध करते हैं कि दंडी दाक्षिणात्य थे। उनके काव्यादर्श का प्रभाव कन्नड़ भाषा के ग्रन्थ कविराजमार्ग तथा सिंघली ग्रन्थ सियवसलकर पर स्पष्ट जान पड़ता है।

आलोचक के रूप में दंडी बहुत कठोर हैं एवं काव्य में तनिक से दूषण को भी सहन नहीं कर सकते।

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।। (काव्यादर्श 1/7)

काव्यादर्श साहित्यजगत में प्रख्यात हुआ और उस पर अनेक टीकाऐं लिखी गईं। इसका तिब्बती अनुवाद भी इसकी प्रसिद्धि का सूचक है। इसमें चार परिच्छेद हैं, प्रथम में काव्य का लक्षण, भेद, रीति तथा गुण का विवेचन, द्वितीय में अर्थालंकार, तृतीय में शब्दालंकार तथा चतुर्थ में दस दोषों का विवेचन प्राप्त होता है। इन्होंने वैदर्भी और गौड़ी रीति के भेद को स्पष्ट किया अतः इन्हें रीति सम्प्रदाय का अनुयायी भी माना गया।

6.3.4 उद्भट

ये कश्मीर के राजा जयादित्य के सभापति एवं ब्राह्मण थे। इन्होंने 'काव्यालंकार सारसंग्रह' नामक काव्यशास्त्र का ग्रन्थ, भामहविवरण नामक टीका एवं कुमारसंभवकाव्य की रचना की थी। अपने काव्यालंकार सारसंग्रह में इन्होंने सारे उदाहरण अपनी ही कृति कुमारसम्भवकाव्य में से दिये हैं। इसमें कुल 41 अलंकारों का विभाजन 6 वर्गों में करते हुए 79 कारिकाओं में दिया है। इन्होंने पुनरूक्तवदाभास, काव्यलिंग, छेकानुप्रास, दृष्टान्त और संकर इन पांच अलंकारों की स्थापना की तथा रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित और श्लिष्ट इनके लक्षणों का स्पष्टीकरण पहली बार किया। ये अलंकार संप्रदाय के अनुयायी हैं। इनके ग्रन्थ पर प्रतिहारेन्दुराज तथा राजानक तिलक ने टीका लिखी है।

6.3.5 वामन

कल्हण की राजतरङ्गिणी के अनुसार ये कश्मीर नरेश जयादित्य के मंत्री थे एवं उद्भट के समकालीन –

मनोरथः शंखदत्तश्चरकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः।। (राजतरंगिणी 4/497)

ये रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हैं। **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** कहकर उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा और काव्य के आत्मतत्व अन्वेषण की नवीन शुरूआत की। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्र' है जिसके सूत्र एवं वृत्ति दोनों के रचयिता स्वयं वामन ही हैं। इसमें पांच अधिकरण हैं जिसमें कुल 12 अध्याय हैं। प्रथम अधिकरण में काव्य के प्रयोजन, अधिकारी का वर्णन करके रीति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया है। रीति के तीन भेदों का निरूपण किया गया है। दूसरे अधिकरण में काव्य दोषों का विवेचन, तीसरे में गुण विवेचन तथा गुण और

अलंकारों में भेद दिखाया गया है। गुण और अलंकारों में अभेद मानने वाले उद्भट के मत का खंडन किया गया है। चतुर्थ अधिकरण में अलंकारों एवं पंचम में शब्द प्रयोग का विवेचन किया गया है।

इनके विशिष्ट सिद्धान्त हैं – 1. गुण एवं अलंकार में भेद करके गुणों को अधिक महत्ता प्रदान करना, 2. तीन रीतियों की कल्पना, 3. रीति को काव्य की आत्मा मानना, 4. वक्रोक्ति को सादृश्य मूलक लक्षणा मानना, 5. समग्र अर्थालंकारों को उपमा का प्रपञ्च मानना, 6. दस गुणों के शब्दगत व अर्थगत बीस भेद करना।

6.3.6 रूद्रट

इनका अपर नाम शतानन्द प्रचलित था। ये भी कश्मीरी थे इनके ग्रन्थ का नाम भी काव्यालंकार था जिसमें कुल 714 आर्याऐं हैं। उन्होंने प्रेय नामक नये रस की कल्पना की। इन्होंने अलंकारों का विभाजन वैज्ञानिक आधार पर करते हुए उनके वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष, चार विभाजक तत्व माने। इन्होंने मत, साम्य, पिहित और भाव इन नये अलंकारों की कल्पना भी की। इन्होंने कुछ अलंकारों का नया नामकरण भी किया। जैसे व्याजस्तुति के लिये व्याजश्लेष, स्वभावोक्ति के लिय जाति और उदात्त के लिये अवसर। इनके ग्रन्थ पर तीन टीकाऐं लिखी गई जिसमें से नमिसाधु की टीका प्रसिद्ध है।

6.3.7 राजशेखर

राजशेखर विदर्भ के थे एवं इनका कार्यक्षेत्र कन्नौज रहा। ये स्वयं को यायावरीय कहते हैं। मुख्यतः ये कवि एवं नाटककार हैं। बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभंजिका और कर्पूरमञ्जरी इनके चार नाटक है। काव्यमीमांसा इनका काव्यशास्त्र का ग्रन्थ है। इनके मत में 6 वेदाङ्गों के साथ अलंकार भी सातवां वेदांग है। काव्यपुरूष की उत्पत्ति इनकी निजी कल्पना है। काव्यमीमांसा स्वयं कवियों के लिये भी उपयोगी जानकारी देने वाला मानों विश्वकोश ही है। कुछ आलोचक इन्हें 'कवि शिक्षा सम्प्रदाय' के प्रवर्तक भी मानते हैं।

6.3.8 कुन्तक

इनका समय दसवीं शती में राजशेखर के बाद व महिमभट्ट से पूर्व है। इनकी प्रसिद्धि एक मात्र ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित पर आधारित है। ये वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य हैं। इनके ग्रन्थ में चार उन्मेष हैं। कारिका, वृत्ति और उदाहरण के रूप में इसके तीन भाग हैं। इन्होंने वक्रोक्ति का स्वरूप एवं प्रकारों का विवेचन किया है। इन्होंने छः प्रकार की वक्रताओं का उल्लेख किया है। मीमांसक होने से उन्होंने शब्द शक्तियों में से केवल अभिधा शक्ति को ही माना है। लक्षणा और व्यंज्जना का वे अभिधा में ही अन्तर्भाव करते हैं।

6.3.9 महिमभट्ट

ये कुन्तक से परवर्ती एवं रूय्यक से पूर्ववर्ती आचार्य हैं। उनकी प्रसिद्धि ध्वनिविरोधी के रूप में है। इन्होंने ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों का खंडन किया है। महिमभट्ट नैयायिक हैं अतः उन्होंने ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में किया है। इनका एक मात्र ग्रन्थ व्यक्तिविवेक है। इसके आधार पर इन्हें व्यक्तिविवेककार कहा जाता है। ये कश्मीर के निवासी थे। व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में ध्वनि का प्रबल रूप से खंडन किया गया है एवं उसके सभी उदाहरणों का अनुमान में

अन्तर्भाव दिखाया गया है। द्वितीय में अनौचित्य को काव्य का मुख्य दोष मानकर उसके अन्तरंग और बहिरंग प्रकारों का विवेचन किया गया है। अन्तरंग में रसदोष और बहिरंग में शब्द दोषों का विवरण है। अंतिम विमर्श में ध्वनि के 40 उदाहरणों का अनुमान में अन्तर्भाव सिद्ध किया है।

6.3.10 क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र कश्मीर निवासी थे एवं उन्होंने औचित्य सम्प्रदाय की स्थापना की। कवि शिक्षा पर इनका ग्रन्थ कवि कण्ठाभरण प्राप्त होता है। इनकी प्रसिद्धि इनके ग्रन्थ औचित्य विचार चर्चा के कारण हुई।

उन्होंने लगभग 40 ग्रन्थ लिखे किंतु प्राप्त 6 ग्रन्थ होते हैं।

इन्होंने औचित्य को ही रस का प्राण कहा है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूवर्णने।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरूतेऽधुना।।

इन्होंने औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार इत्यादि के साथ बतलाते हुए उसके अनेक भेद किये हैं।

औचित्य के विषय में उनका कथन है –

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितं च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

6.3.11 भोजराज

ये धारानरेश एवं विद्वानों के आश्रयदाता कवि थे। साहित्यशास्त्र पर इनके दो प्रौढ़ ग्रन्थ पाये गये हैं सरस्वतीकण्ठाभरण तथा श्रृंगारप्रकाश। सरस्वतीकण्ठाभरण के प्रथम परिच्छेद में काव्य के 16 दोष एवं 24 गुणों का विवरण है। द्वितीय परिच्छेद में 24 शब्दालंकारों, 24 अर्थालंकारों एवं 24 उपमालंकारों का उदाहरण सहित संकलन है। इन्होंने अपने से प्राचीन आलंकारिकों एवं उनके मतों के पर्याप्त उदाहरण दिये हैं अतः इन्हें साहित्यशास्त्र के इतिहास के संग्राहक के रूप में जाना जाता है। श्रृंगारप्रकाश एक विशालकाय ग्रन्थ है जिसमें 36 प्रकाश हैं। इसमें रसों का विशेष रूप में श्रृंगाररस का विस्तृत विवेचन है। उन्होंने दस रसों में से मुख्य श्रृंगार को ही माना है जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरूषार्थों का समावेश हो जाता है।

6.3.12 विश्वनाथ

चौदहवीं शताब्दी के साहित्यशास्त्री हैं एवं साहित्यदर्पण इनका अत्यन्त प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय ग्रन्थ है। इन्होंने काव्यप्रकाश पर दर्पण नाम की टीका भी लिखी है। ये 18 भाषाओं के ज्ञाता थे। इन्होंने साहित्यदर्पण में अलंकारशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के सभी प्रतिपाद्य विषयों का समावेश कर लिया है। छठे परिच्छेद में नाट्य के भेद नायक नायिका, संधियाँ आदि नाट्य सम्बन्धी सभी विषयों का विवेचन है। इन्होंने मम्मट के काव्य लक्षण का पूर्ण रूप से खंडन किया है। इन्होंने ध्वनि विरोधी मतों का खंडन करके उसकी स्थापना की। काव्य के सभी अंगों गुण, दोष, रीति अलंकार पर इन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला है। अतः यह सर्वाङ्गपूर्ण बन पड़ा है।

6.3.13 अप्पयदीक्षित

ये दाक्षिणात्य विद्वान हैं। इन्हे 104 ग्रन्थों का कर्ता कहा जाता है। ये मूलतः दार्शनिक हैं। अलंकारशास्त्र पर इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध है – वृत्तिवार्तिक, चित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द। कुवलयानन्द जयदेव के चन्द्रालोक से प्रेरित है। अलंकारों के उदाहरणों में आधे श्लोक में लक्षण व आधे श्लोक में उदाहरण दिये गये है।

6.3.14 पंडितराज जगन्नाथ

ये दक्षिण भारत के तैलंग ब्राह्मण थे। ये अप्पयदीक्षित के प्रतिद्वन्द्वी विद्वान है। इन्होंने शाहजंहा के यहाँ रहकर दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाई थी। उन्होंने भामिनीविलास, गंगालहरी आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। काव्यशास्त्र पर इनका ग्रन्थ रसगंगाधर एक प्रौढ़ रचना है। इसमें दिये गये सभी उदाहरण इनके स्वनिर्मित है। रसगंगाधर अधूरा ही दो आनन पर्यन्त प्राप्त होता है। प्रथम आनन में सबके काव्य लक्षणों का खण्डन करते हुए **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दःकाव्यम्,** यह लक्षण किया है। काव्य के उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम एवं अधम ये चार भेद किये हैं। द्वितीय आनन में अभिधा और लक्षणा के विवेचन के साथ ध्वनि के सभी भेदों को दिखाया है एवं 70 अलंकारों का वर्णन किया है। इन्होंने अप्पयदीक्षित के ग्रन्थ चित्रमीमांसा के खंडन के लिये चित्रमीमांसा खंडन नामक ग्रन्थ लिखा।

6.4 ध्वनि सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों की उपस्थापनाऐं

6.4.1 ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के समकालीन होने से नवम शती में हुए थे। इन्होंने अर्जुन–चरित, विषम बाणलीला, देवीशतक तथा तत्वालोक नामक ग्रन्थों की भी रचना की थी। आनन्दवर्धन एक युगान्तकारी आचार्य हैं। ध्वन्यालोक से इनकी सूक्ष्म विवेचना एवं गूढ़ विषयग्रहिता का पता चलता है। इन्होंने ध्वनि विरोधी मतों को परास्त कर पुरजोर ढंग से ध्वनि की स्थापना की।

जितना कानों से सुनाई देता है उतना ही अर्थ प्रत्येक वाक्य का नहीं होता जैसे **गतोऽस्तं अर्कः**– इस वाक्य का वाच्यार्थ है सूर्य डूब गया, लेकिन भिन्न–भिन्न प्रसङ्गों ने में इसके अलग–अलग अर्थ हो जाते हैं – 1) पाठशाला के बच्चों के लिये अध्ययन बंद कर संध्या करने का आदेश, 2) दुकानवालों के लिये बिजली जलाने का आदेश, 3) ग्वालों के लिये गायों को इकट्ठाकर घर लौटने का आदेश। संदर्भ विशेष से निकलने वाले ये प्रतीयमान अर्थ या व्यङ्यार्थ हैं। इस अर्थ का बेंध कराने वाला वाक्य ध्वनिकाव्य कहा जाता है।

'ध्वनि' शब्द वैयाकरणों से लिया गया है। वैयाकरण स्फोट से अर्थ की अभिव्यक्ति मानते हैं। शब्द नष्ट नहीं होता, नित्य होता है, वहीं उच्चरित शब्द स्फोट है उसे ही ध्वनि कहते हैं वैयाकरणों से इस ध्वनि को व्यापक अर्थ में ग्रहण कर लिया गया जो अर्थ का भी अभिव्यंञ्जक है। इस ध्वनि का आश्रय लेने से कवियों की प्रतिभा अनन्त रूप में विकसित होती है – जैसे वसन्त ऋतु से पुराने वृक्ष भी नये हो जाते हैं, वैसे ही ध्वनि से प्राचीन अर्थ भी नवीन चमत्कार से युक्त हो जाते हैं –

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः।।

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ध्वनि विरोधी तीन मतों का उल्लेख करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा उद्घोषित किया है –

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितिविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।।

ध्वनि विरोधी तीन मत है –

1. अभाववादी
2. भक्तिवादी
3. अनिर्वचनीयतावादी

1. अभाववादी आचार्यों में भी तीन मत पाये जाते हैं –

(1) प्रथम मत में कहा गया है कि ध्वनि नामक प्रदार्थ को काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने का साधन मानने की आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि काव्य में गुण, अलंकार रीतियाँ चारूता उत्पादक हैं इससे भिन्न कोई चारूता उत्पादक चमत्कारी तत्व नहीं है – **'नास्ति ध्वनिः गुणालङ्कारादिव्यतिरिक्तः'।**

(2) दूसरा मत प्रस्थानवादी है। काव्य शब्दार्थ युगल को कहते हैं और इसके गुणालंकारों के विषय में निश्चित परम्परा पाई जाती है। ध्वनि के विषय में कोई परम्परा प्राप्त नहीं है।

(3) ध्वनि का काव्य के शोभाधायक तत्वों में ही अन्तर्भाव हो सकता है। ध्वनि रूप में किसी नये अपूर्व पदार्थ की कल्पना की आवश्यकता नहीं हैं।

2. भक्तिवादी – शब्दों की मुख्य और गौणी दो प्रकार की वृत्तियाँ होती है और गौणी वृत्ति में ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है।

3. अनिर्वनीयतावादी – ये ध्वनि को स्वीकारते हैं किंतु इसे शब्दों में वाणी से अभिव्यक्त नहीं मानते।

आनन्दवर्धन ने इनका निराकरण करते हुए तीनों ही मतों का खंडन किया। अभाववाद मिथ्याज्ञान है, भक्तिवादी संदेह से घिरे हुए हैं और अनिर्वचनीयवादी अज्ञानी है। ध्वनि एक स्वतंत्र पदार्थ है, व्यंग्य अर्थ भी एक स्वतंत्र अर्थ है जो वाच्यार्थ से भिन्न एवं अलग है।

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।। (ध्व.1/2)

सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला जो अर्थ काव्य की आत्मा कहा गया है। उसके दो भेद हैं। वाच्य एवं प्रतीयमान। वाच्य उपमादि के साथ में प्रसिद्ध ही है किंतु प्रतीयमान अर्थ कुछ उसी प्रकार अलग होता है जैसे रमणियों के अवयवों से भिन्न उनमें भासने वाला लावण्य–

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवागंनासु।। (ध्व. 1/4)

प्रतीयमान अर्थ वाच्य से आठ प्रकार से भिन्न हो सकता है – बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीतिकाल, आश्रय एवं विषय। व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ वस्तु, अलंकार एवं रसादि भेदों से अनेक प्रकार का होता है और प्रत्येक में उपर्युक्त आठ कारणों में से किसी के कारण भी भिन्न हो सकता है। जैसे वस्तुध्वनि का वाच्यार्थ से स्वरूपकृत भिन्न होना –

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽत्र मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन।।

यहां वाच्य **'निश्चिन्त होकर घूमो'** विधिरूप है जबकि प्रतीयमान अर्थ **'भूलकर भी इधर मत आना'** निषेध रूप है। यह प्रतीयमान अर्थ कही इससे विपरीत भी होता है, कहीं वाच्य के विधिरूप होने पर दोनों नहीं होता अर्थात् न विधि न प्रतिषेध और कहीं वाच्यार्थ के प्रतिषेधरूप होने पर अनुभय होता है। इसी प्रकार वस्तुध्वनि विषयकृत भेद से वाच्यार्थ में भिन्न हो सकती है।

जहाँ उपमादि अलंकार प्रतीयमान या व्यंग्य होते हैं वे अलंकार न होकर अलंकार्य हो जाते है और उन्हें अलंकार ध्वनि कहा जाता है। रसादि रूप ध्वनि कभी वाच्य नहीं होती वह वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होती है। अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य वृत्ति से व्यंग्यार्थ की प्रतीति के सभी मतों अभीहितान्वयवादियों, अन्विताभिधानवादियों, भट्टलोल्लट आदि का निराकरण करते हुए आनन्दवर्धन व्यंजना से बोध्य प्रतीयमान अर्थ को काव्य का आत्मा घोषित करते हैं क्योंकि उसके मूल में शोक करूण रस हो श्लोकत्व में परिणत हुआ था –

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। (ध्व. 1/5)

उस रस भाव रूप अर्थ तत्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न होती है और ऐसे महाकवि वाल्मिकी, कालिदासादि के समान कोई पांच छः ही हो सकते हैं। वह प्रतीयमान अर्थ यदि वाच्य रूप ही होता तो केवल उसका बोध व्याकरणकोश आदि से ही हो जाता किंतु उसका ज्ञान काव्यमर्मज्ञों को ही होता है। काव्य में उस व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होने से कवि को उसको अभिव्यक्त करने वाले शब्द विशेष और अर्थ का अनुसंधान करना चाहिये। अतः ध्वनिकाव्य उसे कहेंगे – जहां वाच्य तथा वाचक शब्दार्थ प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं –

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। (ध्व. 1/13)

अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव इसलिये नहीं किया जा सकता क्योंकि अलंकारों का आधार वाच्यवाचक भाव है। जबकि ध्वनि के मूल में व्यङ्ग्यव्यंजक भाव है। आनन्दवर्धन ने अनेक अलंकारों समासोक्ति आक्षेप, दीपक, अपह्नुति, विशेषोक्ति आदि के उदाहरणों से सिद्ध किया है कि अलंकारों में वाच्यार्थ का ही प्राधान्य होने से उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव असम्भव है। ध्वनि व्यंग्यप्रधान काव्य है, व्यंग्य उसमें अंगी है जबकि अलंकार, गुण तथा वृत्तियाँ उसके अंग है।

ध्वनि का लक्षणा में भी अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता क्योंकि लक्षणा उपचार मात्र है जबकि पंचविध ध्वनि शब्द, अर्थ व्यंजना–व्यापार, व्यंग्यार्थ तथा काव्य रूप से लक्षणा से भिन्न है और उससे अभिन्न नहीं हो सकती। अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष के कारण लक्षणा या भक्ति ध्वनि

का लक्षण नहीं हो सकती। क्योंकि लक्षणा और व्यंजना का विषय भिन्न है **'गंगायां घोषः'** में लक्षणा का विषय तट है और ध्वनि का विषय शैत्यपावनत्व। लक्षणा वाचकाश्रित तथा अभिधापुच्छभूता है और ध्वनि व्यंजनाश्रित है।

इस प्रकार ध्वनि के सामान्य एवं विशेष लक्षणों को देखते हुए ध्वनि को अलक्षणीय या अनिर्वचनीय कहना उचित नहीं है फिर भी वे इस अतिश्योक्ति पर अड़े रहते हैं तो इससे तो ध्वनि काव्य की उत्कृष्टता ही सिद्ध होती है।

प्रथम उद्योत में ध्वनि की स्थापना करके द्वितीय एवं तृतीय उद्योत में ध्वनि के भेद एवं उपभेद कर उनकी स्थापना की गई है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता पर विचार किया गया है।

6.4.2 अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त का समय दशम शती है। ये कश्मीरी शैवदर्शन एवं तंत्रशास्त्र के विद्वान होने के साथ आलंकारिक भी थे। साहित्यशास्त्र को इनकी महती देन है नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोक की लोचन टीका। इन्होंने अपनी लोचन टीका से ध्वनि सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को परिपुष्ट कर स्थायित्व प्रदान किया। भरत के रस सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या इनकी अभिनवभारती की ही देन है। ध्वनि सम्प्रदाय को सर्वमान्य बनाने में अभिनवगुप्त का महद् योगदान है। आनन्दवर्धन ने काव्य, अर्थ एवं व्यंजनाव्यापार को ही ध्वनि कहा था किंतु अभिनवगुप्त ने वाच्य, वाचक, व्यंग्यार्थ, व्यंजना व्यापार तथा काव्य इन पांच को ध्वनि कहा –

ध्वनतीति ध्वनिः – वाचक शब्द एवं वाच्यार्थ

ध्वन्यते इति ध्वनिः – व्यंग्यार्थ

ध्वननं ध्वनिः – व्यंजना व्यापार

ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः – काव्य विशेष

पाँच अर्थों में प्रयुक्त इस ध्वनि का आधार कल्पित न होकर व्याकरण सिद्ध है। स्फोट से अर्थ की प्रतीति होती है ओर यह आठ प्रकार का होता है। यह स्फोटवाद पंतजलि के महाभाष्य और भर्तृहरि के वाक्यपदीय पर आधारित है अतः ध्वनि का आधार कल्पित न होकर शास्त्रीय है। मम्मट ने भी इस आधार की विस्तृत व्याख्या की है।

6.4.3 मम्मट

साहित्यशास्त्र का जो समग्र विवेचन मम्मट ने काव्यप्रकाश में किया है, वही इसकी लोकप्रियता का कारण है। ध्वनि विरोधी भट्टनायक और महिमभट्ट से लगे आघात की भरपाई मम्मट ने ही की। ध्वनि सिद्धान्त मम्मट के प्रौढ़ प्रयासों के बाद ही दृढ़ता को प्राप्त हुआ अतः मम्मट को **'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य'** कहा जाता है।

ध्वनिसिद्धान्त का लोचन द्वारा और नाट्यशास्त्र का अभिनवभारती द्वारा जो उद्धार किया गया था, उन दोनों का समावेश काव्यप्रकाश में पाया जाता है। मम्मट के सामने अपने पूववर्ती आलंकारिको का एक सहस्त्र वर्ष पर्यन्त रचा गया विपुल साहित्य था, उन्होंने इसमें से अमूल्य रत्न लेकर अपना ग्रन्थ रचा। प्रथम उल्लास में काव्य के हेतु, प्रयोजन एवं लक्षण के बाद उन्होंने वाक्य के तीन भेदों में से उत्तम काव्य ध्वनि का निरूपण किया –

इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।

ध्वनिकाव्य के लक्षण में ही उन्होंने 'ध्वनि' शब्द के मूल स्रोत वैयाकरणों का उल्लेख 'ध्वनिर्बुधै कथितः 'कहकर कर दिया।

'बुधैर्व्याकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः।'

व्याकरणशास्त्र में स्फोट के अभिव्यंजक शब्दों के लिये ध्वनि का प्रयोग किया जाता है। इसी आधार पर वाच्यार्थ को दबाने में समर्थ एवं व्यंग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्द एवं अर्थ के लिये ध्वनि पद का प्रयोग आलंकारिक भी करने लगे। पूर्व–पूर्व वर्ण के अनुभव से जो संस्कार उत्पन्न होता है उससे सहकृत अन्त्यवर्ण के श्रवण से तिरोभूत वर्णों को भी ग्रहण करने वाली मानसिक पद प्रतीति ही पद स्फोट है अर्थ की प्रतीति यही कराता है।

सभी प्रकार के स्फोट की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वनि रूप शब्द से होती है। चतुर्थ उल्लास में विस्तार से ध्वनि के भेदों का निरूपण किया गया है – अविवक्षितवाच्य ध्वनि या लक्षणामूला ध्वनि तथा विवक्षितवाच्य ध्वनि या अभिधामूला ध्वनि--ध्वनि के ये दो मुख्य भेद हैं। प्रथम के भी दो भेद अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य एवं अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य होते हैं। विवक्षितवाच्य के भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य एवं संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ये दो मुख्य भेद होते हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में रसादि ध्वनि की गणना होती है। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य में शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि–ये दो भेद होते है। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के रस, भाव, रसाभाव, भावाभाव, भावशांति, भावोदय, भावसंधि एवं भावशबलता ये आठ भेद जिनमें रसादि प्रधान रूप से स्थित होते हैं अतः अलंकार्य होने से रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्विन् तथा समाहित इन अलंकारों से भिन्न हैं।

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यङ्.कारादलंकार्यया स्थितः।। (काव्यप्रकाश 4/42)

ध्वनि के अठारह मुख्य भेदों का निरूपण करने के बाद (दो लक्षणामूला के एवं सौलह अभिधामूला के) उनका विस्तार करते हुए इन भेदों को 10455 तक ले जाते हैं। इस प्रकार मम्मट ने अपनी युक्तियों द्वारा केवल ध्वनि को पुर्नस्थापित किया अपितु उसे विस्तार भी दिया।

6.5 सारांश

आपने काव्य में आत्म तत्त्व किसे माना जाये गुण, रीति, अलंकार, रस, वक्रोक्ति, औचित्य या ध्वनि इस पर विभिन्न आलंकारिकों के मतों को जाना। आपने ये भी जाना कि काव्य के इन अंगों पर न्यूनाधिक विवेचन तो सभी काव्यशास्त्रियों ने किया है किंतु प्राणभूत तत्व के विषय में उनके विचारों में मतभेद है और यहीं मतभेद विभिन्न सम्प्रदायों की स्थापना का आधार है। आपने साहित्य शास्त्र के छः सम्प्रदायों रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय तथा औचित्य सम्प्रदाय की मान्यताओं एवं उनके संस्थापक एवं अनुयायी आचार्यों का ज्ञान प्राप्त किया। आपने काव्यशास्त्र की साहित्यिक परम्परा के प्रमुख 14 आचार्यों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त किया। सम्प्रदायों में ध्वनि सम्प्रदाय प्रमुख है एवं इसका विरोध और खंडन भी जोर शोर से हुआ। अतः ध्वनिवादी प्रमुख आचार्यों आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट की उपस्थापनाओं से भी आपका परिचय कराया गया।

6.6 शब्दावली

1. **विभाव** – रत्यादि स्थायिभावों के जो कारण हैं वे विभाव कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं आलम्बन एवं उद्दीपन। सीता–रामादि एक दूसरे की प्रीति के आलम्बन तथा चांदनी, उद्यानादि उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।

2. **अनुभाव** – अनुभाव रसानुभूति से उत्पन्न बाह्याभिव्यक्ति के प्रयोजक शारीरिक व्यापार हैं। ये रस के कार्य हैं जैसे भ्रूविक्षेप, कटाक्षादि।

3. **व्यभिचारिभाव** – स्थायिभावों की पुष्टि में जो उनके सहकारी होते हैं वे मानसिक व्यापार व्याभिचारिभाव हैं जैसे व्रीडा, चपलतादि। ये संख्या में 33 है।

4. **स्थायीभाव** – रस की प्रक्रिया में विभाव बाह्य कारण हैं और आन्तरिक और मुख्य कारण हैं स्थायीभाव। ये स्थायीभाव ही अभिव्यक्त होकर रस रूप में परिणत होते हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा या घृणा, विस्मय और निर्वेद ये नौ स्थायिभाव मनुष्य के हृदय में सदैव अव्यक्त अवस्था में रहते हैं।

6.7 बोध – प्रश्न

1. रस सम्प्रदाय का परिचय दीजिए।
2. अलंकार सम्प्रदाय का विवेचन कीजिए।
3. रीति सम्प्रदाय का विवरण दीजिए।
4. ध्वनि का अर्थ बताते हुए ध्वनि सम्प्रदाय का परिचय दीजिए।
5. वक्रोक्ति सम्प्रदाय का विवेचन कीजिए।
6. औचित्य सम्प्रदाय का विवेचन कीजिए।

6.8 उपयोगी ग्रन्थ

1.	मम्मट	:	काव्यप्रकाश
2.	विश्वनाथ	:	साहित्यदर्पण
3.	डॉ. बलदेव उपाध्याय	:	संस्कृत आलोचना
4.	डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी	:	संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास
5.	P.V. Kane	:	History of Sanskrit Poetics
6.	आनन्दवर्धन	:	ध्वन्यालोक
7.	दंडी	:	काव्यादर्श
8.	अभिनवगुप्त	:	अभिनवभारती

6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्नों के उत्तर इकाई 4.2, 4.3 4.4 में दिए गए हैं।

इकाई - 7

संस्कृत नाट्य की लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी परम्परा

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 नाट्य का महत्त्व

7.3 नाट्योत्पत्ति के सिद्धान्त

7.3.1 भरत के अनुसार नाट्योत्पत्ति

7.3.2 वैदिक संवाद सूक्तों से नाट्योत्पत्ति का सिद्धान्त

7.3.3 पुत्तलिका नृत्य से नाट्योत्पत्ति

7.4 नाट्य के भेद

7.5 संस्कृत नाट्य में धर्मी की संकल्पना

7.6 धर्मी का रस, भाव और अभिनय से सम्बन्ध

7.6.1 लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी का अन्त: सम्बन्ध

7.7 कला में लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी की व्याप्ति

7.7.1 काव्यसर्जना में लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी की व्याप्ति

7.8 कतिपय नाटकों में धर्मी प्रयोग

7.9 सारांश

7.10 शब्दावली

7.11 बौधप्रश्न

7.12 उपयोगी पुस्तके

7.13 बौधप्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

संस्कृत साहित्य में नाटकों का अत्यधिक महत्त्व है। इसके विभिन्न तत्त्वों का विवेचन बहुत पूर्व से होता आया है। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र इस विषय में उपलब्ध सबसे प्राचीन कृति है। प्रस्तुत पाठ में आप नाट्य के उत्पत्ति और विकास के बारे में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त कर सकेंगे तथा नाटकों के महत्त्व का भी ज्ञान कर सकेंगे।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र द्विविध धर्मियों का उल्लेख किया है जिनमें से एक को लोकधर्मी तथा दूसरे को नाट्यधर्मी कहते है। प्रस्तुत पाठ में इन दोनों प्रकार की धर्मियों का विवेचन किया जायेगा। साथ ही नाट्य के कुछ अन्य सम्बद्ध तत्त्वों की चर्चा की जायेगी।

7.1 प्रस्तावना

कालिदास ने नाट्य को विभिन्न रुचि वाले लोगों का आराधन बताया है। नाट्य का अर्थ है, किसी अनुकार्य का विभिन्न अभिनयों के द्वारा अनुकरण करना। इस नाट्य में एक और जहां शास्त्रीय तत्त्व की प्रधानता रहती है, वहीं लोक भी विषय बनकर आता है। इस पाठ में आप नाट्य के इन दोनों पक्षों का ज्ञान कर सकेंगे। साथ ही विभिन्न कलाओं और काव्य सर्जना में धर्मी सिद्धान्त की व्याप्ति का ज्ञान कर सकेंगे।

7.2 नाट्य का महत्त्व

साहित्य के सभी प्रकारों में रूपक या नाट्य श्रेष्ठ माना गया है। इसकी रचना को कवित्व की अन्तिम सीमा कहा जाता है- **नाटकान्तं कवित्वम्।** वामन ने काव्यालंकारसूत्र में (1/3/30) कहा है- **सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः।** कारण यह है कि यह चित्रपट के समान अनेक विशिष्टताओं से युक्त है। इतनी विशिष्टताएँ अन्य काव्यभेदों में नहीं होतीं। रूपक में गद्य-पद्य दोनों का मिश्रण तो रहता ही है, इसे सुनने के अरिक्त देखा भी जाता है। श्रव्य की अपेक्षा 'दृश्य' का अधिक सघन प्रभाव होता है। भारतीय रूपकों का उद्देश्य केवल उपदेश देना, संवादों के द्वारा किसी घटना-क्रम का निरूपण करना या विषय की स्थापना मात्र नहीं है। अपितु अभिनय के भिन्न प्रकारों से सामाजिक को रसास्वाद कराना इसका महत् उद्देश्य है। भरत ने नाट्यशास्त्र (6/31) में कहा है कि इस नाट्य-संसार में सब कुछ रहस्य होता है, रस के बिना यहाँ कुछ भी प्रवृत्त नहीं होता -**न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।** कोई व्यक्ति किसी भी रुचि का क्यों न हो, उसे अपना अनुकूल विषय नाट्य-जगत् में अवश्य मिल जायेगा। इसीलिए कालिदास ने नाटक की प्रशंसा में कहा है-

देवीनामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं,
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तद्वयम्।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्। (मालविकाग्निमित्र 1/4)

7.3 नाट्योत्पत्ति के सिद्धान्त

संस्कृत दृश्यकाव्य का उद्भव कब और किस प्रकार से हुआ, इस प्रश्न का निश्चित समाधान करना कठिन है क्योंकि इस विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। जो संकेत अन्तरंग और बाह्य स्रोतों से प्राप्त होते हैं वे भी किसी निर्णयात्मक स्थिति तक नहीं पहुँचाते। फिर भी कुछ सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया ही जा सकता है।

7.3.1 भरत के अनुसार नाट्योत्पत्ति

नाट्यविज्ञान पर सर्वप्रथम ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' ही है जिसका काल 100 ई. पू. से 300 ई. के बीच माना जाता है। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' नाट्योत्पत्ति के बारे में कहा है कि सभी देवताओं ने मिलकर ब्रह्मा जी से प्रार्थना की कि हमें ऐसे मनोरंजन का साधन प्रदान करें जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो और जिसे सभी वर्णों के लोग ग्रहण कर सकें -

पूर्वं कृतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे।
त्रेतायुगेऽथ सम्प्राप्ते मनोर्वैवस्वतस्य तु।।
ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते तु कामलोभवशं गते।
ईर्ष्याक्रोधादिसम्मूढे लोके सुखितदुःखिते।।
देवदानवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगैः।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपालप्रतिष्ठिते।।
महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्।। नाट्यशास्त्र, 1.8-11

ब्रह्मा ने इस प्रार्थना पर चारों वेदों से सार भाग लेकर 'नाट्यवेद' के रूप में पंचम वेद का निर्माण किया-

नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्। नाट्यशास्त्र, 1/16

उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद, कथनोपकथन), सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस-तत्त्व लेकर 'नाट्यवेद' की रचना की -

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। नाट्यशास्त्र, 1.18

शिव से ताण्डव और पार्वती से लास्य लेकर नृत्य तत्त्व की भी योजना की गयी। इन्द्रध्वजपर्व के अवसर पर भरत के पुत्रों और शिष्यों ने गन्धर्वों तथा अप्सराओं के साथ नाट्य में भाग लिया। 'अमृतमन्थन' और 'त्रिपुदाह' नामक रूपक सर्वप्रथम अभिनीत हुए। ये ब्रह्मा के द्वारा रचित थे।

7.3.2 वैदिक संवाद सूक्तों से नाट्योत्पत्ति का सिद्धान्त

मैक्समूलर, सिल्वाँ लेवी, फॉन श्रोएदर, हर्टल आदि यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धान्त दिया कि ऋग्वेद के कतिपय संवाद-सूक्त ही नाटकों के प्राचीनतम रूप हैं। इन संवाद-सूक्तों मे इन्द्रमरुत्- संवाद (ऋ० 1/165,170), अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद (ऋ० 1/179), विश्वामित्र-नदी-संवाद (3/33), वसिष्ठ-सुदास-संवाद (ऋ० 7/83), यम-यमी-संवाद (ऋ० 10/10), इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि संवाद (ऋ० 10/83), पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (10/15) तथा सरमा-पणि-संवाद (10/108) प्रमुख हैं। इन सूक्तों का सम्बन्ध वैदिक कर्मकाण्ड से नहीं है। संभव है कि दीर्घकाल तक चलने वाले यज्ञों में कर्मकाण्ड से क्लान्त पुरोहितों तथा दर्शकों के मनोरंजन के लिए कुछ नाटकों का अभिनय होता हो; उन्हीं के कुछ पद्यात्मक संवाद सुरक्षित रह गये। उनके पूर्वापर के गद्य-संवाद स्मृति से दूर हो गये। ये संवाद-सूक्त अभिनय और रूपकों के प्रथम अवशेष के रूप में बहुत महत्त्व रखते हैं।

7.3.3 पुत्तलिका नृत्य से नाट्योत्पत्ति

प्रो. पिशेल ने यह विचार दिया है कि प्राचीन भारत में कठपुतलियों का नृत्य दिखाया जाता था, उसे ही सजीव रूप देने के लिए मानवों को मंच पर प्रस्तुत करके नाटकों का अभिनय आरम्भ हुआ। पिशेल का मत संस्कृत रूपको में 'सूत्रधार' और 'स्थापक' शब्दों के प्रयोग पर आश्रित है जो पुतलियों के नृत्य में भी धागों को पकडते और उन्हें स्थापित करते थे। यह असंगत मत है क्योंकि एक साधारण नृत्य से रस-भाव-क्रियात्मक नाटक की उत्पत्ति मानना तर्कसंगत नहीं। इसमें तथ्य यही है कि भारत में ही पुत्तलिका-नृत्य का उद्भव हुआ था, यहीं से यह नृत्य अन्यत्र पहुँचा।

7.4 नाट्य के भेद

काव्य को संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने दृश्य और श्रव्य के रूप में दो वर्गों में रखा है। दृश्यकाव्य के दो भेद हैं- रूपक तथा उपरूपक। रूपक दस और उपरूपक अठारह प्रकार के होते हैं। रूपकों का एक प्रमुख भेद 'नाटक' है जो अपने अर्थ का विस्तार करके सामान्यतः आधुनिक भारतीय बहुत व्यापक अर्थ में प्रचलित है, यद्यपि संस्कृत में एक सीमित अर्थ- परिधि में आता है। इस प्रसंग में धनञ्जय ने नाट्य, रूप और रूपक - इन तीन शब्दों के प्रयोग के हेतुओं का निरूपण किया है। वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य के द्वारा जब नट किसी अनुकार्य का अनुकरण करता है तो इसे 'नाट्य' कहते है। नाट्य को देखा जाता है अर्थात् रूप के समान यह चक्षुरिन्द्रिय का विषय है, अतएव इसे 'रूप' भी कहते हैं। अभिनेता पर रामादि पात्रों की अवस्थाओं का आरोप होने से उसी नाट्य या रूप को शास्त्रीय दृष्टि से 'रूपक' कहते हैं, आरोप ही रूपक है जैसे मुख पर चन्द्र का आरोप होने से 'मुखचन्द्र' में रूपकालंकार है। ये रूपक रसाश्रय होते हैं, केवल भाव पर आश्रित नहीं रहते।

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम्।। (दशरूपक 1/7)

इनके दस भेद किये गये हैं-

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति।। (दशरूपक 1/8)

रूपक के दस भेद निम्नलिखित हैं -

नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क और ईहमृग। इन भेदों का परिचय आप आगे के पाठ में प्राप्त करेंगे।

7.5 संस्कृत नाट्य में धर्मी संकल्पना

धर्मी शब्द की निष्पत्ति ''धर्म'' से हुई है। ''धर्म'' यहाँ किसी वस्तु की निजता, उसका अपना स्वरूप या वृत्तिमत्व को द्योतित करता है

इस सम्बन्ध में कोशकारों के ये निर्वचन द्रष्टव्य हैं-

रूपं तत्त्वं सत्त्वं च स्वरूपं च सलक्षणम्।
सहजं निजमाजानं धर्मसर्गो निसर्गवत्।। - वैजयन्ती 5/211।।

भावः पदार्थो धर्मः स्यात् सत्त्वं च वस्तु च।
वेधनं छेदनं व्युष्टिः फलमाम्नाय इत्यादि।। कल्पद्र. 238/39
धर्मीऽस्त्रीपुरुषयोराचारे स्वभावोपमयोः क्रतौ।। मेदिनी 109/16

भरत ने धर्मी को रङ्ग के सङ्ग्रह के ग्यारह तत्त्वों में से एक माना है। ये ग्यारह तत्त्व निम्नलिखित है-

रस, भाव, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रङ्ग। भरत ने इनका परिगणन इस प्रकार किया है-

रसा भावा ह्यभिनयाः धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं मानं रङ्गश्च सङ्ग्रहः।।

उपचारस्तथा विप्रा मण्डपश्चेति सर्वशः।
त्रयोदशविधो ह्येष ह्यादिष्टो नाट्यसंग्रहः।। नाट्यशास्त्र, 6.10-11

धर्मी वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा रङ्गमंच या किसी भी कला का अपना स्वरूप व्यंजित होता है तथा कला की उपादान-सामग्रियों या इतरकलाओं का सम्मिश्रण उस कला की निजता या इयत्ता को बनाये रखते हुए जिसके द्वारा सम्भव होता है। अभिनवगुप्त ने इसीलिये धर्मी को ''इतिकर्तव्यता'' कहा है तथा इसे कला की सभी अभिव्यक्तियों को निष्पादित कराने वाला प्राणभूत तत्त्व माना है।

संगीतरत्नाकर में भी धर्मी को ''इतिकर्तव्यता'' के रूप में ही परिभाषित किया गया है।

7.5.1 लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी

धर्मी की अवधारणा को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए अभिनव गुप्त ने कहा है कि कला या काव्य के दो पक्ष होते हैं- लोकानुसारित्व और विचित्रयोगित्व। इसी अवधारणा के केन्द्र से भरत भी धर्मी को दो रूपों में प्रतिपादित कर चुके थे- लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। दोनों का स्वरूप रङ्गमंच की दृष्टि से विशद रूप में समझाते हुए भरत ने इनका विवेचन किया है।

7.5.2 लोकधर्मी

स्वभावभावोपगतं शुद्धं त्वविकृतं तथा।
लोकवार्ताक्रियोपे मङ्गलीलाविवर्जितम्।।

स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता।। (नाट्यशास्त्र, 13.71-72)

स्वाभाविक शुद्ध अविकृत रूप से लोक व्यवहार तथा लोक में प्रचलित क्रियाओं को आंगिक लीलाओं के बिना मंच पर प्रस्तुत किया जाय, तो नाट्य की यह पद्धति लोकधर्मी है। अभिनव गुप्त ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है-

यदा कविर्यथावृत्तं वस्तुमात्रं वर्णयति नटश्च प्रयुंक्ते, न तु स्वबुद्धिकृतं रञ्जनावैचित्र्यं, तत्रानुप्रवेशयंस्तदा तावान् स काव्यभागः प्रयोगभागश्च लोकधर्माश्रयः, अतोऽत्र धर्मी (नाट्यशास्त्र, 13.71-72 पर अभिनवभारती)

लोकधर्मी में व्यावहारिक जगत् का यथार्थ जैसा का तैसा सामने आता है। नाट्यधर्मी इसके आगे की स्थिति

है, जिसमें लोकधर्मी द्वारा प्रस्तुत यथार्थ कला के सत्य और सौष्ठव से समन्वित होता है। रङ्गमंच की दृष्टि से भरत ने इसका स्वरूप स्पष्ट किया है।

7.5.3 नाट्यधर्मी

लोकव्यवहार की पद्धति में अतिशय लाकर-कुछ अपनी ओर से उसमें जोड़कर-आङ्गिक अभिनय, लीला आदि से उसे संवलित कर प्रस्तुत करता दिखाना, बोलने के लहजे पर स्वर, अलंकार का समावेश करने पर, किसी (जड़) पदार्थ को सजीव रूप में दिखाना, समीप स्थित व्यक्ति के द्वारा (जोर से) कही गयी बात को भी सुनना (जनान्तिक तथा अपवारित) तथा न कही बात को सुनना (आकाशभाषित), अभिनेता का स्वयं पर्वत, यान, विमान, आयुध आदि बन जाना, किसी अभिनेता का एक भूमिका करने के तुरन्त बाद उसी प्रस्तुति में दूसरी भूमिका में उतरना, गम्या स्त्री (पत्नी आदि का अगम्या (बहिन आदि) की भूमिका करना या अगम्या स्त्री का गम्या की भूमिका करना, लालित्यपूर्ण नृत्यमुद्राएँ, लोकस्वभाव को चतुर्विध अभिनय वे संवलित करके प्रस्तुत करना, इतिहास वेद आदि के असामान्य प्रसङ्ग, कक्ष्याविभाग- ये सब नाट्यधर्मी हैं -

अतिवाक्यक्रियोपेतमतिसत्त्वातिभावकम्।
लीलाङ्गहाराभिनयं नाट्यलक्षणलक्षितम्।।

स्वरालङ्कारसंयुक्त मस्वस्थपुरुषाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता।।

लोकप्रसिद्धं द्रव्यन्तु यदा नाट्ये प्रयुज्यते।
मूर्तिमत् साभिलाषाञ्च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता।।

आसन्नोक्तन्तु यद्वाक्यं न शृण्वन्ति परस्परम्।
अनुक्तं श्रूयते वाक्यं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता।।

शैलयानविमानानि चर्मवर्मायुधध्वजाः।
मूर्तिमन्तः प्रयुज्यन्ते नाट्यधर्मी तु सा स्मृता।।

य एकां भूमिकां कृत्वा कुर्वीतैकान्तरेऽयराम्।
कौशल्यादेककत्वाद्वा नाट्यधर्मीति सा स्मृता।।

यागम्या प्रमदा भूत्वा गम्या भूमिषु युज्यते।
गम्या भूमिष्वगम्या च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता।।

ललितैरङ्गविन्यासैस्तथोत्क्षिप्तपदक्रमैः।
नृत्यते गम्यते यच्च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता।।

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखक्रियात्मकः।
सोऽङ्गाभिनयसंयुक्तो नाट्यधर्मी तु सा स्मृता।।

यश्चेतिहासवेदार्थो ब्रह्मणा समुदाहृतः।
दिव्यमानुषरत्यर्थं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता।।

यश्च कक्ष्याविभागोऽयं नानाविधिसमाश्रितः।
रङ्गपीठगतः प्रोक्ता नाट्यधर्मी तु सा भवेत्।।

नाट्यशास्त्र, 13/73-83

यह सिद्धान्त रङ्ग के सारे तत्त्वों में सामंजस्य स्थापित करते हुए सम्पूर्ण रङ्गमंच की अवधारणा को प्रकट करता है। यह नाट्यप्रयोग की बुन्यिादी शर्तों को अपने में समाविष्ट करता है, अतः नाट्यधर्मी के बिना नाट्यप्रयोग कही संभव नहीं है-

नाट्यधर्मी प्रवृत्तं हि सदा नाट्यं प्रयोजयेत्।

रुन ह्यङ्गाभिनयात् किंचिद् ऋते रागः प्रवर्तते।। नाट्यशास्त्र 13-84

नाट्यप्रयोग की एकादशी में धर्मी रस, भाव और अभिनय के अनन्तर परिगणित है। अतः इसका इन तीनों से अन्योन्याश्रय संबंध है। अभिनव गुप्त के अनुसार रस भावों से निष्पन्न होता है, अतः रस के अनन्तर भाव और भाव अभिनय से व्यक्त होता है अतः उसके अनन्तर धर्मी को गिनाया गया है-

अभिनयाश्च लौकिकं धर्मं तन्मूलमेव तदुपजीविनं सामयिकं नाट्यीयं धर्म वा अनुवर्तन्त इति तदनन्तरं धर्मी। नाट्यशास्त्र, 6-25 पर अभिनव भारती

7.6 धर्मी का रस, भाव और अभिनय से संबंध

नाट्यसङ्ग्रह की एकादशी में धर्मी रस, भाव और अभिनय के अनन्तर परिगणित है। अतः इसका इन तीनों से अन्योन्याश्रय संबंध है। अभिनव गुप्त के अनुसार रस भावों से निष्पन्न होता है, अतः रस के अनन्तर भाव और भाव अभिनय से व्यक्त होता है अतः उसका अनन्तर अभिनय तथा अभिनय का निर्धारण धर्मी से होता है अतः उसके अनन्तर धर्मी को गिनाया गया है-

अभिनयाश्च लौकिकं धर्मं तन्मूलमेव तदुपजीविनं सामयिकं नाट्यीयं धर्म वा अनुवर्तन्त इति तदनन्तरं धर्मी। नाट्यशास्त्र, 6-25 पर अभिनव भारती

7.6.1 लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी का अन्तःसम्बन्धः

धर्मी के ये दोनों लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी पक्ष आपाततः विपरीत प्रतीत होते हैं पर कला के क्षेत्र में वे एक दूसरे के पूरक ही नहीं, परस्पर सायुज्य में रहते हैं। लोकधर्मी के द्वारा कला में वस्तु का आधान किया जाता है, नाट्यधर्मी के द्वारा कला के संस्कार पाती है, कविप्रतिभा के सौन्दर्य और कल्पना के योग से निखरती है। भरत ने दोनों पक्षों का अन्तः सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए कहा है-

स्वभावो लोकधर्मी तु विभावो नाट्यमेव हि। (नाट्यशास्त्र 21/193)

लोकधर्मी स्वभाव या वस्तुओं का लोकप्रत्यक्ष सहज रूप हैं, तो नाट्यधर्मी उस स्वभाव को विभाव के रूप में में ढाल देता है। इस प्रकार नाट्यधर्मी वास्तव में लोकधर्मी की ही कला के अनुशासन में परिणति हैं। इसीलिये नाट्यधर्मी लोकधर्मी से भिन्न नहीं है, वह लोकधर्मी का प्रातिभ दृष्टि से उन्मीलित रूप है और यह रूप ही रंगमंच क्या किसी भी कला का सार और प्राण है।

आङ्गिक अभिनय नाट्यधर्मी के द्वारा अधिक परिचालित होता उसमें राग (सामाजिक की प्रीति) का समावेश नाट्यधर्मिता के द्वारा आता है। अत एव भरत नाट्यधर्मी को नाट्य में अनिवार्य मानते हैं-

नाट्यधर्मीप्रवृत्तं हि सदा नाट्यं प्रयोजयेत्।
न ह्यङ्गाभिनयात् किञ्चिद ऋते रागः प्रवर्तते। । (नाट्यशास्त्र 13.84)

अभिनव भी यही कहते है-

यस्मात् कविगता नाट्यगता वालङ्कारचेष्टा नाट्यधर्मीरूपा सर्वप्राणवती (अभिनवभारती)

अतः लोकधर्मी से विच्छिन्न रहकर नाट्यधर्मी का कोई अस्तित्व कला में सम्भव नहीं है। अभिनव ने इसे एकदम स्पष्ट रूप में कहा हैं-

''लौकिकधर्म-व्यतिरेकेण नाट्ये न कश्चिद् धर्मोऽस्ति। तथापि स यत्र लोकागतप्रक्रियाक्रमो रञ्जनाधिक्यप्राधान्यमधिरोहियितुं कविनटव्यापारे वैचित्र्यं स्वीकुर्वन् नाट्यधर्मीत्युच्यते।''

दोनों धर्मियों के अन्तःसंबंध को स्पष्ट करते हुए अभि. पुनः कहते है कि लोकधर्मी भित्तिस्थानीय है तथा नाट्यधर्मी इस भित्ति पर उल्लेख्य वैचित्र्य। वस्तुतः लोकस्वभाव के मर्म से साक्षात्कार करने के लिये ही नाट्यधर्मी पद्धति का अङ्गीकार रंगमंच पर होता है। अभिनवगुप्त फिर कहते हैं कि लोक का आशय जनपद या देश के सभी निवासियों से है और उनकी अपनी प्रवृत्तियाँ होती हैं- उन प्रवृत्तियों से साक्षात्कार के लिये ही धर्मी का उपयोग होता है-

''लोको नाम जनपदवासी जनः। जनपदश्च देश एव। स च प्रवृत्तिक्रमेण प्रपञ्चतः, तत्प्रसङ्गेनैव तावद् धर्मी आयाता।''

7.7 कला में लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी की व्याप्ति

धर्मी की अवधारणा भारतीय कला-चिन्तन की मूलभूत मान्यताओं को प्रकट करती है। यह नाना नाम-रूपात्मक चराचर जगत् ही कला में व्यक्त होता है, पर रचनाकार की दृष्टि से प्रकटीकरण की प्रक्रिया धर्मी है। यह प्रक्रिया सभी कलाओं में प्रतिफलित होती है। काव्य और नाटक में रस निष्पत्ति के निरूपण में आचार्यों ने कहा कि संसार में कारण कार्य सहकारी हैं, वे ही काव्य-नाटक में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव बनते हैं। धर्मी के निरूपण में भरत कह चुके हैं कि लोकधर्मी स्वभाव है, नाट्यधर्मी विभाव।

इस प्रकार धर्मी सिद्धान्त भौतिक जगत् के यथार्थ को अस्वीकार नही कराता, वह उसे सही दृष्टि से देखने और व्यक्त करने का आग्रह करता है। तभी संसार में जो वस्तुएँ जिस रूप में हैं, कला में वे ही अन्य रूप में भासित होती हैं। कालिदास ने दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का चित्र अंकित करने के प्रसङ्ग में इसी को ''अन्यथाकरण'' कहा है -

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्।। (अभिज्ञानशाकुन्तल 6/14)

इस प्रकार के धर्मी के दो पक्षों के द्वारा समस्त कलाओं की रचना-प्रक्रिया की दो मूलभूत अनिवार्य अवस्थाएँ सूचित होती हैं। पहली को मम्मट आदि साहित्य-शास्त्रियों ने निपुणता या व्युत्पत्ति कहा है।

नाट्यधर्मी के वैशिष्ट्य का निरूपण करते हुए उन्होंने ''कल्पना'' शब्द का भी प्रयोग किया है। काव्य, नाटक आदि रचना में ''उचितरञ्जकेति वृत्तिकल्पनात्मिका क्रिया'' नाट्यधर्मी से ही घटित होती है। काव्य में कविकल्पितवृत्त का सन्निवेश काव्यगत नाट्यधर्मी है (वही)। नाट्यधर्मी के प्रयोग से काव्य में सौन्दर्याधान होता है। यहाँ अभिनव गुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत का यह उद्धरण दिया है-

यदत्रास्ति न तत्राऽस्य कवेर्वर्णनमर्हति।
यन्नसम्भवि तत्र स्यात् सम्भवत्यत्र तु धर्मतः।। (नाट्यशास्त्र, 74-75 की अभिनव भारती में उद्धृत)

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में आचार्य अभिनवगुप्त ने विस्तार से सोदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट किया है। धर्मी का सिद्धान्त काव्य और अन्य कलाओं पर भी लागू होता है। धर्मी की उपादेयता शिल्पकलाओं में भी देखी जा सकती है। अमूर्त को मूर्त करना नाट्यधर्मी का ही प्रतिफलन है। अभि. यहाँ माया पुष्पक नाट्य में ब्रह्मशाप को मूर्त करने का उदाहरण देते हुए इसे ''कला-शिल्प-कल्पना-कलित'' बताते हैं।

चित्रकला में धर्मी के इस प्रकार के उपयोग का सुन्दर उदाहरण व्यास के नाम से कविकण्ठाभरण में उद्धृत पद्य में मिलता है-

अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्ति विचक्षणाः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः।।

7.7.1 काव्य सर्जना में लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी की व्याप्ति

इस प्रकार धर्मी का सिद्धान्त कला सर्जनप्रक्रिया और कविव्यापार से जुड़ जाता है। काव्यशास्त्र में भामह, दण्डी, कुन्तक आदि ने इसका समावेश वक्रोक्ति निरूपण में कर लिया है। साथ ही धर्मी रचनाकार की स्वायत्तता और भौतिक जगत् की अपेक्षा अपूर्ववस्तु निर्माण क्षमता को भी प्रकट करती है। काव्यशास्त्री आनन्दवर्धन जब कहते हैं-

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।

या

भावानचेतनापि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।

व्यवहारयति यथेच्छं कविः काव्ये स्वतन्त्रतया।

तो वे नाट्यधर्मी की प्रक्रिया का ही काव्य की दृष्टि से अनुवाद कर रहे हैं मम्मट इसी कवि कर्म की ''अनन्यपरतन्त्रता'' कहते है, जो काव्यजगत् की स्वायत्तता स्थापित करता है। जिस प्रकार भरत ने चेतन अभिनेता द्वारा जड वस्तुओं का अभिनय या जड को चेतन के रूप में दिखाने को नाट्यधर्मी का उदाहरण माना है, उसी प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने भी कविधर्म में विवेचन कहा है-

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति कविः काव्ये यथेच्छं स्वतन्त्रतया।। (ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत)

कवि काव्य में अचेतन भावों को चतनवत् तथा चेतन भावों को अचेनवत् यथेच्छ स्वतन्त्रतापूर्वक दिखा सकता है। कवि अतथास्थित को तथास्ति दिखा सकता है, वह संसार को कुछ दूसरे क्ही रूप में प्रकट कर सकता है। काव्य की इस नाट्यधर्मिता के विषय में प्राकृत के कवियों ने भी कथन किया है।

चित्र में छाया, निम्नोन्नतत्व की अनुभूति उत्पन्न करना आदि भी चित्र में नाट्यधर्मी स्थानीय चित्रधर्मिता के उदाहरण हैं। क्षेमेन्द्र द्वारा व्यास के नाम से उद्धृत इस पद्य में कवि द्वारा अतथ्य को तथ्य के रूप में चित्रित कर देने की सिद्धि को चित्र में सम में निम्नोन्नत दिखाने के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है-

अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्ति विचक्षणाः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः।। (कविकण्ठाभरण)

7.8 कतिपय नाटकों में धर्मी प्रयोग

भरत ने जहाँ नाट्यधर्मी का विवेचन रंगमंच पर अभिनय की दृष्टि से किया था, अभि. काव्य या नाटक की वस्तुगत संरचना में कविकृत संरचनात्मक नवीनता के आधन या वस्तुविन्यास की मौलिकता को भी नाट्यधर्मी के ही रूप मानते हैं। बालरामायण में शूर्पणखा का मन्थरा का रूप धर कर आना, राक्षस का दशरथ का रूप धारण करना, (रत्नावली आदि में) विदूषक का सचिवदृश व्यवहार इत्यादि में नाट्यधर्मी का ही प्रतिफलन है।

अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में काव्य की दृष्टि से धर्मी के सिद्धान्त की परिणतियाँ निरूपित करते हुए कहा है काव्य में लोकधर्मी का प्रतिफलन स्वभावोक्ति के रूप में तथा नाट्यधर्मी का प्रतिफलन वक्रोक्ति के रूप में होता है। उक्ति के ये दोनों प्रकार काव्य में धर्मीस्थानीय बन कर रसास्वाद के जनक होते हैं-

काव्ये च लोकनाट्यधर्मीस्थानीयेन स्वभावोक्ति -वक्रोक्ति-प्रकारद्वयेन अलौकिक- प्रसन्नमधुरौजस्वि-शब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता। (ध्वन्यालोक 2/4 पर 'लोचन' टीका)

भट्टतौत ने भी अभिनव गुप्त के पूर्व काव्यधर्म या काव्य में धर्मी के सिद्धांत पर विचार करते हुए कहा था कि जो कुछ संसार में होता आया है, कवि उसका वर्णन करे- यह आवश्यक नहीं और जो संसार में सम्भव नहीं है वह काव्य में काव्यधर्म से सम्भव बनता है-

यदत्रास्ति न तत्रास्य कवेर्वर्णनमर्हति।
यन्न सम्भवि यत्र स्यात् सम्भवत्यत्र तु धर्मतः।।

इस दृष्टि से कवि कल्पना के द्वारा काव्य में अलङ्कार विशेष का आधान, **कविप्रौढोक्तिसिद्ध ध्वनि या कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध** ध्वनि तथा कविसमय - ये सब काव्य में नाट्यधर्मी स्थानीय काव्यधर्म के उदाहरण हैं।

परवर्ती आचार्यों ने प्रायः धर्मी का विवेचन नहीं किया है। केवल शार्ङ्गदेव का धर्मी निरूपण महत्त्वपूर्ण है। शार्ङ्गदेव के अनुसार धर्मी इतिकर्तव्यता है। यह इतिकर्तव्यता या प्रकारनियम चतुर्विध अभिनय की होती है। यह इतिकर्तव्यता दो प्रकार की है- लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी। लोकधर्मी के दो भेद हैं- चित्तवृत्त्यर्पिका तथा बाह्यवस्त्वनुकारिणी। चित्तवृत्त्यर्पिका नाट्योपयोगिनी कैशिकी वृत्ति का आश्रय ले कर तदनुरूप लौकिकी शोभा का अवेष्टित, उद्वेष्टित, व्यावर्तित तथा परिवर्तित- इन चार प्रकार के करणों के द्वारा निर्माण करती है। दूसरी बाह्यवस्त्वनुकारिणी लोक को अंशतः उपजीव्य बना कर प्रवृत्त होती है। पहली में गर्व आदि चित्तवृत्तियों का आङ्गिक व्यापार के द्वारा प्रदर्शन होता

है, दूसरी में किसी वस्तु (जैसे कमल) का बाहरी रूप प्रदर्शित किया जाता है।

7.9 सारांश

नाट्य को उत्पत्ति के विभिन्न पक्ष प्राप्त होते है। भरत ने इसे ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न बताया है। नाट्य में अभिनेता पर अभिनय का आरोप होता है, अत: इसे रूपक कहा जाता है। रूपक के 10 भेद हैं जो ऊपर गिनाए गये हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी रूपक हैं जिन्हें उपरूपक कहा जाता है। उपरूपकों की संख्या 18 है।

भरत ने नाट्य में धर्मी का अत्यधिक महत्त्व बताया है। ये धर्मी दो प्रकार के हैं – 1. लोकधर्मी और 2. नाट्यधर्मी। भरत एवं अभिनव गुप्त इन दोनों तत्त्वों का विशद विवेचन किया है। आचार्यों ने दोनों धर्मियों को विभिन्न कलाओं में व्याप्ति बताई है।

7.10 शब्दावली

कृतयुग	–	सतयुग
क्रीडनीयक	–	खिलौन
दृश्यं श्रव्यम्	–	देखने और सुनने योग्य
नाट्यवेदम्	–	नाट्यशास्त्र
पाठ्यम्	–	संवाद
लोकधर्मी	–	लोक का आश्रय लेकर प्रवृत्त होने वाला नाट्यधर्म
नाट्यधर्मी	–	नाट्यतत्त्वों का आश्रय लेकर प्रवृत्त होने वाला धर्म
नाटक	–	रूपक का एक प्रकार
प्रकरण	–	रूपक का एक प्रकार
नाट्यसंग्रह	–	भरत द्वारा निर्दिष्ट ग्यारह तत्त्वों का संग्रह

7.11 बौधप्रश्न

1. रूपक के कितने भेद है।

   (क) 3 (ख) 5

   (ग) 16 (घ) 10

2. धर्मी के कुल भेद है।

   (क) पांच (ख) सात

   (ग) दो (घ) चार

3. भरत ने नाट्य की उत्पत्ति मानी है-

   (क) ब्रह्मा से (ख) विष्णु से

   (ग) दुर्गा से (घ) काली से

4. भरत ने धर्मी का संग्रह किया है-

   (क) अभिनय में (ख) नाट्यसंग्रह में

   (ग) रूपक में (घ) वृत्ति में

5. लोकधर्मी और नाट्यधर्मी सम्बद्ध हैं।

   (क) रूपक से (ख) आहार्य से

(ग) रस और भाव से (घ) सात्त्विक भाव से

निम्नलिखित पर निबन्ध लिखिये

1. नाट्योत्पत्ति के विषय में भरत का मत प्रस्तुत कीजिए।
2. रूपकों के दस भेदों का विवेचन कीजिए।
3. धर्मी क्या है? स्पष्ट कीजिए
4. लोकधर्मी का भरत एवं अभिनवगुप्त के अनुसार व्याख्या कीजिए।
5. नाट्यधर्मी क्या है? स्पष्ट कीजिए।

7.12 उपयोगी पुस्तकें

1. नाट्यशास्त्र, 1-4 भाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
2. नाट्यशास्त्र विश्वकोश, 1-4 भाग, राधावल्लभ त्रिपाठी, दिल्ली।
3. नाट्यशास्त्र और विश्वरंगमञ्च, राधावल्लभ त्रिपाठी, दिल्ली।
4. दशरूपक, भोलाशंकर व्यास, वाराणसी।
5. साहित्यदर्पण, लक्ष्मीटीका, वाराणसी।
6. नाट्यशास्त्रीयानुसन्धानम्, रामजीउपाध्याय, वाराणसी।
7. ध्वन्यालोकलोचन, जगन्नाथपाठक, वाराणसी।

7.13 बौधप्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (ग)
3. (क)
4. (ख)
5. (ग)

निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी पाठ से स्वयं खोजें।

इकाई – 8

दशरूपक–विकल्पन – वस्तु, नेता तथा रस के आधार पर दशरूपक व उनके भेदोपभेदों का सोदाहरण विवेचन

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 दशरूपक एवं उनके भेदक तत्व

- 8.2.1 वस्तु
- 8.2.2 नेता
- 8.2.3 रस

8.3 रूपक के दस भेद

- 8.3.1 नाटक
- 8.3.2 प्रकरण
- 8.3.3 भाण
- 8.3.4 व्यायोग
- 8.3.5 समवकार
- 8.3.6 डिम
- 8.3.7 ईहामृग
- 8.3.8 अंक
- 8.3.9 वीथी
- 8.3.10 प्रहसन

8.4 उप रूपक के 18 भेद

- 8.4.1 नाटिका
- 8.4.2 त्रोटक
- 8.4.3 गोष्ठी
- 8.4.4 सट्टक
- 8.4.5 नाट्य रासक
- 8.4.6 प्रस्थान
- 8.4.7 उल्लाप्य
- 8.4.8 काव्य
- 8.4.9 प्रेङ्खण
- 8.4.10 रासक
- 8.4.11 संलापक
- 8.4.12 श्रीगदित
- 8.4.13 शिल्पक
- 8.4.14 विलासिका
- 8.4.15 दुर्मल्ली
- 8.4.16 प्रकरणिका
- 8.4.17 हल्लीश
- 8.4.18 भाणिका

8.5 सारांश

8.6 शब्दावली

8.7 बोध–प्रश्न

8.8 प्रमुख उपयोगी ग्रन्थ

8.9 बोध–प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

आप प्रथम प्रश्न–पत्र साहित्यशास्त्र : सिद्धान्त एवं समीक्षा की अष्टम इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई में आपका परिचय संस्कृत रूपकों से कराया जायेगा उनके दस भेदों के तीन भेदक तत्वों यथा वस्तु, नेता तथा रस के विषय में जानेंगे। रूपकों के 18 उप भेदों यथा त्रोटकादि का भी उदाहरण सहित अध्ययन करेंगे।

(1) इस इकाई में आप जानेंगे नाट्य या रूपक किसे कहते हैं ?

(2) रूपकों के प्रमुख दस भेद कौन–कौनसे हैं ?

8.1 प्रस्तावना

काव्य दो प्रकार का कहा गया है – दृश्य और श्रव्य – दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् – साहित्यदर्पण श्रव्यकाव्य के साथ–साथ दृश्य काव्य की भी ईसा पूर्व से लेकर बीसवीं सदी और आज तक अत्यन्त समृद्ध सुदीर्घ परम्परा पायी जाती है जो अपने शास्त्रीय मानकों एवं उच्च कोटि की कलात्मकता के कारण विश्वभर में समादृत है। इसके साथ ही नाट्य–साहित्य से सम्बन्धित लक्षण ग्रन्थों की भी सुनिश्चित परम्परा, भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर रामचन्द्र गुणचंद्र के नाट्यदप्रण तक पायी जाती है जिसमें नाट्यशास्त्र के विविध विषयों एवं तत्वों का विवेचन पाया जाता है। नाट्य या रूपक के प्रमुख घटक तत्व हैं वस्तु, नेता एवं रस। यही रूपकों के भेदोपभेद के कारक हैं। नाट्य में चार प्रकार के अभिनयों द्वारा काव्य में उपनिबद्ध पात्रों की अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है – अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् – (दशरूपक प्रथम प्रकाश)। चक्षुग्राह्य होने से इसे रूप भी कहते हैं – 'रूपं दृश्य–तयोच्यते।' (दशरूपक) इसी प्रकार नाटक के पात्रों रामादि का नट पर आरोप होने से इसे रूपक भी कहा जाता है – 'रूपकं तत्समारोपात्।' 'नट् अवस्पन्दने' धातु से नाट्य शब्द निष्पन्न हुआ है। इसमें वाक्यार्थरूप वाचिक अभिनय तथा सात्विक अभिनय की प्रधानता होती है अतः मुख्यतः यह रसाश्रय होता है। रसाश्रित रूपक के शुद्ध, दस भेद ही होते हैं – दशधैव रसाश्रयम्। (दशरूपक) यद्यपि सभी रूपकों में अनुकरणात्मकता समान रूप से पायी जाती है किंतु वे वस्तु, नेता और रस के आधार पर भिन्न–भिन्न स्वरूप वाले हो जाते हैं –वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः। (दशरूपक)

दृश्य काव्य वह है जिसका अभिनय द्वारा रंगमंच पर प्रदर्शन हो सके – दृश्यं तत्राभिनेयम्। (सा.द.)

इस प्रकार इन भेदक तत्वों के आधार से रूपक के दस भेद एवं अठारह उपभेद हो जाते हैं–

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।। (सा.द. 6/3)

इन सभी दसों रूपकों और 18 उपरूपकों का लक्षण कुछ विशेषताओं को छोड़कर नाटक की तरह ही होता हैं – **विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्।।** (सा.द. 6/6)

8.2 दशरूपक एवं उनके भेदक तत्त्व

वस्तु अर्थात् रूपक की कथावस्तु या इतिवृत्त के भेद से नेता अर्थात् नायक एवं नायिका तथा उनके सहयोगी पात्रों के भेद से एवं रस अर्थात् श्रृंगार वीरादि के भेद से रूपकों के नाटकादि दस मुख्य भेद एवं नाटिका त्रोटकादि 18 उपभेद हो जाते हैं। अतः वस्तु, नेता एवं रस इन तीन विभेदक तत्वों को ही

जानना चाहिये।

वस्तु –

नाट्य में कथावस्तु के दो भेद होते हैं एक मुख्य जिसे आधिकारिक कहते हैं और दूसरी अङ्ग रूप जिसे प्रासङ्गिक कहा जाता है – **तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः।** (दशरूपक 1/11)

आधिकारिक – जो कथा नायक के द्वारा प्रधान फल के स्वामित्व को अधिकार पाने 'पर्यन्त चलती' है वह अधिकारिक कहलाती है जैसे रामायण में रामचन्द्र का चरित। धर्म, अर्थ एवं काम ये त्रिवर्ग इतिवृत्त का फल होते हैं –

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च। (दशरूपक 1/16)

प्रासंगिक – अस्योपकरणार्थं तु प्रासंगिकमितीष्यते।

प्रधान कथावस्तु के साधक इतिवृत्त को प्रासंगिक वस्तु कहते हैं क्योंकि प्रसंग से उसके अपने प्रयोजन की भी सिद्धि हो जाती है जैसे सुग्रीव की कथा, जो मुख्य रामकथा की साधक है। किन्तु उसका अपना फल बालिवध एवं राज्य–प्राप्ति भी सिद्ध हो जाता है।

प्रासंगिक कथा के भी दो भेद हैं :–

पताका एवं प्रकरी –

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्। जो प्रासंगिक कथा प्रधान कथा का दूर तक अनुवर्तन करती है और जिसके पताका नायक का अपना भी प्रयोजन होता है वह पताका नामक प्रासंगिक कथा होती है जैसे रामायण में सुग्रीव की कथा। जो कथा एकदेशी है और जिसका अपना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता वह प्रकरी कहलाती है यथा रामायण में जटायु या श्रवण का वृतान्त।

ये तीन प्रकार की वस्तु पुनः तीन–तीन प्रकार की होती है प्रख्यात, उत्पाद्य एवं मिश्र। इतिहास से लिया गया वृत्त प्रख्यात, कवि कल्पित उत्पाद्य एवं इन दोनों का मिश्रण मिश्र। ये सभी इतिवृत्त दिव्य, मर्त्य और दिव्यादिव्य आदि भेद से भिन्न–भिन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार इतिवृत्त के निम्न भेद होते हैं –

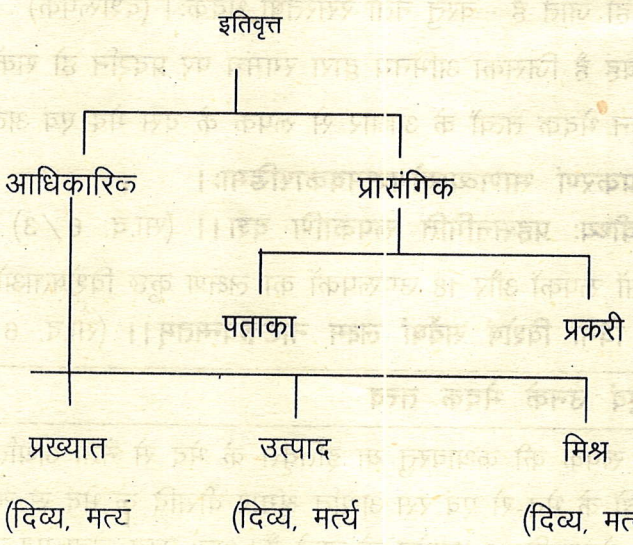

जो कथावस्तु रस या नायक सम्बन्धी उचित न हो उसका त्याग किया जाना चाहिये या उसमें परिवर्तन कर दिया जाना चाहिये – जैसे राम द्वारा कपट से बाली का वध –

"यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा।
विरूद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।" (सा.द. 6/50)

इस कथा को उदात्तराघव में छोड़ दिया गया है और महावीरचरित में बदल दिया गया है।

कथावस्तु सूच्य और दृश्य दो प्रकार की हो सकती है। वस्तु का जो भाग नीरस या अनुचित है उसे सूचित करना चाहिये और मधुर, उदात्त एवं सरस भाग को रंगमंच पर दिखाना चाहिये–

नीरसोह्यनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभाव निरन्तरः।। (द.रू. 1/57)

सूच्य वस्तु के प्रतिपादन के लिये अर्थोपक्षेपकों की योजना की जानी चाहिये। अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार के हैं :– विष्कम्भक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार एवं प्रवेशक

1. **विष्कम्भक** – भूत एवं भविष्य के कथांशों का सूचक एक या अधिक मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक होता है जिसका प्रयोग प्रथम अंक के प्रारम्भ में भी हो सकता है।
2. **चूलिका** – पर्दे के भीतर स्थित पात्रों द्वारा जब वस्तु की सूचना दी जाती है तो उसे चूलिका कहते हैं जैसे महावीरचरित में नेपथ्य में से भों भों ..... इत्यादि द्वारा राम के द्वारा परशुराम को जीतने की सूचना दी गई है।
3. **अंकास्य** – अंक के अंत के पात्रों द्वारा पूर्व अंक से विच्छिन्न अगले अंक की अर्थ की सूचना अंकास्य द्वारा दी जाती है। इसे अंकमुख भी कहते हैं।
4. **अंकावतार** – जहाँ पूर्व अंक का अंत होने पर उसकी कथा का विच्छेद किये बिना ही अगला अंक अभिन्न रूप से अवतरित होता हो वह अंकावतार है।
5. **प्रवेशक** – प्रवेशक में नीच पात्र अपनी अनुदात्त उक्तियों से भूत एवं भविष्य की घटनाओं की सूचना देते हैं। इसका प्रयोग दो अंको के मध्य ही होता है।

नाट्यधर्म की दृष्टि से वस्तु सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य एवं अश्राव्य इन तीन प्रकार की होती है।

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च (द.स. 1/64)

यह श्राव्यता सामाजिकों की अपेक्षा से नहीं है क्योंकि उनके लिये तो सारी कथा श्राव्य ही है रंगमंचस्थ पात्रों की दृष्टि से श्राव्य या अश्राव्य वस्तु होती है। सर्वश्राव्य वस्तु को 'प्रकाश' एवं अश्राव्य को स्वगत कहा जाता है –

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम्। (द.स. 1/64)

नियतश्राव्य जनान्तिक एवं अपवारित भेद से दो प्रकार का होता है।

नायक के लिये त्रिवर्ग रूप फल की प्राप्ति में साधनभूत पाँच अर्थप्रकृतियाँ हैं –

बीजबिन्दुपताख्याप्रकरी कार्यलक्षणः।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः।। (दशरूपक 1/18)

फलसिद्धि के इन उपायों के द्वारा नायक अपने कार्य व्यापार का प्रारम्भ करता है जिसकी पाँच अवस्थाएं आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम होती हैं।

अर्थप्रकृतियाँ

1. **बीज** – उस फल का मुख्य हेतु जिसका प्रारम्भ में सूक्ष्म रूप में संकेत होता है किन्तु आगे चलकर वह विस्तार पाता है, बीज कहलाता है। जैसे वेणीसंहार में द्रौपदी का केश संयमन फल है। उसका हेतु है भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह, यही बीज हैं।

2. **बिन्दु** – अवान्तर कार्य की समाप्ति से कथा के मुख्य प्रयोजन के विच्छिन्न होने पर जो उसके अविच्छेद या निरन्तरता का कारण होता है वह बिन्दु है। जल में तैल के समान यह फलोपाय नाट्य में फैल जाता है अतः इसे बिन्दु कहते हैं। जैसे रत्नावली में अनङ्गपूजा की घटना से मुख्य प्रयोजन के विच्छिन्न होने पर सागरिका के मन में उदयन के प्रति औत्सुक्य उत्पन्न करना बिन्दु है।

3–4. **पताका एवं प्रकरी** – पताका एवं प्रकरी की वस्तु नायक के मुख्य प्रयोजन की सिद्धि में सहायक होती हैं।

5. **कार्य** – नायक का कार्य व्यापार आरम्भ से लेकर फल प्राप्ति पर्यन्त चलता रहता है। नायक के इस कार्य व्यापार की पाँच अवस्थाएं निम्न प्रकार हैं –

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशा नियताप्तिफलागमः।।

1. आरम्भ – औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे। प्रचुर फल प्राप्ति के लिये उत्सुकता होना ही आरम्भ है। जैसे उदयन के कार्य का आरम्भ मंत्री यौगन्धरायण द्वारा रत्नावली में 'प्रारम्भे ..... आदि द्वारा किया जाता है।
2. यत्न – फल के प्राप्त न होने पर उसे प्राप्त करने के लिये अत्यन्त वेगपूर्वक जो उद्योग किया जाय उसे यत्न कहते हैं। जैसे रत्नावली में सागरिका द्वारा उदयन का चित्र बनाना।
3. प्राप्त्याशा – उपाय होने पर भी विघ्न की आशंका के कारण फल प्राप्ति का निश्चय न होने पर प्राप्त्याशा कार्यावस्था होती हैं। जैसे–सागरिका उदयन के मिलन में वासवादत्ता के विघ्न की आशंका विदूषक की उक्ति द्वारा दिखाई गई है।
4. नियताप्ति – विघ्नों का अभाव होने पर फलप्राप्ति का निश्चय हो जाना नियताप्ति है।
5. फलागम – पूर्ण रूप से फल की प्राप्ति फलागम है।

अर्थ प्रकृतियों का सम्बन्ध इतिवृत्त के फल के साथ है और उसी की सिद्धि के ये उपाय हैं। अवस्थाओं का संबंध नायक के कार्य व्यापार से है अतः इन दोनों के आधार पर इतिवृत्त को पाँच भागों में बांटा जाता है जिन्हें पंचसंधि कहा जाता है –

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः।।

ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ ही पाँचो अवस्थाओं से समन्वित होकर क्रम से मुखादि पाँच संधियाँ बन जाती है। पाँच संधियाँ हैं –

मुखप्रतिमुख गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः। (दश. 1/23)

1. **मुख संधि –**

यत्र बीज समुत्पत्तिर्नानार्थ रससम्भवा।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम्।। (सा.द. 6/76)

जहाँ अनेक अर्थ और रसों के अभिव्यंजक बीज की प्रारम्भ नामक कार्यावस्था के साथ संयोग से उत्पत्ति हो वह मुखसंधि कहलाती है जैसे रत्नावली का प्रथम अंक। इस संधि के उपक्षेपादि बारह अंग होते हैं।

2. **प्रतिमुख संधि –**

फलप्रधानोपायस्य मुखसंधिनिवेशिनः।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्।। (सा.द. 6/77)

प्रतिमुख संधि में मुखसंधि में सन्निवेशित फलप्रधान बीज का कुछ लक्ष्य एवं कुछ अलक्ष्य विकास पाया जाता है। जैसे रत्नावली में उदयन एवं सागरिका के मिलन एवं प्रेम की जो सूचना प्रथम अंक में बीज के रूप में थी उसे विदूषक एवं सुसंगता ने जान लिया और वासवदत्ता ने चित्र वृतान्त के द्वारा उसकी ऊहा की अतः वह गोपनीय भी रहा। इस संधि के विलासादि 13 अंग होते हैं।

3. **गर्भसंधि –**

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किंचन।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्यसान्वेषणवान्मुहुः।। (सा.द. 6/78)

जो फलप्रधान उपाय पूर्वसंधियों में कुछ–कुछ प्रकट हुआ था उसका ह्रास और अन्वेषण युक्त बार–बार विकास जहाँ हो वह गर्भ संधि है। फल को भीतर रखने के कारण इसे गर्भ कहते हैं। जैसे रत्नावली के द्वितीय एवं तृतीय अंक में फल का बार–बार ह्रास एवं अन्वेषण पाया जाता हैं। इस गर्भ संधि के अभूताहरणादि 12 अंग होते हैं।

4. **विमर्श या अवमर्श –**

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भताधिकः।
शापाद्यै सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः।। (सा.द. 6/79)

जहाँ मुख्य फल का उपाय गर्भ संधि से अधिक उद्भिन्न हो किंतु शापादि के कारण विघ्न युक्त हो वह विमर्श या अवमर्श संधि कहलाती हैं। जैसे शाकुन्तल में चतुर्थ अंक से लेकर सप्तम अंक में शकुंतला के प्रत्ययज्ञान पर्यन्त की कथा। इसके अपवादादि 13 अंग होते हैं।

5. **निवर्हण या उपसंहृति –**

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।। (सा.द. 6/80)

जहाँ बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुख संधि आदि में अपने–अपने स्थान पर बिखरे हुए आरम्भादि अर्थों को मुख्य प्रयोजन के साथ सम्बन्धित दिखाया जाता है वहाँ निवर्हण या उपसंहृति नामक संधि होती है। जैसे वेणीसंहार में कंचुकी महाराज वर्धसे .. आदि के द्वारा मुख संधि आदि में बिखरे हुए शत्रुनिपात, राज्यलाभ, भीमसेन का क्रोध आदि

का एक प्रयोजन द्रौपदी का केशबंधन से सम्बन्ध दिखाया गया है। इस संधि के संधि विवोधादि 14 अंग हैं।

इस प्रकार कथावस्तु 64 अंगों सहित पंच संधि युक्त होती है। इन सन्ध्यंगों का प्रयोजन इष्ट अर्थ की रचना करना, गोपनीय को छिपाना, प्रकाशन योग्य को प्रकट करना, अभिनय में राग होना, काव्य में वैचित्र्य और इतिवृत्त को विच्छिन्न न होने देना है।

इस प्रकार इतिवृत्त का विभाजन बीज एवं नायक के कार्यव्यापार के समन्वय की दृष्टि से पाँच संधियों में किया जाता है। हम देखेंगे कि रूपक के किस भेद में कौन–कौन सी संधियाँ होती हैं क्योंकि वस्तु रूपक के भेदों का एक मुख्य कारण है।

8.2.2 नेता

रूपकों का दूसरा भेदक तत्त्व है – नेता अर्थात् नायक, नायिका एवं उनके सहायक। सर्वप्रथम नेता अर्थात् कथा नायक के सामान्य गुणों को बताते हुए उसे विनम्रतादि गुणों से युक्त कहा गया है –

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियम्वदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा।।
बुद्धयुत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः।।

कथा नायक को विनम्र, मधुर अर्थात् देखने में प्रिय, सब कुछ त्याग कर देने वाला, क्षिप्रकारी, प्रिय बोलने वाला लोकप्रिय, मन की निर्मलता से युक्त, वाक्पटु, उच्चकुलीन अचचंल, युवा, बुद्धि–उत्साह–स्मृति–प्रज्ञा–कला तथा मान से युक्त, दृढ़ तेजस्वी, शास्त्रज्ञ तथा धार्मिक होना चाहिये।

इन सामान्य गुणों से युक्त नायक के चार प्रमुख भेद रूपकों में पाये जाते हैं –

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम्। (दशरूपक 2/3)

यह नायक ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत भेद से चार प्रकार का होता है। इन चारों प्रकार के नायकों में धीरता गुण विद्यमान रहता है – व्यवसायादचल न धैर्य विध्ने महत्यापि।' महान विध्न उपस्थित होने पर भी अपने निश्चय से विचलित न होना धैर्य है।

1. **धीरललित – निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः।** यह नायक अमात्यादि के द्वारा राज्य के योगक्षेम की व्यवस्था देखने से निश्चिन्त होकर कलाओं एवं भोगों में आसक्त रहता है। इसमें श्रृंगार की प्रधानता होने से कोमल एवं मृदु स्वभाव का होता है। जैसे रत्नावली नाटिका का उदयन।

2. **धीरशान्त – सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।** विनयादि सामान्य गुणों से युक्त ब्राह्मण वणिक या मंत्री आदि धीरशान्त कोटि के नायक होते हैं। प्रकरण के नायक विप्रादि में निश्चिन्तता होने पर भी शान्तता ही होती है लालित्य नहीं। जैसे मालती–माधव का नायक माधव और मृच्छकटिक का चारूदत्त।

3. **धीरोदात्त – महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।**
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः।।

महासत्व अर्थात् शोक, क्रोधादि से विचलित न होने वाला अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा से परे रहने वाला स्थिर, अहंभाव को दबाकर रखने वाला, दृढ़व्रती नायक

धीरोदात्त श्रेणी का होता है। जैसे नागानन्द में जीमूतवाहन।

4. **धीरोद्धत – दम्भमात्सर्य–भूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।**
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः।।

धीरोद्धत कोटि के नायक में घमण्ड ईर्ष्या अधिक होता है, वह माया छल–कपट में तत्पर रहता है, अहंकारी, चंचल क्रोधी और स्वयं की प्रशंसा करने वाला होता है जैसे रावण।

ये ललितत्वादि निश्चिन्ततादि गुणों से युक्त अवस्था को बताने वाली कोटियाँ हैं, नियत रूप से जाति को बताने वाली नहीं क्योंकि महाकवियों द्वारा एक ही नायक में भिन्न–भिन्न अनेक अवस्थाओं का कथन किया जाना भी पाया जाता है किन्तु यह अप्रधान नायक के संदर्भ में ही देखा जाता है जैसे भवभूति द्वारा परशुराम को कहीं धीरोदात्त रूप में तथा कहीं धीरोद्धत रूप में वर्णित किया गया है।

नायक की श्रृंगाररस सम्बन्धी तीन अवस्थाएं दक्षिण, शठ तथा धृष्ट भी पाई जाती हैं जो पहली नायिका के प्रति व्यवहार के आधार पर हैं। विश्वनाथ ने चौथी अवस्था अनुकूल भी मानी है। इस प्रकार ये चार प्रकार के नायक श्रृंगार की अवस्था के आधार पर 16 प्रकार के हो जाते हैं।

नायक के सहायक – पीठमर्द, विट, विदूषक एवं प्रतिनायकादि सहायक भी रूपक में नायक के साथ होते हैं। पताकानायक उस प्रधान नायक का अनुचर एवं भक्त होता है, चतुर लेकिन उससे गुणों में कुछ न्यून होता है जैसे रामायण में सुग्रीव। विट संगीतादि किसी एक विद्या को जानने वाला होता है। विदूषक हास्य उत्पन्न करने वाला नायक का सहयोगी होता है।

प्रतिनायक लोभी, धीरोद्धत, कठोर, दुराग्रही, पापी एवं व्यवसकी नायक का शत्रु होता है। जैसे रावण, दुर्योधनादि।

नायक में शोभा, विलास, माधुर्य, गम्भीरता, स्थिरता, तेजस्, ललित तथा औद्रार्य, ये आठ सात्विक गुण पाये जाते हैं।

नायिका –

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।

नायिका भी नायक के ही सामान्य गुणों से युक्त होती है तथा वह स्वकीया, परकीया और साधारणस्त्री के भेद से तीन प्रकार की होती है।

स्वकीया – विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया। (सा.द. 3/57)

विनम्रता, सरलतादि गुणों से युक्त, गृहकार्य में संलग्न पतिव्रता स्त्री स्वकीया नायिका कहलाती है। यह स्वकीया भी मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भेदों से तीन प्रकार की होती है।

मुग्धा – मुग्धा नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि। (दशरूपक 2/16)

जो अवस्था एवं कामभावना में नवीन होती है, रतिक्रीड़ा से अनभिज्ञ होती है एवं क्रोध करने में कोमल होती है वह मुग्धा नायिका होती है जैसे शाकुन्तलम् की शकुन्तला। साहित्यदप्रण में विश्वनाथ ने मुग्धा के पाँच भेद बताये हैं और उनके उदाहरण भी दिये हैं।

मध्या – मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा। (दशरूपक 2/16)

जिसमें यौवन और काम का उदय हो रहा है, जो बेसुधी अवस्थापर्यन्त रति में समर्थ है, वह मध्या नायिका है विश्वनाथ ने मध्या के भी पाँच भेद किये हैं।

प्रगल्भा – **यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके।**
विलीयमानेवानन्दाद्ररतारम्भेऽप्यचेतना।।

जो यौवन में अंधी सी, काम से उन्मत्त सी, आनन्द के कारण प्रियतम के अंगों में प्रविष्ट होती हुई सी सुरत के प्रारम्भ में भी आचेत हो जाती है वह प्रगल्भा नायिका है। विश्वनाथ ने इसके भी छः भेद और उनके उदाहरण दिये हैं।

स्वकीया में मुग्धा का एक ही भेद माना गया है जबकि मध्या एवं प्रगल्भा के धीरा, अधीरा और धीराधीरा ये तीन–तीन भेद एवं ज्येष्ठ, कनिष्ठा के भेद से 6–6 भेद हो जाते हैं। इस प्रकार स्वकीया के कुल 13 भेद होते हैं –

परकीया – **अन्यस्त्री कन्यकोढा चनान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित्।**
कन्यानुराननिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम्।। (दश. 2/20)

परकीया दो प्रकार की होती है – कन्या तथा विवाहिता। विवाहिता स्त्री को कभी भी प्रधान रस की नायिका नहीं बनाना चाहिये। कन्या को अंगी व अंग दोनों रस का आलम्बन बनाया जा सकता है।

साधारण स्त्री –

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक्। (दश. 2/21)

कला, प्रगल्भता एवं धूर्तता से युक्त गणिका को साधारणस्त्री कहते हैं। जैसे मृच्छकटिक की वसन्तसेना। जिस रूपक में राजा या दिव्य पुरुष नायक हो उसमें नायिका साधारणस्त्री नहीं होनी चाहिये। प्रहसन को छोड़कर अन्य प्रकरणादि में गणिका को नायक में अनुरक्त दिखाना चाहिये। इन नायिकाओं की स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थाएं एवं हाव–भावादि बीस सात्विक अलंकार होते हैं।

वृत्तियाँ – प्रवृत्ति रूप नायक के मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार वृत्ति कहलाते हैं। इन्हें काव्य की मातृका कहा जाता है 'काव्यानां मातृका वृत्तयः।' (नाट्यशास्त्र 18.4)

वृत्तियाँ चार हैं – सात्त्वती, भारती, कैशिकी एवं आरभटी। सात्त्वती वृत्ति में मानस व्यापार की प्रधानता, भारती में वाचिक एवं कौशिकी और आरभटी में कायिक व्यापार की प्रधानता होती है। ये वृत्तियाँ रस, भाव व अभिनय का अनुसरण करती हैं।

1. **कैशिकी –**

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृंगारचेष्टितैः श्रृंगारचेष्टितैः। (दश. 2/47)

गीत, नृत्य, विलासादि श्रृंगारिक चेष्टाओं से कोमल वृत्ति कैशिकी होती है। कौशिकी वृत्ति में नायक का कामरूपी फल से सम्बन्ध व्यापार पाया जाता है। इस वृत्ति के चार अंग नर्म, नर्मसिफंज, नर्मस्फोट एवं नर्मगर्भ हैं।

2. **सात्त्वती –**

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।
संलापोत्थापकावस्यां साङ्घात्यः परिवर्तकः।। (दश. 2/53)

सात्त्वती वृत्ति शोक रहित एवं सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया और सरलता जैसे भावों से युक्त

होती है। इसमें संलापक, उत्थापक, सांघात्य एवं परिवर्तक ये चार अंग होते हैं।

3. **आरभटी –**

आरभटी पुनः। मायेन्द्रजालसंग्राम क्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः। (दश. 2/56)

आरभटी वृत्ति में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोधादि चेष्टाएं होती हैं। संक्षिप्तिका, संफेट, वस्तूत्थान तथा अवपातन ये इसके अंग हैं।

4. **भारती –**

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः।।

नियत पुरुषों के द्वारा संस्कृत में किया गया वाचिक व्यापार भारती वृत्ति कहलाता है जिसके प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख ये चार अंग होते हैं।

श्रृंगार एवं हास्य रस में कैशिकी, वीर एवं अद्भुत में सात्त्वती, रौद्र, वीभत्स, करूण एवं भयानक में आरभटी–वृत्ति का प्रयोग होता है। शब्द वृत्ति होने से भारती का सभी रसों में प्रयोग होता है।

8.2.3 रस

जब रूपक में वर्णित अथवा अभिनय द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि भाव तथा सात्त्विक भावों के द्वारा रत्यादि स्थायी भावों को आस्वाद्यमान अर्थात् आनन्दानुभूति के योग्य बना दिया जाता है तो उसे रस कहते हैं। यह रसास्वादन दर्शक या सामाजिक को होता है, क्योंकि रस चेतन का धर्म है।

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः।। (दश. 4/1)

रसास्वादन का हेतु होने से 'आयुर्घृतम्' के समान काव्य को भी सरस या रसवत् कहा जाता है। आनन्दानुभूति ही रस है, जिसमें करुण, वीभत्सादि दुःखमय रस भी आते हैं क्योंकि वे भी सहृदय के हृदय को आनन्दित ही करते हैं। यदि ये रस दुःखमय होते तो करुण रसादि प्रधान काव्य या नाटक में कोई प्रवृत्त ही नहीं होता और रामायणादि करुणरस प्रधान ग्रन्थ भी दुःख के हेतु हो जाते। पुत्रादि वियोग, वनवासादि जो लोक में दुःख का कारण होते हैं वे ही काव्य से सम्बन्ध होने पर अलौकिक विभाव कहलाते हैं। विभावन नामक अलौकिक व्यापार के कारण वे सुख के जनक हो जाते हैं। रसास्वादन में सामाजिक की इस जन्म एवं पूर्व जन्म की वासना मिलकर कारण होती है।

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्।
वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः।। (सा.द. 3/9)

विभाव –

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा।। (दश. 4/2)

कवि के द्वारा वर्णित दुष्यन्त शकुन्तलादि जो विशिष्ट रूप वाले हो जाने के कारण आलम्बन रूप में या उद्दीपन रूप में जाने जाते हैं अतः विभाव कहलाते हैं।

अनुभाव – अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः। (दश. 4/3)

दर्शकों को रत्यादि स्थायीभावों को अनुभव कराने वाले भ्रूविक्षेप, कटाक्षादि शारीरिक विकार अनुभाव कहलाते हैं। ये भाव के पश्चात् उत्पन्न होते हैं –

अनु पश्चाद् भवन्ति इति अनुभावाः अथवा

सामाजिकान् स्थायीभावन–अनुभावयन्ति इति –जो सामाजिकों को स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं।

सात्त्विक भाव –

पृथग्भावा भवन्त्यन्येघ्नुभावत्वेघपि सात्त्विकाः। (दश. 4/4)

अन्य जो सात्विक भाव हैं वे भी अनुभाव ही हैं किंतु सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण भिन्न हैं। सत्त्व का अर्थ है किसी भाव से भावित होना। ये अश्रु रोमांचादि भी अनुभावों के समान हृदय में स्थित हर्ष, शोकादि भावों के विकार एवं उनके सूचक होते हैं। सात्विक भाव आठ हैं – स्तम्भ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु तथा वैस्वर्य।

व्यभिचारि भाव – विविध प्रकार से स्थायीभाव के अनुकूल चलने वाले और सागर की उसी में तरंगों के समान प्रकट एवं विलीन होने वाले भाव व्यभिचारिभाव कहलाते हैं।

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।। (दश. 4/7)

व्यभिचारिभाव 33 हैं। निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, औग्रय, चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, सुमति, अलसंता, वेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य तथा चपलता।

स्थायीभाव –

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।।(दश. 4/34)

रत्यादि स्थायी भाव वे हैं जो अपने विरुद्ध या अनुकूल किसी प्रकार के भावों से विच्छिन्न नहीं होते और समुद्र के समान उन्हें अपने में आत्मसात कर लेते हैं। यही भाव परिपुष्ट होकर रसरूपता को प्राप्त होते हैं।

स्थायीभाव आठ हैं – रति, उत्साह, जुगुप्सा क्रोध ह्रास, विस्मय, भय तथा शोक। कुछ लोग शम को भी नवम स्थायी भाव मानते हैं। किन्तु रूपकों में उसकी पुष्टि नहीं होती।

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो ह्रासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।। (दश. 4/35)

नाट्यशास्त्र में भी आठ स्थायी भावों का ही वर्णन है। इन्हीं आठ स्थायी भावों के श्रृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक एवं करुण ये आठ रस रूपकों में पाये जाते हैं।

8.3 रूपकों के भेद

8.3.1 नाटक –

नाटक अन्य सभी रूपकों का मूल है इसमें रूपक के सम्पूर्ण लक्षण पाये जाते हैं, इसमें सभी रसों का आश्रय लिया जाता है। नाटक के ही लक्षणों में वस्तु, नेता, रस के परिवर्तन से प्रकरणादि अन्य भेद बन जाते हैं अत रूपकों में नाटक ही प्रमुख है।

प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात्।

सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते।। (दश. 3/1)

विश्वनाथ ने नाटक का लक्षण निम्न प्रकार किया है –

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पंचसंधिसमन्वितम्।
विलासद्धर्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः।।
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम्।
पंचादिका दशपरास्तत्रांकाः परिकीर्तिताः।।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः।।
एक एव भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा।
अंगमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः।।

नाटक की कथा रामायण–महाभारत आदि इतिहास में प्रसिद्ध हो। नाटक पाँच संधियों से युक्त तथा विलास, समृद्धि, ऐश्वर्यादि के वर्णन से युक्त हो। पांच से लेकर दस अंकों तक नाटक में हों। प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न कोई राजार्षि धीरोदात्त कोटि का नायक जैसे दुष्यन्त हो या दिव्य श्री कृष्ण या दिव्यादिव्य श्री रामचन्द्र के समान नायक हो। अंगीरस श्रृंगार या वीर एवं अन्य रस अंग हो। निर्वहण संधि में अद्भुत रस की योजना हो।

नाटक में रसपुष्टि की अपेक्षा से छत्तीस लक्षण, तैंतीस नाट्यालंकार, तेरह वीथ्यंग तथा दस लास्यांगों का यथास्थान व यथासम्भव प्रयोग किया जाना चाहिये। नाट्शास्त्र में भी कहा गया है –

पंचसंधि चतुर्वृत्ति चतुःषष्टयंगसंयुतम्।
षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतमलंकारोपशोभितम्
कविः कुर्यात्तु नाटकम्।।

कवि को पाँच संधियों से, चार वृत्तियों से, चौसठ सन्ध्यङ्गों से तथा छत्तीस लक्षण या नाट्यालंकारों से युक्त नाटक की रचना करनी चाहिये।

नाटक के प्रारम्भ में सूत्रधार पूर्वरङ्ग का कार्य करता है तत्पश्चात् स्थापक वस्तु, बीज, मुख या पात्र द्वारा कथावस्तु की सूचना देता है। इसके बाद भारतीवृत्ति द्वारा काव्यार्थ की स्थापना की जाती है। भारती वृत्ति के प्ररोचना, वीथी, प्रहसन एवं आमुख ये चार अंग हैं। प्रशंसा के द्वारा दर्शकों को कथा की ओर उन्मुख करना प्ररोचना है – **उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना।** (दश. 3/6)

जैसे रत्नावली में 'श्रीहर्षो निपुणः कविः .....'।

आमुख को प्रस्तावना भी कहते हैं जिसमें सूत्रधार नटी, मार्ष या विदूषक को प्रस्तुत अर्थ का आक्षेप करने वाला अपना कार्य बताता है। धनञ्जय ने आमुख में वीथी के 13 अंगों को भी माना है। सूत्रधार प्रस्तावना के अंत में चला जाता है और नाटक का प्रारम्भ होता है।

नाटक में आधिकारिक कथावस्तु के 64 अंग होते हैं पताका में कुछ न्यून संधियाँ एवं सन्ध्यंग होते हैं किन्तु – प्रकरी संधि रहित होती है।

नाटक के प्रारम्भ में कार्य के औचित्य के अनुसार विष्कम्भक या अंक की रचना होनी चाहिये –

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः। (दश. 3/28)

अंक वह है जिसमें नायक का चरित्र प्रत्यक्ष हो, जो बिंदु नामक अर्थप्रकृति से व्याप्त हो तथा जो अनेक प्रकार के प्रयोजन, संविधान एवं रसों का आश्रय हो –

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः।
अंको नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः।। (दश. 3/30–31)

उस अंक में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव, स्थायीभाव को ग्रहण करते एवं छोड़ते अंगी रस का पोषण तो करना चाहिये लेकिन कथा विच्छिन्न नहीं होनी चाहिये और न ही सन्ध्यंगों, नाट्यालंकारों आदि का इतना विस्तार हो कि रस का तिरोधान हो जाये। अंकों में यात्रा, वध, युद्ध, राज्य–विप्लव आदि अदर्शनीयों की सूचना मात्र होनी चाहिये। अंक में पताकास्थानकों की योजना होनी चाहिये और अंत में बीज के समान बिंदु भी रखना चाहिये।

विक्रमोर्वशीय पाँच अंकों के नाट्क का उदाहरण है, वेणीसंहार में छः, अभिज्ञानशाकुंतल में सात तथा बालरामायण में दस अंक हैं। बालरामायण को महानाटक कहा जाता है क्योंकि ये सम्पूर्ण पताकास्थानकों एवं दशो अंगों से युक्त है।

8.3.2 प्रकरण

कहा गया है कि रूपकों के सभी भेदों व उपभेदों का लक्षण कुछ विशेषताओं को छोड़कर नाटक के समान ही होता है – विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्। प्रकरण में वस्तु, नेता तथा नायिका के अतिरिक्त सब कुछ नाटक के समान ही होता है। विश्वनाथ के अनुसार प्रकरण का लक्षण है –

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
शृंगारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्।
सापायधर्मकामार्थ परो धीरप्रशान्तकः।।
नायिका कुलजा क्वापि, वेश्या क्वापि, इयं क्वचित्।
तेन भेदास्त्रयस्तस्यतत्र भेदस्तृतीयकः।।
कितवद्यूतकारादि विटचेटकसंकुलः। (सा.द. 6/224–226)

प्रकरण का इतिवृत्त उत्पाद्य या कवि कल्पित होता है तथा वह लौकिक अर्थात् – अनुदात्त होता है। इसकी कथा इतिहास प्रसिद्ध नहीं होती। इसका अंगी रस श्रृंगार होता है। इसका नायक, धीरप्रशान्त कोटि का विघ्नपूर्ण धर्म, अर्थ, काम में तत्पर ब्राह्मण, मंत्री या वैश्य होता है। जैसे मृच्छकटिक में ब्राह्मण नायक, मालतीमाधव में अमात्य और पुष्पभूषित में वैश्य नायक है। प्रकरण की नायिका या तो कुलीन होती है या वेश्या और कहीं – कहीं दोनों होती हैं। इस प्रकार प्रकरण नायिका भेद से तीन प्रकार का हो जाता है पहले दोनों शुद्ध प्रकरण हैं एवं अंतिम संकीर्ण प्रकरण कहलाता है जो धूर्त, जुआरी, विटादि से युक्त होता है। इसका उदाहरण मृच्छकटिक है। शुद्ध प्रकरण के उदाहरण हैं – पुष्पदूषितक प्रकरण की नायिका कुलीन है, रंगवृत्त में वेश्या नायिका है। संकीर्ण प्रकरण में कुलीन नारी को आभ्यन्तरा और वेश्या को बाह्या रखने का नियम है। शेष सभी नाटक के समान ही होता है।

8.3.3 भाण

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः।।
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ति कुर्यादाकाशभाषितैः।

सूचयेद्वीरशृंगारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवै।।
भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्कं वस्तुकल्पितम्।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च।। (दश. 3/49–51)

भाण नामक रूपक वह है जिसमें किसी कुशल एवं बुद्धिमान विट द्वारा स्वयं अनुभूत या दूसरे के द्वारा अनुभूत धूर्त चरित का वर्णन किया गया हो। इसमें वह आकाशभाषित के द्वारा सम्बोधन एवं उक्ति–प्रत्युक्ति करता है। वीर रस की सूचना शौर्य के वर्णन से और श्रृंगार रस की सूचना विलास के वर्णन से देता है। इसकी कथा कवि–कल्पित होती है। इसमें एक ही अंक होता है अधिकांशतः भारती वृत्ति ही प्रधान होती है। भारती वृत्ति प्रधानत्वात् भाणः। भणन या वाचिक व्यापार के कारण इसे भाण कहते हैं। अंगों सहित मुख एवं निर्वहण दो ही संधियाँ पाई जाती हैं। भाण में लास्य के गेयपदादि दस अंग पाये जाते हैं। विश्वनाथ ने भाण का उदाहरण दिया है – लीलामधुकर नामक भाण।

8.3.4 प्रहसन

भाणवत्संधिसन्ध्यंगलास्यांगाङ्गैर्विनिर्मितम्।
भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम्।। (सा.द. 6/265)

प्रहसन भाण के समान ही संधियों, सन्ध्यंगों, लास्याङ्गों और अंकों से युक्त होता है। जिसमें निन्दनीय पुरुषों का कवि कल्पित वृतान्त होता है। इसमें न आरभटी वृत्ति होती है और न ही विष्कम्भक या प्रवेशक। यह हास्य रस प्रधान होता है। वीथ्यङ्ग कहीं होते हैं कहीं नहीं। यह तीन प्रकार का होता है, शुद्ध, वैकृत तथा संकर।

शुद्ध प्रहसन में पाखण्डी विप्रादि चरित होता है। यह विटों से और चेट–चेटी से भरा हुआ तथा उनकी भाषा और वेष से युक्त होता है।

विकृत प्रहसन में कामुक, दूत, योद्धादि के वेष को धारण करने वाले नपुंसक, तपस्वी या वृद्धादि हास्य रस के विभाव होते हैं।

संकीर्ण प्रहसन धूर्तों से भरा हुआ तथा वीथी के अंगों से मिश्रित होता है। प्रहसन में स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित ये 6 प्रकार के हास्य पाये जाते हैं। कंदप्रकेलि तथा सागर कौमुदी शुद्ध प्रहसन के उदाहरण हैं। विकृत प्रहसन का उदाहरण है कलिकेलि। संकीर्ण प्रहसन के उदाहरण हैं – धूर्तचरितम् सौरन्ध्रिका, लटकमेलकम्।

8.3.5 डिम

मायेन्द्रजालसंग्राम क्रोधोद्भ्रान्तचेष्टितैः।
उपरागैश्च भूयिष्ठो डिमः ख्यातेतिवृत्तकः।।
अंगी रौद्ररसश्च सर्वेऽङ्गानि रसाः पुनः।
चत्वारोऽङ्को मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ।।
नायका देवगान्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः।
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोड़शात्यन्तमुद्धताः।।
वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमर्शाश्च संधयः।
दीप्ताः स्युः षड्रसाः शान्तहास्य श्रृंगारवर्जिताः।। (सा.द. 6/241–244)

डिम रूपक की कथा इतिहास प्रसिद्ध होती है। देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महोरग, भूत, प्रेत पिशाचादि अत्यन्त उद्धत सोलह नायकों से युक्त होता है। माया, इन्द्रजालादि अनुभावों का

इसमें आश्रय लिया जाता है। इसका अंगी रस रौद्र होता है एवं यह शांत, हास्य एवं श्रृंगार के अतिरिक्त सभी 6 दीप्त रसों से युक्त होता है। कैशिकी के अतिरिक्त तीनों वृत्तियाँ इसमें पायी जाती हैं। इसमें चार अंक होते हैं एवं विष्कम्भक तथा प्रवेशक नही होते। विमर्श संधि को छोड़कर शेष चारों संधियाँ अंगों सहित होती हैं। स्वयं भरत ने डिम का उदाहरण त्रिपुरदाह दिया है।

8.3.6 व्यायोग

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः।
हीनो गर्भ–विमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः।।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा।
एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः।। (दश. 3/60–61)

व्यायोग की कथा प्रख्यात इतिहास प्रसिद्ध होती है तथा प्रसिद्ध एवं उद्धत नायक होता है। गर्भ एवं विमर्श ये दो संधियां नहीं होती है। डिम के समान ही 6 दीप्त रस होते हैं। ऐसे युद्ध का वर्णन होता है जिसका निमित्त स्त्री नहीं होती। कैशिकी को छोड़कर शेष वृत्तियाँ होती है। एक दिन का चरित दिखाने वाला एक अंक होता है। पुरुष पात्र अधिक संख्या में होते है। इसका नायक राजर्षि या दिव्य होता है। इसका उदाहरण है – जामदग्न्यजय, सौगन्धिकाहरण।

8.3.7 समवकार

समवकीर्यन्ते बहवोर्ध्थाः अस्मिन्निति समवकारः अर्थात् जिसमें अनेक प्रयोजन भली भांति निबद्ध किये जाते हैं, उसे समवकार कहते हैं।

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम्।
संधयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे।।
संधि द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः।
नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः।।
फलं पृथक्पृथक्तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ।।
वीथ्यंगानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश।
गायत्र्युष्णिङ्मुखान्यत्रच्छन्दांसि विविधानि च।।
त्रिशृंगारस्त्रिकपटः कार्यश्चायं त्रिविद्रवः।
वस्तु द्वादशनालीभिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कम्।।
द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्द्वाभ्यां ..ङ्के तृतीयके। (सा.द. 6/234–38)

उसमें देवताओं और असुरों से सम्बंधित प्रसिद्ध कथा निबद्ध की जाती है। इसमें तीन अंक होते हैं एवं विमर्श संधि नहीं होती प्रथम अंक में दो और दूसरे–तीसरे अंक में एक–एक संधि होती है। 12 उदात्त नायक देवता और मनुष्य होते हैं जिनका फल पृथक–पृथक होता है। वीर रस अंगी होता है शेष अंग। कैशिकी वृत्ति थोड़ी ही होती है। बिन्दु और प्रवेशक नहीं होते। वीथी के 13 अंग होते हैं। गायत्री, उष्णिक् आदि अनेक छंदों का प्रयोग होता हैं। तीन प्रकार के श्रृंगार, धर्म, अर्थ और काम का वर्णन होता है। शास्त्र सम्मत श्रृंगार धर्म, धन हेतु प्रवृत्त श्रृंगार अर्थ एवं काम के ही अनुगुण प्रवृत्त श्रृंगार काम होता है जिसका प्रयोग प्रथम अंक में ही होता है। स्वाभाविक, कृत्रिम एवं दैवज इन तीन प्रकार के कपटों का प्रयोग होता है, उसी प्रकार चेतन, अचेतन और चेतना–चेतनों द्वारा किया हुआ तीन प्रकार विद्रव (शंका त्रयादिकृत सम्भ्रम)

पाया जाता है चेतन मनुष्य, अचेतन अग्नि आदि तथा चेतना–चेतन हाथी आदि कृत विद्रव जानना चाहिये। प्रथम अंक की कथा बारह नाड़ी की, दूसरे की चार नाड़ी की तथा तीसरे की दो नाड़ी की होती है। दो घड़ी की एक नाड़ी होती हैं। समुद्रमंथन समवकार का उदाहरण है।

8.3.8 वीथी

वीथी का अर्थ है मार्ग या अंगों की पंक्ति।

वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते।
आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः।।
सूचयेद् भूरिशृंगारं किंचिदन्यान् रसान्प्रति।
मुखनिर्वहणे संधि अर्थप्रकृतयोऽखिलाः।। (सा.द. 6/253–4)

वीथी एक ही अंक की होती है। उत्तम, मध्यम या अधम श्रेणी का एक नायक कल्पित होता है। आकाशभाषित के द्वारा उक्ति प्रत्युक्ति होती है। शृंगार रस की बहुलता के कारण कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है। शृंगार के अतिरिक्त अन्य रस भी कुछ–कुछ सूचित होते हैं। मुख और निर्वहण दो ही संधियाँ होती हैं किंतु अर्थ प्रकृतियाँ सभी होती हैं। वीथी के 13 अंगों यथा उद्घात्यक, अवगलित, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिबल, खण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार तथा मृदव का इसमें संयोजन होता है। ये अंग नाटकादि में पाये जाते हैं किन्तु वीथी नामक रूपक में इनकी अवश्यविधेयता होती है। जैसे वीथी दुकानादि में अनेक रत्न माला के समान सज्जित होते हैं उसी प्रकार रसों के यथाक्रम स्थित होने से इसे वीथी कहते हैं। मालविका, वकुलवीथी, इन्दुलेखा वीथी रूपक के उदाहरण हैं।

8.3.9 उत्सृष्टिकाङ्क

अंक नाटकों में भी होते हैं अतः भेद दिखाने के लिये उत्सृष्टिकाङ्क कहा गया है।

उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः।।
रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्री परिदेवितम्।
प्रख्यातमितिवृत्तं च कवि बुद्धया प्रपंचयेत्।।
भाणवत्संधिवृत्त्यागांन्यस्मिंजयपराजयौ।
युद्धं च वाचा कर्त्तव्यं निर्वेदवचनं बहु।। (सा.द. 6/250–52)

इसमें एक ही अंक होता है। साधारण पुरुष नायक होते हैं। स्त्रियों के विलाप से युक्त स्थायी करुण रस होता है। इतिवृत्त प्रख्यात होता है जिसे कवि अपनी कल्पना से विस्तीर्ण कर लेता है। भाषा के समान संधियाँ, वृत्तियाँ एवं अंग होते हैं। जय–पराजय तथा वाक्कलह और निर्वेद के बहुत से वचन होते हैं। शार्मिष्ठाययाति इसका उदाहरण है।

8.3.10 ईहामृग

ईहामृगो मिश्रावृत्तचतुरङ्कः प्रकीर्तितः।
मुखप्रतिमुखे संधौ तत्र निवर्हणं तथा।।
नर दिव्यावनियमौ नायक प्रतिनायकौ।
ख्यातो धीरोद्धतावन्यो गूढ़भावादयुक्तकृत।।
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः।
शृंगाराभासमप्यस्य किंचित्किंचित्प्रदर्शयेत्।।

चार अंकों का ईहामृग नामक रूपक होता है जिसकी कथा मिश्रित अर्थात् कुछ प्रसिद्ध एवं कुछ

कल्पित होती है। मुख प्रतिमुख एवं निर्वहण ये तीन संधियाँ होती हैं। इसमें नायक और प्रतिनायक धीरोद्धत मनुष्य या देवता होते हैं। प्रतिनायक प्रच्छन्न रीति से पापाचरण करता है। प्रतिनायक का किसी दिव्य नारी के अपहारादि द्वारा शृंगाराभास भी इसमें दृष्टव्य होता है। दस उद्धत पुरुष मनुष्य या दिव्य पताकानायक होते हैं। युद्ध की तैयारी होते हुए भी युद्ध का टलना दिखाया जाता है। वधार्ह महात्मा भी इसमें मारे नहीं जाते। यह एक अंक का भी होता है। कहीं एक देवता ही नायक होता है। दिव्य स्त्री के कारण इसमें युद्ध होता है। मृग के समान अलभ्य कामिनी के प्रति नायक की चाहना होने से ही इसे ईहामृग कहा जाता है। कुसुमशेखरविजय ईहामृग रूपक का उदाहरण है।

आपने नाट्य या रूपक के मुख्य दस भेद जानें, जिनका आधार वस्तु, नेता, और रस है।

8.4 उप रूपकों के 18 भेद

8.4.1 नाटिका

नाटिका में नाटक एवं प्रकरण का संकर होता है इसलिये इसे संकीर्ण रूपक भी कहा जाता है। विश्वनाथ ने इसकी गणना 18 उपरूपकों में की हैं।

तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः।
प्रख्यातो धीरललितः शृंगारोघ्ड्गी सलक्षणः।।

नाटिका में प्रकरण के समान कथावस्तु कविकल्पित होती है। इसका नायक नाटक के समान प्रख्यात राजा होता है वह धीरललित कोटि का नायक होता है एवं अंगी रस शृंगार होता है। इसमें चार अंक होते हैं एवं स्त्री पात्रों का बाहुल्य होता है। कैशिकी वृत्ति प्रधान रूप से रहती है। पाँचो संधियाँ होती है किंतु अवमर्श संधि अत्यल्प होती है। इसमें महारानी ज्येष्ठा एवं राजवंशोत्पन्न होती है वह प्रगल्भा, गम्भीरा एवं मानिनी होती है नायिका के साथ नायक का मिलन कठिनाई से होता है। नायिका भी राजवंशोत्पन्न होती है तथा मुग्धा होती है। वह दिव्य गुणों वाली एवं मनोहर होती है। हर्ष की रत्नावली एवं प्रियदर्शिका नाटिका के उदाहरण हैं।

8.4.2 त्रोटक

इसमें सात, आठ, नौ या पाँच अंक होते हैं। नायक देवता या मनुष्य होता है। इसके प्रत्येक अंक में विदूषक विद्यमान रहता है। शृंगार इसका अंगी रस है। सात अंकों का त्रोटक है – स्तम्भितरम्भम् तथा पाँच अंकों का विक्रमोर्वशीयम्।

8.4.3 गोष्ठी

गोष्ठी में एक अंक होता है, इसमें नौ या दस प्राकृत पुरुष एवं पाँच–छः स्त्रियाँ होती है। यह उदात्त वचनों से रहित एवं कैशिकी वृत्ति युक्त होती है। गर्भ और विमर्श संधि नहीं होती। काम शृंगार रस होता है। उदाहरण रैवतमदनिका।

8.4.4 सट्टक

यह नाटिका के समान है। इसकी रचना प्राकृत भाषा में की जाती है। प्रवेशक और विष्कम्भक इसमें नहीं होते। अद्भुत रस प्रचुर होता है। इसके अंकों का नाम जवनिका होता है। कर्पूरमंजरी इसका उदाहरण है।

8.4.5 नाट्यरासक

इसका नायक उदात्त होता हैं तथा पीठमर्द उपनायक होता है। यह एक अंक का ही होता है।

इसमें ताल और लय बहुत होते हैं। शृंगार सहित हास्यरस अंगी होता है। नायिका वासकसज्जा होती है। इसमें मुख और निर्वहण संधि तथा दस लास्यांग होते हैं। कुछ इसे चार संधियों वाला भी मानते हैं। दो संधियों का उदाहरण नर्मवती तथा चार का उदाहरण विलासवती है।

8.4.6 प्रस्थान

इसमें दो अंक होते हैं। दास और दासी नायक नायिका होते हैं। कैशिकी और भारती वृत्ति होती है। तालललयादि बहुत होता है। सुरापान के संयोग से अर्थ की सिद्धि होती हैं। उदाहरण – शृंगारतिलकम्।

8.4.7 उल्लाप्य

इसका नायक धीरोदात्त होता है। इसमें एक ही अंक होता है। इसकी कथा दिव्य होती है। हास्य, शृंगार एवं करुण रस होता है। इसमें चार नायिकाएं होती हैं। संग्राम की बहुलता होती है। किन्ही के मत से इसमें तीन अंक होते हैं। अस्त्रगीत होता है। यह शिल्पक नामक उपरूपक के 27 अंगों से युक्त होता है। देवी–महादेव इसका उदाहरण है।

8.4.8 काव्य

इसमें नायक नायिका दोनों उदात्त होते हैं। यह एक अंक वाला एवं आरभटी वृत्ति से रहित होता है। हास्य रस प्रधान होता है। इसमें मुख, प्रतिमुख एवं निर्वहण संधि होती है। यह गीत एवं छंदों से परिपूर्ण एवं शृंगार भाषितों से युक्त होता है।

उदाहरण – यादवोदय।

8.4.9 प्रेङ्खण

इसका नायक हीन कोटि का होता है, गर्भ एवं अवमर्श संधियां नहीं होती। यह एक अंक का होता है। इसमें सूत्रधार नहीं होता और नान्दी तथा प्ररोचना नेपथ्य में ही की जाती है। विष्कम्भक, प्रवेशक नहीं होते। युद्ध, सम्फेट एवं सभी वृत्तियाँ होती है।

उदाहरण – बालिवध।

8.4.10 रासक

इसमें पाँच पात्र एवं एक अंक होता है। मुख एवं निर्वहण संधियाँ होती हैं। इसमें संस्कृत एवं प्राकृत भाषाएं होती हैं। सूत्रधार से रहित होता है। उसकी नान्दी संश्लिष्ट होती है। इसमें भारती और कैशिकी वृत्ति होती है। उसकी नायिका प्रसिद्ध एवं नायक मूर्ख होता है। यह वीथी के अंगों और कलाओं से युक्त होता है। यह उत्तरोत्तर उदात्त भावों से युक्त होता है। मेनकाहित इसका उदाहरण है।

8.4.11 संलापक

इसमें तीन या चार अंक होते हैं। नायक पाखण्डी होता है। शृंगार एवं करुण से अतिरिक्त कोई रस होता है। इसमें भारती एवं कैशिकी वृत्ति का अभाव होता है। नगर निरोध, छलयुक्त युद्ध एवं विद्रव इसमें वर्णित होते हैं। उदाहरण – मायाकापालिक।

8.4.12 श्रीगदित

यह एक अंक वाला प्रसिद्ध कथायुक्त उपरूपक है जिसमें धीरोदात्तनायक एवं प्रसिद्ध नायिका होती है। गर्भ एवं विमर्श संधि नहीं होती। श्रीशब्द एवं भारतीवृत्ति की अधिकता होती है। कुछ के अनुसार इसमें नटी लक्ष्मी का रूप धारण कर गाती एवं पढ़ती है।

उदाहरण – क्रीड़ारसातलम्।

8.4.13 शिल्पकम्

यह चार अंकों का उपरूपक है। इसका नायक ब्राह्मण होता है। इसमें चारों वृत्तियाँ पायी जाती हैं। शान्त एवं हास्य से अतिरिक्त रस होते हैं। श्मशानादि का वर्णन होता है। हीन पुरुष उपनायक होता है। शिल्पक के आशंका, तर्कादि 27 अंग होते हैं। उदाहरण – कनकवतीमाधव।

8.4.14 विलासिका

यह एक अंक वाली, दस लास्यांगों से युक्त एवं शृंगार बहुल होती है। इसमें विदूषक, विट और पीठमर्द होते हैं। इसका नायक हीनगुणों से युक्त होता हैं। गर्भ और विमर्श संधियां नहीं होती। कथा थोड़ी ही होती है, यह सुंदर वेषादि से युक्त होती है।

8.4.15 दुर्मल्ली

कैशिकी और भारती वृत्ति से युक्त यह चार अंकों की होती है। यह गर्भ संधि से रहित होती है। नायक छोटी जाति का न्यून पुरुष होता है। शेष पुरुष पात्र चतुर होते हैं। प्रथम अंक में विट की क्रीड़ा होती है और वह तीन नली का होता है। दूसरा अंक पाँच नली का एवं विदूषक की क्रीड़ा से युक्त होता है। तीसरा अंक छः नली का एवं पीठमर्द की क्रीड़ा से युक्त होता है चौथे अंक में नागरिक पुरुषों की क्रीड़ा एवं दस नाड़ी होती है। उदाहरण – बिन्दुमती।

8.4.16 प्रकरणिका

जो नाटिका के समान हो और जिसमें नायक सेठादि व्यापारी और नायिका उसकी सजातीय हो उसे प्रकरणिका कहते हैं।

8.4.17 हल्लीश

इसमें एक ही अंक होता है। सात, आठ या दस स्त्रियाँ तथा उदात्त वचन बोलने वाला एक पुरुष पात्र होता है। कैशिकी वृत्ति इसमें होती है तथा मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं। ताल एवं लय की बहुलता होती है। उदाहरण – केलिरैवतक।

8.4.18 भाणिका

इसकी नायिका उदात्त एवं नायक मंद होता है। यह एक अंक की होती हैं। इसमें कैशिकी और भारती वृत्ति तथा मुख एवं निर्वहण संधि होती है। इसमें सुन्दर वेशरचना होती है। इसमें उपन्यासादि सात अंग होते हैं। उदाहरण – कामदत्ता।

आपने उपरूपकों के 18 भेद एवं उनके उदाहरण जानें। इन सभी का मूल नाटक ही है अतः औचित्य के अनुसार नाटक के अंगों का उनमें समावेश होना चाहिये।

8.5 सारांश

आपने इस इकाई में संस्कृत रूपकों या नाट्यों के विषय में जाना। नाटक उनकी एक विधा मात्र है। बोल चाल की भाषा में सभी को नाटक कह दिया जाता है। आपने जाना कि रूपक की कथावस्तु, नायकादि तथा रस के भेद से ही ये भेदोपभेद बनते हैं। आपने रूपक के प्रमुख अंगों यथा कथावस्तु के भेद, संधियाँ, अंग, अर्थोपक्षेपक, वृत्तियाँ, नायक नायिकाओं के भेद, चार प्रकार के अभिनय, रसादि के विषय में विस्तार से ज्ञान प्राप्त किया। रूपकों एवं उपरूपकों के भेदों को उदाहरण सहित जाना। अभिनय होने से एवं रंगमंच पर प्रदर्शित किये जाने के कारण ये दृश्य–काव्य के भेद हैं।

8.6 शब्दावली

1. **पताकास्थानक** – जो किसी अन्य वस्तु के कथन के द्वारा भावी घटनाओं की सूचना देता है वह पताकास्थानक कहलाता है। वह समान संविधान और समान विशेषणों के भेद से दो प्रकार का होता है

2. **संधि** – किसी एक मुख्य प्रयोजन से संबंध रखने वाले कथाभावों का दूसरे अवान्तर प्रयोजन के साथ सम्बन्ध संधि कहलाता है। ये पाँच होती हैं। इनमें पाँच अवस्थाओं का पाँच अर्थ प्रकृतियों से समन्वय होता है।

3. **वासकसज्जा** – अवस्था भेद से नायिकाओं के स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया एवं अभिसारिका ये आठ भेद होते हैं। वासकसज्जा का लक्षण है–

   मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये –प्रिय के आने की आशा होने पर जो प्रसन्न हो स्वयं को सजाती है वह वासकसज्जा कहलाती है।

8.7 बोध – प्रश्न

1. रूपकों के मुख्य भेदक तत्त्वों का निरूपण कीजिये।
2. रूपकों के मुख्य भेदों का विवेचन कीजिये।
3. उपरूपकों का विवेचन कीजिये।

8.8 उपयोगी ग्रन्थ

1.	दशरूपकम्	:	धनञ्जयः	डॉ. भोलाशंकर व्यास
2.	दशरूपकम्	:	धनञ्जयः	डॉ. श्रीनिवास शास्त्री
3.	साहित्य दर्पण	:	विश्वनाथः	डॉ. शालिग्राम शास्त्री
4.	साहित्य दर्पण	:	विश्वनाथः	निरूपण विद्यालंकार
5.	नाट्यशास्त्र	:	भरतमुनि	बड़ौदा
6.	भरत और उनकी नाट्यकला	:	सुरेन्द्रनाथ दीक्षित	
7.	भारतीय नाट्य सौन्दर्य	:	डॉ. मनोहर काले	

8. Stadies in Sanskrit Dramatic Criticism - T.G. Mainkar
9. Law & Practice of Sanskrit Drama - S.N. Shastri
10- Lectures on Natyasastra, R.V. Tripathi, Pune University

8.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्नों के उत्तर इकाई संख्या 8.2, 8.3 एवं 8.4 से देखें।

इकाई–9

ध्वनिविरोधी आचार्यों के मत : विशेषतः धनञ्जय, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र तथा जयरथ के ध्वनिविरोधी तर्क

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 ध्वनिविरोधी आचार्य एवं उनके भेद

9.3 अभाववादी आचार्यों के तर्क एवं उनकी समीक्षा

9.4 अन्तर्भाववादी (लक्षणावादी अथवा भाक्तवादी) आचार्यों के तर्क एवं उनकी समीक्षा

9.5 अनिर्वचनीयतावादी आचार्यों के तर्क एवं समीक्षा

9.6 शुद्ध अभिधावादी आचार्यों (धनञ्जय, राजशेखर और कुन्तक) के तर्क

9.7 तात्पर्यरूप अभिधावादी आचार्यों के तर्क

9.8 विरामवादी आचार्यों (धनिक, भट्टनायक और महिमभट्ट) के तर्क एवं समीक्षा

9.9 बोध प्रश्न

9.10 उपयोगी पुस्तकें

9.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से आप यह जान सकेंगे कि काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित ध्वनितत्त्व के विरोधी आचार्य कौन–कौन हैं तथा उनके तर्क क्या हैं ? ध्वनि को स्थापित करने से पूर्व आनन्दवर्धन के सामने कौन–सी चुनौतियाँ थी। इस पाठ के माध्यम से आप यह भी समझ सकेंगे कि ध्वनि विरोधी आचार्यों को काव्यात्मा के रूप में अन्य कौन से तत्त्व स्वीकार्य हैं ?

9.1 प्रस्तावना

आचार्य आनन्दवर्धन (855–884 ई.) ने ध्वन्यालोक नामक अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि को प्रतिष्ठित किया है। इनके सिद्धान्त का सार है "काव्यस्यात्मा ध्वनिः"। ध्वनि काव्य में व्याप्त रहने वाला अतिरमणीय अर्थ है। सहृदयजन इसकी प्रशंसा करते हैं। वाल्मीकि आदि कवियों के काव्यों में वाच्यार्थ से भिन्न सहृदयजन संवेद्य एवं श्लाघ्य प्रतीयमान अर्थ कुछ विलक्षण ही काव्य वस्तु। यह प्रतीयमान अर्थ आस्वाद्य होकर जब अन्य अर्थों की तुलना में प्रधान होता है तब ध्वनि कहा जाता है। इसके वस्तु, अलंकार एवं रस ये तीन भेद होते हैं। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा आदि व्यापारों से भिन्न व्यञ्जना नामक शब्द और अर्थ के व्यापार से ही होती है। वस्तु और अलंकार रूप तो वाच्य भी हो सकते हैं किन्तु वाच्य अवस्था में ये ध्वनि नहीं कहे जाते हैं रस रूप प्रतीयमान तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं होता। काव्य की आत्मा तो वस्तुतः यह प्रतीयमान ही होती है–

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।

क्रौञ्चद्वन्द्वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। ध्वन्यालोक 1/5

काव्य रस के स्पर्श से वस्तु और अलंकार रूप ध्वनि भी काव्य के आत्मरूप में प्रतिष्ठित है। ध्वनि का सामान्य लक्षण इस प्रकार है –

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्वन्यालोक 1/13

"जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को तथा शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।"

इस महनीय ध्वनि सिद्धान्त का भी विरोध करने वाले आचार्य हुए हैं।

9.2 ध्वनिविरोधी आचार्य एवं उनके भेद

ध्वन्यालोक के प्रथम पद्य में ध्वनिकार ने ध्वनिविरोधी तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख किया है। प्रथम अभाववादी, द्वितीय लक्षणावादी (अन्तर्भाववादी) एवं तृतीय अनिर्वचनीयतावादी आचार्य हैं। आनन्दवर्धन के परवर्ती विरोधी आचार्यों के दो मुख्य वर्ग हैं (1) विरामवादी आचार्य तथा (2) नैरन्तर्यवादी आचार्य। विरामवादी आचार्यों के भी तीन वर्ग हैं– 1. तात्पर्यशक्ति या भावना–शक्तिवादी 2. भोजकत्वशक्तिवादी तथा 3. अनुमितिवादी। नैरन्तर्यवादी आचार्यों में भी 1 शुद्ध अभिधावादी एवं 2. तात्पर्यरूप अभिधावादी प्रमुख हैं।

9.3 अभाववादी आचार्यों के तर्क एवं समीक्षा

आनन्दवर्धन ने प्रथम कारिका में लिखा है कि काव्य की आत्मा ध्वनि का भी कुछ लोग अभाव मानते हैं। **"तस्याभावं जगदुरपरे।"** अभाववादियों का मत विपर्ययमूलक है। इनके मत में ध्वनि नाम की वस्तु कोई होती ही नहीं। भरत से लेकर वामन तक के पाँच आचार्यों ने ध्वनि का नामोल्लेख नहीं किया है। अतः ध्वनि अमान्य है। अभाववाद के इस विकल्प में अभाव का अर्थ है – ध्वनि नहीं है अर्थात् प्राचीन काव्य–शास्त्र में। इन के मत का सार है कि लोक और शास्त्र की सीमा का अतिक्रमण करने वाले शब्द और अर्थ ही काव्य का स्वरूप हैं। शब्द और अर्थ में शोभा का आधान करने वाले धर्म शब्द गुण, अर्थगुण, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार ही है। इनके अतिरिक्त शोभाधायक धर्म कोई नहीं है अतः यह ध्वनि नाम का कौन सा तत्त्व है? यह प्रथम विकल्प का सार है।

अभाववादियों का दूसरा विकल्प यह है कि पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने शोभाधायक धर्मों को पहचाना था और उन पर विचार किया था किन्तु ध्वनि में कोई चमत्कार नहीं है। अचमत्कारी या चमत्कारशून्य किसी भी तत्त्व में यदि काव्यत्व स्वीकार किया जाएगा तो काव्यत्व की हानि होगी। काव्यता का आधार चमत्कार है और चमत्कार ध्वनि में न होने से ध्वनि नामक काव्य तत्त्व है ही नहीं।

तृतीय प्रकार के अभाववादियों का विचार है कि यदि ध्वनि में चमत्कार है तब भी उसका अन्तर्भाव हमारे द्वारा कहे गए गुण और अलङ्कारों में ही हो जाएगा। चमत्कार जनक गुण और अलंकारों में से किसी का नाम ध्वनि रख देने में कौन सा पाण्डित्य है। इनका कहना है कि प्राचीन आचार्यों ने काव्य के विषय में सब कुछ नहीं कह दिया, कुछ शेष भी रह गया। शेष रहे किसी महत्त्वहीन तत्त्व को ध्वनि कहकर झूठी सहृदयत्व की भावना को लेकर वास्तविकता से परे जाना औचित्यपूर्ण नहीं है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी बहुत से काव्य अलंकारों को प्रकाशित किया है किन्तु उनकी ऐसी दशा नहीं है। अतः ध्वनि नाम का कोई अपूर्व (नवीन) तत्त्व नहीं है और यदि है भी तो काव्यात्मा नहीं है।

तीनों विकल्पों का सार यह है –

1. ध्वनि का प्राचीन काव्यशास्त्र में अभाव है।
2. ध्वनि में चमत्कार का अभाव है अतः उस में काव्य धर्म बनने का अभाव है।

3. ध्वनि में काव्यात्मता का अभाव है।

अतएवं ध्वनि प्रवादमात्र है। ध्वनिकार ने इस विषय में एक निम्न श्लोक उद्धृत किया है –

"यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालङ्कृति।
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुकृतिना पृष्टःस्वरूपं ध्वनेः।।"

अभाववाद के तीनों विकल्पों में परस्पर सम्बन्ध है। इनका मानना है कि ध्वनि नहीं है क्योंकि उसका उल्लेख भरत से लेकर वामन तक आचार्यों ने अपने काव्यशस्त्रों में नहीं किया है क्योंकि ध्वनि में कोई चमत्कार नहीं है। चमत्कार होता भी तो इतना नहीं कि उसको काव्यात्मा कहा जावे।

अभाववाद की समीक्षा

ध्वनिकार ने काव्य शास्त्र में सर्वप्रथम प्रतीयमान अर्थ को पहचाना तथा उसे वाच्य और लक्ष्य अर्थ से भिन्न स्थिर किया। प्रतीयमान महाकवियों की वाणी में विलक्षण ही काव्यवस्तु है यह अत्यन्त रमणीय है। ध्वनिकार का कहना है कि यह प्रतीयमान ही सर्वातिशायी होने पर ध्वनि कहा जाता है। ध्वनि की गवेषणा काव्यों में की जानी चाहिए न कि काव्य शास्त्र में। वामन तक के काव्य शास्त्र में भले ही ध्वनि का उल्लेख न हो किन्तु रामायण, महाभारत सदृश महाकाव्यों में काव्यों का उपनिषद्भूत प्रधान तत्त्व है तथा यह अत्यन्तरमणीय है। इस की रमणीयता गुण, अलंकार, रीति आदि के सदृश नहीं है अपितु विलक्षण है। इसलिए इसका अन्तर्भाव चमत्कार के हेतु अलङ्कार आदि में नहीं हो सकता। ध्वनि एक महाविषय है, अङ्गी है। अलंकार आदि काव्य के अङ्ग हैं अङ्गी का अन्तर्भाव अङ्गों में नहीं हो सकता है। यदि अलंकार भी ध्वन्यमान हों तो उनका अलङ्कार ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाएगा न कि ध्वनि का अन्तर्भाव उन अलङ्कारों में होगा।

ध्वनिकार कहते हैं कि पूर्ववर्ती आचार्यों की सूक्ष्मबुद्धि भी इस तत्त्व का उन्मेष नहीं कर पाई जबकि काव्यों का यह प्राणतत्त्व है। कवियों ने इस के स्पर्श से ही काव्यों को रमणीय बनाया है। प्रतीयमान का ज्ञान व्याकरण और कोष आदि के ज्ञान से नहीं हो सकता। इसका ज्ञान काव्यतत्त्वज्ञों (सहृदयों) को ही होता है। जो सहृदय वाच्यार्थज्ञान से विमुख होकर केवल काव्य के तत्त्वज्ञान के लिए निरन्तर तत्पर रहते हैं उनकी तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में ध्वनितत्त्व झटिति स्फुरित हो जाता है। इनकी दृष्टि में काव्य की लोकप्रियता का प्रमुख कारण और उसका असाधारण धर्म ध्वनि ही है। प्रतीयमान के सौभाग्य के बिना काव्यत्व होगा ही नहीं – **"सर्वथा नास्त्येव सहृदयह्रयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्" ध्वन्यालोक पृ. 475**

आनन्दवर्धन लिखते हैं कि वस्तुतः काव्य का आत्मतत्त्व तो ध्वनि ही है इसमें आदि कवि वाल्मीकि का प्रमाण भी है। कारिका इस प्रकार है –

"काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेःपुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।" ध्वन्यालोक 1/5

9.4 अन्तभार्ववादी (लक्षणावादी) आचार्यों के तर्क एवं समीक्षा

कुछ आचार्य मुख्यार्थ से भिन्न ध्वन्यर्थ को स्वीकार करते हैं किन्तु उस अर्थ को भाक्त कहते हैं – **"भाक्तमाहुस्तमन्ये। वामन ने "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः"** कह कर काव्य में एक अतिरिक्त शब्दवृत्ति को स्वीकार किया है। इस वृत्ति से ज्ञात होने वाला अर्थ अभिधा से ज्ञात होने वाले अर्थ से भिन्न होता है और इसे ध्वनि के स्थल में भी देखा जाता है। अतः कुछ विद्वान् ध्वनि को लक्षणा से अभिन्न

मानते हुए कहना चाहते हैं कि लक्षणा ही ध्वनि है।

आनन्दवर्धन शब्द के मुख्यतः दो व्यापार मानते हैं एक मुख्य व्यापार और दूसरा अमुख्य व्यापार। मुख्य व्यापार अभिधा है तथा अमुख्य व्यापार के भी दो प्रकार हैं एक गुणवृत्ति या भक्ति तथा दूसरा व्यञ्जना व्यापार। लक्षणावादी आचार्य व्यज्जना को स्वीकार नहीं करते तथा अभिधार्थ (मुख्यार्थ) से भिन्न अमुख्यार्थ का बोध लक्षणा से ही मानना चाहते हैं। आनन्दवर्धन ने अमुख्य व्यापार के लिए मुख्यतः गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है तथा इसके लिए उन्होंने भक्ति का पहले प्रयोग किया है। **"भाक्तमाहुस्तमन्ये"।** आनन्दवर्धन भक्ति को उपचार रूप मानते हैं। उनका कथन है – **"उपचारमात्रं तु भक्तिः"**, अभिनवगुप्त ने भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि लक्षणा के त्रिविध हेतुओं का संकेत मिल जाता है। उनकी व्युत्पत्तियाँ ये हैं – (1) मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः (मुख्यार्थ का बाध भक्ति है) (2) भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोच्यते इति भक्तिः धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः (प्रसिद्ध होने के कारण जिसको पदार्थ भजे = सेवन करे = अपनाए वह धर्म भक्ति, जैसे 'गंगा पर घर' इस प्रयोग में सामीप्य (सम्बन्ध)। (3) गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः" (गुण समुदाय में रहने वाले (गुण समुदाय के बोधक) शब्द का तैक्ष्ण्य इत्यादि जो अर्थ भाग होता है उसे भक्ति कहते हैं। अथवा "भक्तिः प्रतिपाद्ये प्रतिपादनीय सामीप्य तैक्ष्ण्य इत्यादि में श्रद्धा की अधिकता)।

भक्ति से आया हुआ अर्थ भाक्त कहा जाता है। भक्तिवादी आचार्य काव्य के आत्मभूत ध्वनि को गुणवृत्ति या लक्षणा कहते हैं – "अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः" इनकी दृष्टि में ध्वनि और भक्ति अभिन्न हैं। अतः ध्वनि का अन्तर्भाव भक्ति या गुणवृत्ति में ही कर लेना चाहिए।

अन्तर्भाववाद (लक्षणावाद) की समीक्षा

यद्यपि लक्षणा भी व्यञ्जना के समान शब्द का अमुख्य व्यापार है। लक्षणा ध्वनि की दिशा का आरम्भ है। इस कारण लक्षणा ध्वनि का उपलक्षण है। (कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्, ध्वन्यालोक 1/19)

किन्तु ध्वनि वहाँ भी देखी जाती है जहाँ लक्षणा नहीं रहती। इस कारण लक्षणा को ध्वनि से अभिन्न नहीं कहा जा सकता।

भक्ति और ध्वनि अभिन्न नहीं हैं यतः दोनों में रूप भेद है। ध्वनि का स्वरूप है – "जहाँ वाच्य और वाचक के द्वारा वाच्यव्यतिरिक्त अर्थ का तात्पर्य से प्रकाशन हो वहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता में ध्वनि होती है।" भक्ति तो केवल उपचार मात्र है इसमें रमणीयता नहीं है।

भक्ति ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती क्योंकि लक्षण मानने पर अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष होते हैं। भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने पर अव्याप्ति दोष यह है कि विवक्षितान्यपरवाच्य–ध्वनि के स्थलों में लक्षणा नहीं रहती। लक्षणा के बिना ही यहाँ व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है। अतिव्याप्ति दोष इसलिए होगा कि जहाँ व्यङ्ग्यकृत सौष्ठव नहीं होने से ध्वनि नहीं है वहाँ गुणवृत्ति रहती है जैसे लावण्य आदि शब्दों के प्रयोग में। इस विषय में ध्वनिकार की कारिका इस प्रकार है –

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया।। ध्वन्यालोक 1/14

इस प्रकार गुणवृत्ति (लक्षणा) व्यापार तथा व्यञ्जना (व्यञ्जकत्व) व्यापार भिन्न–भिन्न है। भेद का आधार इस प्रकार है –

1. व्यञ्जना व्यापार के साथ व्यङ्ग्य अर्थ नियमतः रहता है जबकि गुणवृत्ति के साथ नहीं।
2. व्यञ्जना से प्रतीत अर्थ प्रधान और अप्रधान रह सकता है जबकि गुणवृत्ति से प्रतीत अर्थ

प्रधान ही हुआ करता है।

3. व्यञ्जना से प्रतीत अर्थ जब प्रधान होता है तब वह ध्वनि कहा जाता है और काव्य के आत्मरूप में प्रतिष्ठित होता है जबकि गुणवृत्ति से ज्ञात अर्थ प्रधान होकर भी काव्य की आत्मा नहीं बन सकता।

4. गुणवृत्ति वाचकत्व पर आश्रित रहती है व्यञ्जना वृत्ति कभी वाचकत्व के बिना भी रीति, वृत्ति, अनुप्रास, अभिनय आदि के आश्रम से निष्पन्न हो जाती है।

इन सब कारणों से ध्वनि का अन्तर्भाव भक्ति (लक्षणा) में नहीं किया जा सकता।

9.5 अनिर्वचनीयतावादी आचार्यों के तर्क एवं समीक्षा

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में ऐसे आचार्यों का उल्लेख किया है जो ध्वनि को एक अनिर्वचनीय तत्त्व मानते थे। इन का मत था ध्वनि सहृदयजनसंवेद्य है किन्तु इसका निर्वचन वाणी का विषय नहीं है – "केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्" ध्वन्यालोक 1/1 तथा "केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनमतयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः। वही 1/1 की वृत्ति।

इन आचार्यों ने ध्वनि तत्त्व को स्वीकार करते हुए उसका लक्षण माना था – "शब्द और अर्थ का रत्नगत जाति विशेष के समान विशिष्ट ज्ञाता द्वारा संवेद्य किन्तु अनाख्येय चारूत्व" (यत्र शब्दानामर्थानां च प्रतिपतृविशेष–संवेद्यं जात्यत्वमिव रत्नविशेषाणां चारुत्वमनाख्येमाभासते काव्ये तत्र ध्वनिव्यवहारः इति लक्षणं ध्वनेरूच्यते केनचित्। (ध्व. पृ. 517–18)

आनन्दवर्धन ने इन को सुकुमारमति कहा है। ये समीक्षक सूक्ष्म और गहन वस्तु का विश्लेषण करना नहीं जानते हैं। (लक्षणकरणशालीनमतयः, अनाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादमूलैव")

समीक्षा

अनिर्वचनीयतावादियों में भी प्रथम प्रकार के समीक्षक कदाचिद् ब्रह्म के सदृश्य ध्वनि को शब्द का विषय नहीं मानते इसे अनुभूति का विषय ही मानते हैं। किन्तु ये भी अनिर्वचनीय शब्द से तो उसका निर्वचन कर ही रहे हैं। द्वितीय प्रकार के समीक्षक कहते हैं कि 'वस्तु' की विशेषताओं का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष से ही संभव हुआ करता है, प्रत्यक्षेतर प्रमाण (शब्दादि) वस्तु के सामान्य स्वरूप का ही ज्ञान कराते हैं। ध्वनि काव्य की विशेषता है अतः शब्द से उसका ज्ञान नहीं हो सकता जैसे शब्द रत्न का ज्ञान तो करा सकता है किन्तु उसकी गुणवत्ता का नहीं वह तो अनुभव से ही जानी जा सकती है। वस्तुतः किसी भी वस्तु की विशेषता का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से हो सकता है और न शब्द से। यह शक्ति तो समीक्षक और ज्ञाता में रहती है। ध्वनि का लक्षण वस्तुतः कठिन तो है किन्तु ध्वनिकार ने इसका सामान्य और विशेष लक्षण अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किए हैं। अतः ध्वनि अनिर्वचनीय नहीं है।

तृतीय प्रकार के अनिर्वचनीयतावादी आचार्य क्षणभङ्गवादी बौद्धों का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि ध्वनि घट–पट आदि अन्य सभी पदार्थों के समान अनिर्देश्य है उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता, निर्वचन उसका हो सकता है जो कुछ काल तक ठहरने वाला है। ध्वनि भी क्षण भर ही रहती है अतः उसका निर्वचन नहीं हो सकता। ध्वनिकार कहते हैं कि जैसे बौद्ध क्षणभङ्वादी होते हुए भी वस्तुओं के बोध के लिए ग्रन्थ निर्माण करते हैं उसी प्रकार ये अनिर्वचनीयतावादी भी ध्वनि के स्वरूप के विषय में कुछ न कुछ वाक्य बोलते हैं। उनके वाक्य हैं –

1. कतिपय विशिष्ट ज्ञाताओं द्वारा संवेद्य और अनाख्येय चारूत्व ही है ध्वनि।
2. सामान्य शब्दों से ज्ञेय न होकर भी ज्ञानपथ में आने वाला विशिष्ट तत्त्व है ध्वनि तथा
3. अनिर्देश्य मौलिकता वाला सबसे अलग एक भिन्न ही तत्त्व है ध्वनि।

ये वचन सिद्ध करते हैं कि ध्वनि अनिर्वचनीय नहीं है। ध्वनिकार ने ध्वनि का स्वरूप "यत्रार्थः शब्दो वा" इत्यादि प्रथम उद्योत की 13वीं कारिका में कहा है।

9.6 शुद्ध अभिधावादी (राजशेखर धञ्जय और कुन्तक) आचार्यों के तर्क

ध्वनिकार के अनुसार प्रतीयमान की प्रधानता होने पर ही ध्वनि होती है। प्रतीयमान अर्थ वाच्य और लक्ष्य अर्थों से भिन्न होता है। इस की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार से होती है। ध्वनिकार ने प्रथम बार काव्य शास्त्र में त्रिविध शब्द व्यापार की चर्चा की। आनन्दवर्धन ने प्रतिपादित किया कि शब्द व्यापार अपनी सीमा में ही अर्थ बोध कराता है। एक व्यापार दूसरे व्यापार से ज्ञात होने वाले अर्थ का बोध कराने में असमर्थ होता है, प्रत्येक व्यापार अपना कार्य कर के विराम को प्राप्त हो जाता है। इस सिद्धान्त का आधार है – "शब्द–बुद्धि–कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः"। जो शब्द, जो ज्ञान तथा जो क्रिया एक बार विरत हो जाते हैं वे पुनः कोई कार्य नहीं करते। फलतः अभिधा आदि क्रिया है क्योंकि ये व्यापार आनन्दवर्धन ने शब्दवृत्ति को व्यापार या क्रिया मानकर उसमें विराम की कल्पना की है।

ध्वनिकार के परवर्त्ती आचार्यों ने आनन्दवर्धन के शब्दवृत्ति विषयक सिद्धान्त की आलोचना की है। इन आचार्यों के दो मुख्य वर्ग हैं –

1. विरामवादी आचार्य तथा
2. नैरन्तर्यवादी आचार्य

नैरन्तर्यवादी आचार्य अभिधाशक्ति से भिन्न कोई अन्य शक्ति स्वीकार नहीं करते हैं।

इनमें भी प्रथम वर्ग उन आचार्यों का है जो अभिधा शक्ति से ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति मानते हैं। ये शुद्ध अभिधावादी आचार्य हैं। ये आचार्य हैं -- (1) राजेशेखर (2) धनञ्जय एवं (3) कुन्तक

तात्पर्यरूप अभिधावादी आचार्य अभिधा और तात्पर्यशक्ति को अभिन्न मानते हैं तथा इस की शक्ति को सीमित नहीं मानते अपितु अन्तिम अर्थ तक अर्थबोध कराने वाली शक्ति मानते हैं।

शुद्ध अभिधावादी आचार्य

ये आचार्य न तो ध्वनि का उल्लेख करते हैं और न इसका खण्डन करते हैं, अभिधा से भिन्न किसी अन्य शक्ति को भी स्वीकार नहीं करते हैं।

1. राजशेखर

काव्यमीमांसा में राजशेखर यद्यपि अनेक स्थलों पर आनन्दवर्धन का उल्लेख करते हैं उनके सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं किन्तु शब्द शक्ति के रूप में केवल अभिधा का ही उल्लेख करते हैं। वे लिखते हैं – पदानामधित्सितार्थग्रन्थनाकर : सन्दर्भो वाक्यम्। "तस्य च त्रिधाऽभिधा व्यापारः" इत्यौद्भटाः। वैभराक्तः, शाक्तः शक्तिविभक्तिमयश्च।" अर्थात् अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने वाले पदों के संग्रथित समूह का नाम वाक्य है (वाक्य उन संगठित पदसमूहों का नाम है जो कथनीय अर्थों को प्रकट करने वाले हों)। आचार्य उद्भट के अनुयायियों के अनुसार वाक्य के अभिधा व्यापार तीन प्रकार के होते हैं – वैभक्त, शाक्त और शक्ति विभक्तिमय।

राजशेखर ने न तो ध्वनि सिद्धान्त का और न व्यञ्जना व्यापार का नाम अपने ग्रन्थ में लिखा है। इससे द्योतित होता है कि वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से असहमत थे। ये शुद्ध अभिधावादी आचार्य थे।

2. धनञ्जय

ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन काव्यार्थ के तीन रूप मानते हैं – रस, वस्तु तथा अलङ्कार।

रसरूप काव्यार्थ में काव्य में गृहीत शब्दों का मुख्यार्थ रत्यादि भाव या शृङ्गारादि रस की व्यञ्जना कराता है, वह उन्हें सहृदय हृदय के आस्वाद का विषय बनाता है। वस्तुरूप काव्यार्थ में काव्य का वाच्यार्थ जो स्वयं वस्तु रूप या अलंकार रूप होता है, किसी वस्तु की व्यञ्जना कराता है। वस्तु तथा अलंकार व्यञ्जक भी हो सकते हैं और व्यङ्ग्य भी। रस सदा व्यङ्ग्य ही होता है उसका व्यञ्जक काव्य का मुख्यार्थ वस्तु रूप होगा या अलंकार रूप। ध्वनिवादियों का मानना है कि इस व्यङ्ग्य रूप अर्थ की प्रतीति अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या वृत्तियों से नहीं होती है इसके लिए शब्द की वृत्ति व्यञ्जना ही स्वीकार करनी पड़ती है। जैसा कि ध्वनिकार लिखते हैं –

"रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारो ऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः।। 3/33

विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम्।। 3/33 में उद्धृत।

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः।। ध्व. 1/17

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।। ध्व. 1/7

"तस्मात् अभिधा तात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनप्रत्यायनावग – मनादिसोदरव्यपदेशनिरूपकोऽभ्युपगन्तव्यः।। लोचन पृ 115 मद्रास संस्करण

ध्वनिकार के अनुयायी आचार्यों ने भी एक स्वर में कहा है कि व्यङ्ग्यार्थ के बोध के लिए शब्द की चतुर्थवृत्ति व्यञ्जना को स्वीकार करना ही होगा।

जिस रसादि व्यङ्ग्यार्थ के लिए व्यञ्जना वृत्ति की अनिवार्यता स्वीकार की गई है उस रसादि का बोध अभिधा से ही होता है ऐसा धनञ्जय मानते हैं। दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में धनञ्जय लिखते हैं–

"वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः।।
रस स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।। 37–8 वी कारिका

अर्थात् रस की स्थिति वैसी ही है जैसी वाक्यार्थ की होती है। जिस प्रकार वाक्यार्थ में कारकों का सम्बन्ध क्रिया से रहता है उसी प्रकार रस में विभावादि का सम्बन्ध भाव के साथ रहता है। स्थायी भाव ही रस होता है और वह सामाजिक में रहता है। धनञ्जय यह मानते हैं कि वाक्य में चाहे क्रिया वाच्य हो या बुद्धिस्थ हो, वही वाक्य का वाक्यार्थ है। ठीक उसी तरह विभावानुभावव्यभिचारी के द्वारा स्थायी भाव काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्य) के रूप में प्रतीत होता है। स्थायी भाव भी वाक्य में बुद्धिस्थ क्रिया की भाँति वाच्य न होकर प्रकरण संवेद्य है। काव्यों में प्रकरण आदि के आधार पर ही काव्य के द्वारा वाच्यरूप में उपात्त (अभिहित) विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों के साथ स्थायीभाव का अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण, रत्यादि स्थायी भाव सहृदय के चित्त में उसी तरह स्फुटित होने लगता है, जैसे प्रकरणादि के कारण किसी वाक्य में प्रयुक्त कारकादि के द्वारा उनसे अविनाभावतया सम्बद्ध क्रिया की प्रतिपत्ति होती है। इन रत्यादि भावों के तत्तत् विभावों, अनुभावों या सञ्चारियों का तो काव्य में साक्षात् शब्द से

उपादान होता है, ये तो साक्षात् वाच्यरूप में प्रतिपन्न होते ही हैं; ये संस्कार परम्परा के कारण, विभावों के पूर्वानुभव के आधार पर रत्यादि स्थायी भाव को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार काव्य में वाच्यरूप से उपात्त विभावादि के द्वारा प्रतीत, काव्य में वाच्यरूप से उपात्त अथवा प्रकरणादि के द्वारा बुद्धिस्थ रूप में प्रतीत रत्यादि स्थायी भाव, किसी व्यञ्जना जैसी कल्पित शक्ति का विषय न होकर, काव्य का वास्तविक वाक्यार्थ ही है।

कुन्तक

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक यद्यपि आनन्दवर्धन से अत्यधिक प्रभावित हैं किन्तु ध्वनि और व्यञ्जना शब्दशक्ति का उल्लेख नहीं करते हैं। वे एक मात्र अभिधाशक्ति को ही मानते हैं तथा काव्य की आत्मा वक्रोक्ति को स्वीकार करते हैं –

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।। 1/7
उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरूच्यते।। 1/10
वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।। 1/10 वृत्ति

इनका सार यह है कि काव्यविद् में आह्लाद पैदा करने वाले, तथा वक्रकविव्यापार से सुशोभित रचना में व्यवस्थित सहित शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं। सामान्य कथन से विशिष्ट विचित्र ही अभिधा वक्रोक्ति है। यह विचित्र अभिधा निष्पन्न होती है कविकर्म की निपुणता से और उस निपुणता से ही इसमें विच्छित्ति का आधान होता है। इसी को कुन्तक के दूसरे शब्दों में पुनः कह सकते हैं – वक्रवैचित्र्य–कथन। इसी वक्रता में ध्वनिकार का समस्त ध्वनि–प्रपञ्च तथा प्राचीनों का गुणालङ्कार समाहित है यह विचित्र अभिधाद्योत्य व्यङ्ग्य अर्थ सभी सौन्दर्य को अपने साम्राज्य में समेट लेती है। इसीलिए तो इसका नाम विचित्र अभिधा है।

कुन्तक की कारिकाएँ इस प्रकार हैं –

"प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित्।। 1/40
विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा।। 1/42

कुन्तक का प्रतीयमान शब्द ध्वनि को स्वीकार करना नहीं है अपितु उसका तात्पर्य अर्थ की सपाट प्रतीति नहीं है प्रत्युत् उसकी व्यङ्ग्यतया प्रतीति में है।

इस सबके होते हुए भी कुन्तक वक्रोक्ति को एक अलङ्कार मात्र मानते हैं अलङ्कार्य तो शब्द और अर्थ है। किन्तु यह अलंकार बाह्य नहीं है अपितु वक्रतवैचित्र्यपूर्वक शब्दार्थ का कथन ही है।

कुन्तक अभिधा से भिन्न लक्षणा, गौणी या तात्पर्यशक्ति का उल्लेख नहीं करते। अलंकार सर्वस्व के लेखक रुय्यक ने वक्रोक्ति जीवितकार के मत का सारांश देते हुए लिखा है–

"वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात्काव्यस्य जीवितमुक्तवान्। व्यापारस्य प्रधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे। अभिधानप्रकारविशेषा एवालंकाराः। सत्यपि त्रिविधे प्रतीयमाने व्यापाररूप भणितिरेव कविसंरम्भ–गोचरा। उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः। केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं, न व्यङ्ग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्।" अलंकारसर्वस्वम् प्र. 7–8

अर्थात् सार यह है कि कुन्तक ने वैदगध्यभंगीभणिति रूप वक्रोक्ति जो काव्य का एक व्यापार है उसे काव्य की आत्मा माना है। यद्यपि व्यङ्ग्य अर्थ तीन प्रकार का होता है किन्तु व्यापार रूप उक्ति ही कवि के कर्म का विषय बनती है। कुन्तक ने उपचार वक्रता आदि (वक्रोक्ति के भेदों) में ध्वनि के भेदों का अन्तर्भाव माना है। किन्तु काव्य की आत्मा केवल उक्ति की वक्रता है, व्यङ्ग्यार्थ (काव्य की) आत्मा नहीं है।

अलंकारसर्वस्व के टीककार जयरथ के विचार में कुन्तक को उन ग्रन्थकारों में सम्मिलित करना चाहिए जो ध्वनि को भाक्त समझते हैं। जयरथ का मत इस प्रकार है–

"इदानीं यदप्यन्यैरस्य भक्त्यन्तर्भूतत्वमुक्तं तदपि दर्शयितुमाह वक्रोक्तिजीवितकारः"

पुनर्वैदग्ध्यभङ्गी भणितिस्वाभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव इत्यादि।"

किन्तु जयरथ का यह मत युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि कुन्तक ने अभिधा से भिन्न किसी भी वृत्ति को स्वीकार नहीं किया है।

कुन्तक ने ध्वनि या व्यङ्ग्य को काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया है। वक्रोक्ति के व्यापक स्वरूप में ही ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रयत्न किया है। सामान्य पद्धति से भिन्न या उससे भी उच्च प्रकार की चमत्कारक वस्तु को वे काव्य की आत्मा मानते हैं। कुन्तक ने सर्वाधिक बल कविव्यापार पर दिया है और दूसरा सौन्दर्यजन्य आनन्द पर जिसका आस्वाद सहृदय लेता है।

9.7 तात्पर्यरूप अभिधावादी आचार्यों के तर्क

तात्पर्यवादी आचार्यों के अनुसार अभिधा और तात्पर्यशक्ति अभिन्न हैं तथा इस की गति अन्तिम अर्थ के बोध तक अबाधित रहती है। इन आचार्यों में भोजराज साहित्यमीमांसाकार तथा शारदातनय प्रमुख हैं।

भोजराज

आनन्दवर्धन ने जिस तात्पर्यशक्ति का खण्डन किया है वह मीमांसकों को अभिमत है। धनिक ने व्यञ्जना नामक व्यङ्ग्यार्थ बोधक नवीनवृत्ति का खण्डन किया है। भोज ने इस दोनों के मध्य का मार्ग ग्रहण किया है। भोज ने ध्वनि और तात्पर्य दोनों को स्वीकार किया है। भोज ने तात्पर्य का प्रयोग व्यापक और सीमित दोनों अर्थों में किया है। इसके अन्तर्गत अभिधीयमान वाक्यार्थ आता है जिसे आनन्दवर्धन तात्पर्य का वास्तविक अर्थ मानने पर जोर देते हैं किन्तु भोज ध्वनि को भी इसके (तात्पर्य के) अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं। भोज ने मीमांसकों के समान वाक्य के प्रारम्भिक अर्थ के लिए तात्पर्य जैसी विशिष्ट शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं समझी। भोज ने अभिधीयमान और अनभिहित अर्थों के लिए एक सामान्य नाम दिया है 'तात्पर्य'। यह नाम अभिधीयमान अर्थ का है और साथ ही प्रतीयमान और ध्वन्यमान अर्थों का भी। भोज ने ध्वनि को ही तात्पर्य कहा है। तात्पर्यम् यस्य काव्येषु ध्वनिरिति प्रसिद्धिः। अभिधीयमानं, प्रतीयमानं तात्पर्यम् (ध्वनिः) च।"

भोजराज ने "तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये"

"यद्वक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।

वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः"

इन श्लोकों के माध्यम से तात्पर्य का शोभन नाम ध्वनि स्वीकार किया है। भोजराज की मुख्य स्थापनाएं हैं –

1. शब्दशक्ति का विराम नहीं होता
2. शब्दशक्ति और तात्पर्य अभिन्न हैं तथा

3. शब्दशक्ति और तात्पर्य को कुछ अनुच्छेदों में विभक्त माना जा सकता है।

भोज के अनुसार तात्पर्य को (1) अभिधीयमान (2) प्रतीयमान तथा (3) ध्वनि नाम से कहा जाता है। ध्वनि के भी शब्दध्वनि और अर्थध्वनि ये दो भेद तथा प्रत्येक के अनुवाद ध्वनि और प्रतिशब्द ध्वनि ये दो–दो भेद होते हैं। भोज ध्वन्यर्थ के बोध के लिए शब्द शक्ति का ही प्रसार मानते हैं। उनका सिद्धान्त है कि शब्द और अर्थ मूलतः अभिन्न हैं। शब्द ही अर्थ के रूप में परिणत होते जाते हैं। यह परिणति कहीं अध्यास रूप होती है कहीं विवर्त्तरूप और कहीं परिणाम रूप।

भोज के सिद्धान्त को भी हम अभिधावादी आचार्यों के समकक्ष ही रख सकते हैं केवल प्रतिपादन के कौशल का भेद है।

शारदातनय

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ भाव प्रकाशन में भोज के साहित्य प्रकरण का सारांश दिया है। इन्होंने अपनी समझ से भोज के विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। शारदातनय के अनुसार ध्वनि और तात्पर्य दोनों पृथक् नहीं अपितु एक ही हैं। व्यङ्ग्यार्थ या ध्वनि की प्राप्ति वाक्य की तात्पर्य शक्ति के द्वारा ही होती है।

व्यङ्ग्यार्थ भी वक्ता के उद्देश्य का अंग होता है और वक्ता के उद्देश्य के भीतर आने वाली हर बात तात्पर्य मानी जाएगी। शारदातनय ने एक श्लोक उद्धृत किया है –

"एतावतैव विश्रान्तिः तात्पर्यस्येति किंकृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्।।"

अर्थात् वक्ता के तात्पर्य की कोई सीमा नहीं है। शारदातनय कहते हैं कि ध्वनि तात्पर्य का अवान्तर भेद है जैसे ब्रह्मचारी ब्राह्मण का एक भेद–प्रथमाश्रमी ब्राह्मण है।

नैरन्तर्यवादी ये सभी आचार्य चाहे शुद्ध अभिधावादी हो चाहे तात्पर्यवादी शब्दशक्ति का अविराम मानते हैं। इस के समर्थन में वे एक दृष्टान्त देते हैं – बाण का। बाण जब छूटता है तब वह एकसी गति में शत्रु के वक्षस्थल के कवच, उसकी त्वचा, उसकी अस्थि और उसके हृदय को विदीर्ण करते हुए अनेक कार्य करता जाता है और तब विराम लेता है जब वह उसे छोड़ने वाले के उद्देश्य की पूर्ति कर देता है। अभिधा को भी ये आचार्य अन्तिम अर्थ तक गतिशील मानते हैं। इस दृष्टान्त के लिए दो प्रसिद्ध वाक्य हैं –

1. यत्परः शब्दः स शब्दार्थः। तथा
2. सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः।।

9.8 विरामवादी आचार्यों (धनिक, भट्टनायक और महिम भट्ट) के तर्क

विरामवादी आचार्यों के अनुसार अभिधा शक्ति अन्तिम अर्थ तक नहीं जाती है अपितु अभिधा अपना अभिधेयार्थ बतलाकर विराम को प्राप्त हो जाती है। इन आचार्यों के तीन उपवर्ग बनते हैं – (1) तात्पर्यवादी (2) भोजकत्ववादी तथा (3) अनुमितिवादी

1. तात्पर्यवादी या भावनावादी

अभिधा से भिन्न तात्पर्य को मानने वाले आचार्यों में दशरूपक की अवलोक नामक टीका के रचयिता 'धनिक' हैं। धनिक अभिधा, लक्षणा, गौणी तथा तात्पर्य शक्ति नामक शब्द की चार शक्तियाँ स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार तात्पर्यशक्ति का विराम तब तक नहीं होता जब तक अन्तिम अर्थ का ज्ञान नहीं हो जाता। वे ध्वनिवादियों के मत को प्रस्तुत कर उसका खण्डन

करते हैं। धनिक ने ध्वनि और तात्पर्य के अन्तर पर विचार किया है। अवलोक टीका में उन्होंने 'अप्रतिष्ठमविश्रान्तम्' आदि ध्वनि विषयक कारिका को उद्धृत करके उसका खण्डन किया है। उन्हें ध्वनि और तात्पर्य का यह अन्तर मान्य नहीं है कि 'तात्पर्यवाक्यार्थपूर्ति के पहले की शक्ति है और ध्वनि वाक्यार्थ पूर्ति के बाद की। रसादि ध्वन्यर्थ को वाक्यार्थ सिद्ध करते हुए धनिक लिखते हैं कि समस्त श्रूयमाण और अश्रूयमाणपदार्थ की प्रतीति अभिधा आदि (तात्पर्यशक्ति, लक्षणा) शक्ति से हो जाती है तब व्यञ्जना जैसी अलग से शक्ति की कल्पना व्यर्थ का प्रयत्न है। धनिक इस विषय में काव्य निर्णय नामक अपने ग्रन्थ की निम्नलिखित कारिकाएं उद्धृत करते हैं –

"तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि।।
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्।।4।।
पौरूषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते।।7।।

इन कारिकाओं का सार यह है कि किसी भी वाक्य के वाक्यार्थ या तात्पर्य की कोई निश्चित सीमा निबद्ध नहीं की जा सकती। तात्पर्य तो जहाँ तक वक्ता का प्रयोजन (कार्य) होता है, वहीं तक फैला रहता है, इसलिए वह इतना ही है, इससे अधिक नहीं ऐसा तौल या माप जोख नहीं है। तात्पर्य को किसी तराजू पर रख कर नहीं कहा जा सकता, कि इतना तात्पर्य है, बाकी अन्य वस्तु। इसलिए व्यङ्ग्य भी तात्पर्य ही में अन्तर्निविष्ट हो जाता है। कोई भी लौकिक या पौरूषेय वाक्य किसी न किसी विवक्षा पर आश्रित रहता है। जब कोई वक्ता किसी भी वाक्य का प्रयोग करता है, तो वह किसी बात को कहना चाहता है। लौकिक वाक्य में तात्पर्यार्थ उसी वस्तु में होगा, जो वक्ता का अभिप्राय है। ठीक यही बात काव्य में भी घटित होती है। काव्य में रसादि अर्थ (जिन्हें ध्वनिवादी व्यङ्ग्य कहते हैं) काव्य के या कवि के अभिप्रेत हैं, अतः वे तात्पर्य ही है।

धनिक अभिधा का तो विराम मानते हैं परन्तु तात्पर्य शक्ति का नहीं। इनके अनुसार तात्पर्य शक्ति भी रस के बोध में अक्षम है। रस का ज्ञान तो भावना से होता है। काव्य तथा रस में परस्पर भाव्यभावक भाव या भाव्यभावक सम्बन्ध है। काव्य भावक है, रसाादि भाव्य। सहृदय के मन में स्थायी भाव या रस की चर्वणा होती है, इसी चर्वणा को 'भावना' भी कहते हैं। इसी के आधार पर काव्य भावक है, रस उसके भाव्य। रसादि सहृदय के हृदय में अपने आप ही पैदा होते हैं, तथा तत्तत् रस के अनुकूल विशिष्ट विभावों के द्वारा काव्य उनकी भावना करता है।

धनिक के इस भाव्यभावक सम्बन्ध का आधार भरत का नाट्यशास्त्र है। नाट्यशास्त्र में विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव तथा स्थायी भाव को (भाव) करने का कारण यही बतलाया गया था कि वे काव्यार्थ को भावित करते हैं। काव्यार्थान् (रसान्) भावयन्तीति भावाः। भरत का श्लोक इस प्रकार है –

"भावाभिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादिमे भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः।। नाट्यशास्त्र 7/3

2. भोजकत्ववादी (भट्टनायक)

भट्टनायक अभिधा का विराम मानते हैं। रस आदि अन्तिम अर्थ की प्रतीति के लिए उन्होंने भावना और भोजकत्व नामक अन्य दो व्यापारों की कल्पना की है। भावना नामक व्यापार रस की प्रतीति

से पहले तक आवश्यक है इससे सहृदय के हृदय के सभी प्रतिबन्ध हट जाते हैं।

हृदय में रस प्रतीति की योग्यता आ जाती है किन्तु भावना से रस परे है यह भट्टानायक की कल्पना है। भोजकत्वनामक व्यापार से रस की प्रतीति होती है। भट्टनायक ने हृदयदर्पण नामक ग्रन्थ लिखा था। यह ध्वनिविरोधी ग्रन्थ था।

अलंकारसर्वस्व में भट्टनायक के मतों का सारांश इस प्रकार दिया गया है –

"भट्टनायकेन तु व्यङ्ग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावित–शब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्। तत्राप्यभिधाभावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाङ्गीकृतः।।

3. अनुमितिवादी

अनुमितिवादी आचार्य अभिधा का विराम मानते हैं किन्तु रस की प्रतीति किसी भी शब्दवृत्ति से नहीं मानते। इसके लिए वे 'अनुमिति' को कारण मानते हैं। इन आचार्यों में प्रसिद्ध आचार्य महिम भट्ट हैं। अन्य आचार्य मुकुल भट्ट, जयन्त भट्ट एवं प्रतिहारेन्दु राज हैं।

(अ) मुकुल भट्ट : अभिधावृत्ति मातृका में मुकुल भट्ट ने अभिधा के मुख्य और अमुख्य ये दो रूप माने हैं। अमुख्य रूप ही लक्षणा है। लक्षणा से आगे व्यञ्जना की कल्पना नहीं की है। मुकुल भट्ट ध्वनि–सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं किन्तु ध्वनि का ज्ञान किसी शब्दवृत्ति से नहीं होता इसके लिए वे 'आक्षेप' की कल्पना करते हैं। ध्वनिवादी आचार्य 'आक्षेप' से अर्थ अनुमान लेते हैं।

(ब) महिम भट्ट : महिम भट्ट अनुमितिवाद के प्रमुख आचार्य हैं। इन्होंने ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन करने के लिए 'व्यक्तिविवेक' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। अन्य आचार्यों ने अपने–अपने ग्रन्थों में आनुषङ्गिक रूप से ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन किया। किन्तु महिम भट्ट ने तो इसके लिए ही स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का प्रतिज्ञा वाक्य है –

"अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरूते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।। 1/1

अनुमान में ध्वनि के सभी भेदों का अन्तर्भाव दिखलाने के लिए व्यञ्जना के याथार्थ्य का परीक्षण करते हुए मैं 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ।

महिम भट्ट ने ध्वन्यालोक में निरूपित तीन शक्तियों अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना में से व्यञ्जना का खण्डन किया है। साथ ही उसने इस बात का भी खण्डन किया है कि व्यञ्जनाशक्ति से भाव ध्वनित होते हैं। इनके मत में शब्दों की एकमात्र शक्ति अभिधा ही है। प्रतीयमान अर्थ का जो बोध होता है वह वाच्यार्थ से ही अनुमानित होता है। शब्द और अर्थ में व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव मानना युक्तिसंगत नहीं है। रस काव्य की आत्मा है इस मत का महिम भट्ट ने विरोध नहीं किया। किन्तु रस की अनुभूति अनुमान के अन्तर्गत ही मानी है। वे लिखते हैं –

"यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भावमर्हति। विभावानुभावव्यभिचारि प्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते" पृ. 119

महिम भट्ट एक शक्तिवादी है। और वह शक्ति है शब्द की अभिधा। शब्द से शब्दशक्ति के माध्यम से एक ही अर्थ की प्रतीति होती है क्योंकि शब्द प्रथम अर्थ का बोध करा

कर समाप्त हो जाता है। अन्य अर्थों की प्रतीति में अर्थ ही उपस्थित रहता है वही कारण बनता है अर्थात् अन्य अर्थ शब्द से ज्ञात नहीं होते वे अर्थ से ही ज्ञात होते हैं। यानी वे शाब्द न होकर 'आर्थ' होते हैं। एक अर्थ से होने वाली दूसरे अर्थ की प्रतीति एक मात्र अनुमान पर आश्रित होती है। महिम भट्ट शब्दगत अनेक शक्तिवाद के विरोधी हैं। ध्वनिवादी काव्यगत व्यञ्जना को शब्दगत एवं अर्थगत दो प्रकार की मानते हैं। श्री भट्ट ने शाब्दी व्यञ्जना को तो पूर्णतः त्याज्य माना है, आर्थी व्यञ्जना को अनुमान के रूप में स्वीकार किया है। महिम भट्ट प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार करते हैं। वे इस प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता स्वीकार करते हैं तथा लिखते हैं कि काव्य की आत्मा जो रसादि उसके स्वरूप के विषय में किसी को आपत्ति नहीं है –

"काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।"

महिम भट्ट को उसकी नवीन संज्ञा ध्वनि मानने में तथा उसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना स्वीकार करने में आपत्ति है।

महिम भट्ट ने ध्वनिकार के ध्वनिलक्षण (यत्रार्थः शब्दों वा....) में दस दोष गिनाए हैं। उनके कथन का आशय है कि समस्त शाब्दव्यवहार साध्यसाधन भाव गर्भित अनुमान से ही प्रायः समझना चाहिए – **"सर्व एव हि शाब्दो व्यवहारः साध्यसाधनभावगर्भतया प्रायेणानुमानरूपोऽभ्यु– पगन्तव्यः।।** पृ. 21

महिम भट्ट लिखते हैं कि अर्थ दो प्रकार का होता है वाच्य और अनुमेय। शब्दव्यापार से गम्य अर्थवाच्य होता है उसे ही मुख्य अर्थ कहा जाता है। वाच्यार्थ रूपी लिङ्ग से जिस अर्थ का अनुमान किया जाता है वह अनुमेय होता है। वह तीन प्रकार का होता है, वस्तु, अलंकार और रसादि भेद से। प्रथम दो अर्थ वाच्य भी हो सकते हैं, किन्तु रसादि रूप अर्थ तो अनुमेय ही होता है। लक्षणा का अन्तर्भाव भी अनुमान में हो जाता है। वाच्य अर्थ और प्रतीयमान अर्थ में लिङ्गलिङ्गी भाव होता है। अतः वाच्य से प्रतीयमान तक आने की प्रक्रिया का तात्पर्य अनुमान ही है। महिम भट्ट लिखते हैं –

"तदेवं वाच्यप्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणक्रमेण लिङ्गलिङ्गिभावस्य समर्थनात् सर्वस्यैव ध्वनेरनु मानान्तर्भावः समन्वितो भवति तस्य च तदपेक्षया महाविषयत्वात्। पृ. 63–64

महिम भट्ट के मत में तात्पर्यभूत व्यङ्ग्यार्थ सीधे वाच्यार्थ से सूचित नहीं होता वरन् वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ इन दोनों के बीच अनुमान की एक या एक से अधिक सीढ़ियाँ लाङ्घनी पड़ती हैं। इस बात को इन्होंने ध्वन्यालोक में प्रदत्त ध्वनि के अनेक उदाहरणों के माध्यम से प्रमाणित की है।

महिम भट्ट ने रसानुभूति को लेकर उठे हुए प्रश्न का समाधान भी किया है। रस का आस्वाद होता है। अनुमिति में वस्तु का बोध मात्र होता है स्पर्श नहीं तब रस का आस्वाद कैसे होगा? इसका समाधान करतेहुए महिम भट्ट ने 'प्रतिबिम्बवाद' की कल्पना की है। उन्होंने रस को प्रतिबिम्ब कहा है, इसके अनुसार काव्य या नाट्य पाठक या दर्शक के चित्त पर जिन–जिन पदार्थों के प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं उनमें रति आदि भाव भी हुआ करते हैं। पाठक के चित्त में संस्कार रूप में ये भाव भी विद्यमान रहते हैं। सहृदय इन भावों का ही आस्वाद लेता है, ये भाव काव्यादि से आहित भाव प्रतिबिम्बों के समान हुआ करते हैं। अतः इन्हें प्रतिबिम्ब तुल्य या 'प्रतिबिम्बकल्प' कहा जा सकता

है। अनुमिति प्रतिबिम्बन तक सक्रिय रहती है। काव्यपाठ या नट की चेष्टाओं से नायकगत भावों का अनुमान होता है इस प्रकार अनुमान रस प्रतीति में सहायक होता है। अनुमान द्वारा प्रस्तुत भाव तो असत्य होते हैं किन्तु उनके आधार पर सहृदय के जो भाव जगते हैं वे सर्वथा सत्य और यथार्थ हुआ करते हैं

"स्थाय्यनुकरणात्मानो द्विधा रसा इष्यन्ते, ते च प्रधानमिति तल्लक्षणमुखेनैव तेषां स्वरूपावगमसिद्धेः तेषां बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनावस्थानात्।....
विभावादिभिर्भावेषु रत्यादिष्वसत्येष्वेव प्रतीतिरूपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्य वृत्त्योपपद्यन्त एव। तत्प्रतीतिपरामर्श एव व रसास्वादः स्वाभाविक इत्युक्तम्।। पृ. 71–73

ध्वनिविरोधी आचार्यों के मतों की समीक्षा

ध्वनिविरोधी आचार्यों में से अभाववादी, भाक्तवादी और अलक्षणीयतावादी आचार्यों के तर्कों का उत्तर पूर्व में यथास्थान दे दिया गया है। अभिधावादी, तात्पर्यवादी एवं अनुमिति वादी आचार्यों का मुख्य विरोध व्यञ्जनावृत्ति को लेकर है। इन आचार्यों ने व्यञ्जना को शब्दवृत्ति के रूप में अतिरिक्त वृत्ति स्वीकार नहीं किया और अर्थवृत्ति के रूप में इसे तात्पर्य या अनुमान में अन्तर्भूत बतलाया है। शुद्ध अभिधावादी आचार्यों को ध्यान रखना चाहिए कि उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त ही उनके मत का खण्डन करता है। अभिधावादियों के मत में समस्त अर्थ अभिधा से ज्ञात होते हैं जबकि वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि कोई भी वृत्ति अपने नियत अर्थ का बोध कराकर विरत हो जाती है उसमें पुनः अर्थबोध कराने का सामर्थ्य नहीं होता –

"शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।"

अभिधा के दीर्घ–दीर्घतर व्यापार को मानने वालों को लक्षणा का मोह भी छोड़ना पड़ेगा। साथ ही "ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः" इत्यादि में हर्ष, शोक आदि भी वाच्य कहलाने लगेंगे। अनुमान भी व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराने में समर्थ नहीं है क्योंकि कोई भी प्रमाण निश्चित अर्थ का ज्ञापक होता है तथा व्यङ्ग्यार्थ सर्वथा अनिश्चित होता है। यदि व्यङ्ग्य को अनुमान लभ्य अर्थ मानेंगे तो अनुमान में दो परिवर्तन करने होंगे –

1. एक तो यह कि उसे शब्दशक्ति स्वीकार करना होगा और
2. दूसरा यह कि उसे प्रमाणत्व से शून्य मानना होगा।

फलतः व्यञ्जकत्व को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। व्यञ्जना को शब्द की वृत्ति स्वीकार करना अति आवश्यक है तथा व्यङ्गयार्थ का बोध इसी वृत्ति से होता है यह ध्वनिकार का सिद्धान्त सर्वमान्य है।

9.9 बोध प्रश्न

1. ध्वनि सिद्धान्त का सामान्य परिचय दीजिए।
2. ध्वनिविरोधी आचार्यों का वर्गीकरण कीजिए
3. धनञ्जय के ध्वनिविरोधी तर्क प्रस्तुत कीजिये।
4. अभाववादियों के तर्क प्रस्तुत करें।
5. महिम भट्ट के अनुमितिवाद को समझाइए।

9.10 उपयोगी पुस्तकें

1. ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन
2. ध्वन्यालोक – लोचनटीका – अभिनवगुप्त
3. ध्वन्यालोक – लोचन एवं तारावती टीका – राम सागर त्रिपाठी
4. ध्वन्यालोक – व्याख्याकार – आचार्य विश्वेश्वर
5. व्यक्तिविवेक – महिम भट्ट
6. अलंकारसर्वस्व – आचार्य रुय्यक
7. वक्रोक्तिजीवितम् – आचार्य कुन्तक
8. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – पी.वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास
9. दशरूपक – अवलोकटीका सहित
10. आनन्दवर्धन – डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

9.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.1 (प्रस्तावना) में देखें

9.2 (ध्वनिविरोधी आचार्यों के भेद) में देखें।

9.6 (शुद्ध अभिधावादी (राजशेखर धनञ्जय और कुन्तक) आचार्यों के तर्क) में देखें

9.3 (अभाववादी आचार्यों के तर्क एवं समीक्षा) में उत्तर देखें।

9.8 (विरामवादी आचार्यों (धनिक, भट्टनायक और महिम भट्ट) के तर्क) में देखें

इकाई–10

रस का स्वरूप विवेचन एवं रस संख्या

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 रस सिद्धान्त का सामान्य विवेचन

10.2.1 रस पद की व्युत्पत्ति

10.2.2 रस का स्वरूप विवेचन

10.2.2.1 विभाव

10.2.2.2 अनुभाव

10.2.2.3 व्यभिचारी

10.2.2.4 स्थायीभाव

10.2.2.5 स्थायीभावों की संख्या

10.2.3 भरत का रस सूत्र और उसकी व्याख्या

10.2.3.1 भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

10.2.3.2 शंकुक का अनुमितिवाद

10.2.3.3 भट्टनायक का भुक्तिवाद

10.2.3.4 आचार्य अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

10.3 रसों के भेद

10.3.1 शृंगार रस

10.3.2 करूण रस

10.3.3 शान्त रस

10.3.4 रौद्र रस

10.3.5 वीर रस

10.3.6 अद्‌भुत रस

10.3.7 हास्य रस

10.3.8 भयानक रस

10.3.9 बीभत्स रस

10.4 रस की अलौकिकता

10.4.1 रस ज्ञाप्य नहीं है।

10.4.2 रस कार्य नहीं है।

10.4.3 रस नित्य नहीं है।

10.4.4 रस भविष्यतकाल में भी होने वाला नहीं है।

10.4.5 रस वर्तमान कालिक भी नहीं है।

10.4.6 रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है।

10.4.7 रस विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है।

10.4.8 रस परोक्ष अतीन्द्रिय नहीं है।

10.4.9 रस प्रत्यक्ष भी नहीं है।

10.5 बोध प्रश्न

10.6 उपयोगी पुस्तकें

10.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप रस के स्वरूप, लक्षण, व्युत्पत्ति, रसों के भेद का सोदाहरण परिचय प्राप्त कर सकेंगे। साथ ही भरतमुनि कृत रस सूत्र की व्याख्या एवं व्याख्याकारों के मत एवं रस की आलौकिकता के बारे में जान सकेंगे। साथ ही बोध प्रश्नों को पढ़कर पाठ के विषय में सामान्य जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप रस सिद्धान्त का परिचय, रस स्वरूप, रस विषयक व्युत्पत्ति, रस लक्षण, रसावयव का परिचय प्राप्त कर पायेंगे। साथ ही भरतमुनि कृत रस सूत्र की व्याख्याकारों द्वारा दिये गये अभिमत से परिचित हो सकेंगे। स्थायिभाव एवं रस के भेदों का उदाहरण सहित वर्णन पढ़कर रस के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

10.2 रस सिद्धान्त का सामान्य विवेचन

संस्कृत साहित्य में रस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। वेद, वेदांग, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि साहित्य में रस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। कोष ग्रन्थ के अनुसार रस शब्द के अनेक अर्थ हैं। स्वाद, जल, वीर्य, शृंगार आदि काव्य रस, विष, द्रव, पारद राग, गृह, धातु तिक्त आदि 6 भोजन के रस परमात्मा आदि।

रसः स्वादे जले वीर्ये श्रृंगारादौ विषे द्रवे।

बाले रोगे गृहे धातौ विक्तादौ पारदेऽपि च।।

(हैमकोष)

काव्य साहित्य में रस शब्द से श्रृंगार आदि रसों का बोध होता है। आयुर्वेद में मधुर आदि भोजन रसों का, वैदिक साहित्य में विशेष रूप से उपनिषदों में परमात्मा के लिए भी रस पद का व्यवहार हुआ है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में परम ब्रह्म को रस कहा गया है। **"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।** (तैत्तिरीय उपनिषद् 2.7)

इसकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि जिस प्रकार मधु आदि लौकिक रसों से मनुष्य आनन्दित होते हैं। उसी प्रकार परमात्म रूप रस को पाकर योगीजन परम आनन्द को प्राप्त करते हैं।

वैदिक साहित्य में श्रृंगार आदि साहित्यिक रसों के लिए भी रस पद का प्रयोग हुआ है और उनसे साहित्यिक मनोभावों को निर्देश मिलता है। भरत ने रूपकों की रचना में रस को वेदों से, विशेष रूप से अथर्ववेद से ग्रहण किया था।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।

भरत–नाट्यशास्त्र / 1–17

10.2.1 रस पद की व्युत्पत्ति

रस की व्युत्पत्तियाँ निम्न हैं–

1. **"रस्यते आस्वाद्यते इति रसः"** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिन पदार्थों का आस्वादन किया जाता है, वे रस हैं। इस प्रकार परमात्म रस मधुर पदार्थ, सोम, गन्ध, मधु आदि पदार्थों को रस कहा जा सकता है।
2. "रस्यते अनेन इति रसः" जिन पदार्थों के द्वारा आस्वादन किया जाता है। उनको भी रस कहते हैं। इस आधार पर शब्द, राग, वीर्य, शरीर आदि को रस कह सकते हैं।
3. "रसति रसयति वा रसः" जो व्याप्त हो जाता है या व्याप्त कर लेता है उसको रस कहते हैं। इस प्रकार पारद, जल, शरीर की रस धातु या अन्य द्रव पदार्थों को रस कहते हैं।
4. "रसनं रसः आस्वादः" जो आस्वाद है उसको रस कहते हैं। इस आधार पर शृंगार आदि को रस कहते हैं। क्योंकि वे आस्वाद रूप हैं।

उपर्युक्त व्युत्पत्तियों में से प्रथम च चतुर्थ व्युत्पत्ति साहित्यिक रसों के लिए प्रयुक्त हो सकती है क्योंकि साहित्यिक रसों का आस्वादन किया जाता है तथा वे आस्वादरूप हैं।

10.2.2 रस का स्वरूप विवेचन

भरत का रस सूत्र निम्न प्रकार है–

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। (भरत नाट्यशास्त्र)

विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में रस स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार की है–

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः रसः स्मृतः।। (सा0द0 1:1)
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तै र्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः।

अर्थात् विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता हुआ स्थायीभाव ही रस कहलाता है।

10.2.2.1 विभाव

'विभाव्यते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकः रत्यादिभावा एभिः इति विभावाः" – लोक में जो रत्यादि स्थायिभावों को उद्‌बोधित करते हैं उनको काव्य या नाटक में विभाव कहते हैं।

अर्थात् इनको विभाव इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनसे सामाजिकों के हृदय में विद्यमान रति आदिभाव रसास्वाद की अभिव्यक्ति के योग्य बनाये जाते हैं। विभाव के दो भेद हैं (1) आलम्बन विभाव, (2) उद्दीपन विभाव।

1. आलम्बन विभाव– नायक–नायिका आदि पात्र आलम्बन विभाव कहलाते हैं। क्योंकि इनके आलम्बन से ही रस का उद्‌गम होता है। आलम्बन विभाव का लक्षण–

"रसप्रकृतिभूतरत्याद्याश्रयत्वमालम्बनविभावत्वम्"

2. उद्‌दीपन विभाव–

"उद्‌दीपनविभावास्ते रसमुद्‌दीपयन्ति ये" साहित्यदर्पण/3.131

अर्थात् जो रस को उद्‌दीति अर्थात् अतिशय पुष्टि को ले जाते हैं वे उद्‌दीपन विभाव कहलाते हैं। उद्‌दीपन विभाव, आलम्बन, नायक नायिका और प्रतिनायक प्रभृति की चेष्टायें तथा देश–काल आदि होते हैं।

10.2.2.2 अनुभाव–

अनुभावो विकारस्तुभावसंसूचनात्मकः (दशरूपक)
उद्‌बुद्ध कारणैः स्वैः स्वैर्बहिभावं प्रकाशयन्।
लोके य कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।।

(सा0द0/3.132)

अर्थात् जो अपने–अपने कारणों से उद्‌बुद्ध स्थायी भाव को बाहर प्रकाशित करने वाला लोक में जो कार्य कहा जाता है। वह काव्य और नाट्य के अन्दर पुनः अनुभाव नाम से कहा जाता है। इस अनुभाव की शाब्दिक व्युत्पत्ति इस प्रकार है–

"अनुपश्चात् भवन्ति इति अनुभावाः रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयन्ति अनुभव विषयी कुर्वन्तीति अनुभावाः।" इस प्रकार स्त्रियों के अंगज तथा स्वभावज अलंकार एवं सात्विक भाव और रत्यादि से उत्पन्न अन्य चेष्टायें अनुभाव कहलाती है।

अनुभाव दो प्रकार के होते हैं।

1. नायक–नायिका आदि के शरीर के चेष्टाओं के रूप में प्रकट होने वाले कटाक्ष, भुजाक्षेप, स्मित आदि।
2. नायक आदि के मन के विकारों के कारण उत्पन्न होने वाले स्वेद आदि। ये दूसरे प्रकार के अनुभाव सात्त्विक भाव या अनुभाव कहलाते है। इनकी संख्या 8 है। स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंपन्न, विवर्णता, अश्रु, मूर्च्छा। भानुदत्त मिश्र ने जृंभा को नवां सात्त्विक भाव बताया है।

10.2.2.3 व्यभिचारी भाव

व्यभिचारी भाव स्थिर न रहने वाली चित्तवृत्तियाँ हैं। ये विभाव और अनुभाव की अपेक्षा से विभिन्न रसों में अनुकूल होकर विचरण करते हैं। इसलिए इनकों संचारी भाव भी कहते हैं।

विशेषादाभिख्येनचरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इववारिधौ।।

(सा0द0/3.140)

अर्थात् विभाव और अनुभाव की अपेक्षा विशेष रूप से आस्वाद की अभिव्यक्ति में अनुकूल होने के कारण रति आदि में रस रूप से उत्पन्न होते हुए रत्यादि स्थायीभाव में आविर्भूत और तिरोभूत होने वाले धर्म व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं।

व्यभिचारी भावों की संख्या 33 हैं। निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, लज्जा, चंचलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, जागरण, अमर्ष, मनोभावों को चतुराई से छिपाना (अवहित्थ) उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास वितर्क।

10.2.2.4 स्थायीभाव–

मनुष्य जो अपने दैनिक जीवन में देखता है सुनता है और अनुभव करता है उसका संस्कार मन पर स्थिर हो जाता है। इस संस्कार को वासना भी कहते हैं। यह वासना रूप संस्कार ही स्थायी भाव कहलाते हैं–

अविरूद्धा विरूद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुर संज्ञोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः।।

(सा0द0 / 3.174)

अर्थात् अविरूद्ध अथवा विरूद्ध भाव जिस भाव को छिपाने में असमर्थ होते हों तथा जो आस्वाद रूप रस के अंकुर का मूलभत है वह भाव स्थायी भाव कहलाता है।

10.2.2.5 स्थायीभावों की संख्या–

साहित्यदर्पणकार की सम्मति अनुसार आठ स्थायीभावों के साथ निर्वेद (शम) भी नवम स्थायिभाव है। यथा–

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यष्टौ प्रोक्ता शमोऽपि च।।

(सा0द0 / 3.175)

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः परिकीर्तिता।
निर्वेदः स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।

(काव्यप्रकाश मम्मट)

अर्थात् रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ये आठ स्थायी भाव कहे गये हैं और शम भी स्थायीभाव कहा गया है। मम्मट ने निर्वेद को नवम स्थायिभाव मानकर शान्त को नवम रस माना है।

10.2.3 भरत का रस सूत्र और उसकी व्याख्या

नाट्यशास्त्र के प्रणेता ख्यातनाम भरतमुनि रस सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक हैं। उनका सूत्र है–

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"

अर्थात् विभाव (नायक नायिका आदि आलम्बन विभाग और वीणा वाद्य, चन्द्र, ज्योत्स्ना, मलय, समीर आदि उद्दीपन विभाव) अनुभाव (अश्रु स्वेद कम्पादिभावसूचक शारीरिक विकार और चेष्टायें) व्यभिचारि भाव (हर्ष, मद, उत्कण्ठा, असूयादि स्थायीभाव के सहचारिभाव) के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

इसमें संयोग और निष्पत्ति से भरतमुनि का क्या तात्पर्य है। यह ठीक–ठीक निश्चित रूपेण विदित नहीं होता अतः इस मूल सूत्र की अपनी–अपनी प्रतिभा के उन्मेष से व्याख्या करने वाले विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। उनमें से चार प्रमुख आचार्यों के मत निम्न हैं–

10.2.3.1 भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद – भट्टलोल्लट का मत उत्पत्तिवाद कहलाता है। भट्टलोल्लट स्वयं मीमांसक थे अतः यह मत मीमांसा शास्त्र के अनुसार है। इस मत के अनुसार संयोगात् पद का अर्थ उत्पाद्य–उत्पादक भाव संबंध है और निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्तिः किया है।

10.2.3.2 शंकुक का अनुमितिवाद – शंकुक नैयायिक हैं। अतः इस मत के अनुसार विभाव अनुमापक और रस अनुमाप्य है। इन्होंने संयोगात् शब्द का अर्थ अनुमाप्य–अनुमापक सम्बन्धन एवं "निष्पत्तिः" का अर्थ "अनुमितिः" किया है। इसी कारण इनके मत को अनुमितिवाद कहा गया।

10.2.3.3 भट्टनायक का भुक्तिवाद – भट्टनायक ने "संयोगात्" का अर्थ "भोज्य–भोजक भाव संबंध" और "निष्पत्ति" का अर्थ भुक्ति किया है।

10.2.3.4. आचार्य अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद – इनका मत "अभिव्यक्तिवाद" कहलाता है। इन्होंने "संयोगात्" का अर्थ "व्यंग्य व्यंजक भाव" और "निष्पत्तिः' का अर्थ "अभिव्यक्ति" किया है। अभिनवगुप्त ने रसावस्थिति सामाजिकों में मानी है।

10.3 रसों के भेद

भरतमुनि ने रसों की संख्या 8 बताई है–

शृंगारहास्यकरूणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्सादभुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः।।

भरत नाट्यशास्त्र/6.15

अर्थात् रस 8 हैं 1. श्रृंगार, 2. हास्य, 3. करूण, 4. रौद्र, 5. वीर, 6. भयानक, 7. बीभत्स, 8. अद्भुत। मम्मट ने निर्वेद को स्थायीभाव मानकर शान्त रस को नवम रस कहा था। विश्वनाथ ने वत्सल रस की गणना भी रसों में की है। रूपगोस्वामी ने "भक्तिरसामृतसिन्धु" और "उज्ज्वलनीलमणि" में "भक्ति रस" का प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार रसों की संख्या 11 हो जाती है। परन्तु अधिकांश आचार्य रसों की संख्या 9 ही मानते हैं। वत्सल तथा भक्ति को रस न मानकर भाव ही कहा गया है। मम्मट ने देवता विषयक रति को भाव कहा है।

रस भेद

10.3.1 शृंगार रस– स्थायीभाव रति

लक्षण– **"स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्ति विशेषो रतिः स्थायिभावः"।**

अर्थात् स्त्री पुरूष की एक दूसरे के विषय में प्रेम नामक जो चित्तवृत्ति होती है, उसे रति संज्ञक स्थायी भाव कहते हैं। श्रृंगार रस विप्रलंभ और संयोग के भेद से दो प्रकार का होता है।

1. **संयोग शृंगार –**

लक्षण– **"रतेः संयोग कालावच्छिन्नत्वे प्रथमः"**

अर्थात् "रति" जब स्त्री तथा पुरूष दोनों के संयोग काल में उन्मुक्त होती है तब वहाँ संयोग श्रृंगार होता है।

उदाहरण–

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहोमनोरथान्।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते।।

उक्त उदाहरण में नायिका सम्मत रति का आलम्बन विभाव नायक है। एकान्त स्थान आदि उद्दीपन विभाव हैं। नायिका द्वारा नायक के कमल रूपी मुख को देखना अनुभाव है। लज्जा उत्सुकता आदि के द्वारा संयोग से समन्वित श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति हो रही है।

2. **विप्रलम्भ शृंगार**

लक्षण– **"वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीय"**

अर्थात् जब रति स्त्री पुरूषों के वियोग काल में उपभुक्त नहीं होती है तब विप्रलंभ श्रृंगार होता है।

उदाहरण–

वामोमांगलिके प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं जने।
केलीमन्दिरमारूतायन मुखे विन्यस्तवक्राम्बुजा।।
विश्वासग्लपिताधरोपरिपतद् वाजार्द्रवक्षोरूहा।
बाला लोलविलोचना शिव शिवं। प्राणेशमालोकते।।

इस पद्य में एक सखी अपनी दूसरी सखी की दयनीय दशा को देखकर मन में सोच रही है कि उसके पति परदेश जा रहे हैं। परन्तु वह मुग्धारति मन्दिरों के वातायनों में मुख कमल को डालकर बैठी है उसकी सांसों की गति तेज है, इस कारण उसके ओठ सूख चुके हैं और अधरों पर गिरकर नीचे की ओर जाने वाली आसूंओं की धारा से उसके उरोज भीग गये हैं। शिव! शिव! इस दुर्दशा में पड़ी हुई वह बाला चंचल नेत्रों में अपने प्राणप्रिय को देख रही है। उसे यात्रा काल में अश्रुपात से होने वाले अपशकुन का बोध नहीं है।

यहाँ नायक आलम्बन विभाव, अश्रुपात–निश्वास, अनुभाव, विषाद–चित्रा–आवेग व्यभिचारी भावों के संयोग से नायिका की रति अभिव्यंजित होती है। जो वियोग काल में रहने के कारण वियोग श्रृंगार है।

10.3.2 करूण रस– स्थायी भाव शोक

लक्षण– **"मृतत्वज्ञानदशाया तु रतिपोषितस्य वैक्लव्यस्येति करूण एव"**

अर्थात् प्रेम पात्र के मरण ज्ञान के रहने पर स्त्री–पुरूष के वियोग से उत्पन्न व्याकुलता ही प्रधान होती है और रति होती है, उसको पुष्ट करने वाली दीप्ति ही करूण रस है।

उदाहरण–

अपहाय सकलबान्धवचित्रामुदवास्य गुरूकुलप्रणयम्।

हा तनय! विनयशालिन? कथमिव परलोकपथितोऽभूः।।

यहाँ अपने मृत पुत्र को देखकर पिता कहता है कि हाय! अति विनीत पुत्र तू सब बन्धुओं की चिन्ता को त्यागकर और गुरूकुल के प्रेम को भी भुलाकर कैसे परलोक का पथिक हो गया? यहाँ मृत पुत्र आलम्बन है। उपस्थित बान्धवों का दर्शनादि उद्दीपन है, रोना अनुभाव है और दीनता आदि व्यभिचारी भाव है। अतः यहाँ करूण रस है।

10.3.3 शान्त रस –

निर्वेद को स्थायिभाव मानकर मम्मट ने शान्त रस को नवम रस माना है। **निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः (मम्मट)**

लक्षण– **"नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः"**

अर्थात् नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार करने से जिसकी उत्पत्ति होती है, उस विषय विरक्ति नामक चित्तवृत्ति को निर्वेद कहते हैं।

उदाहरण–

मलयानिल कालकूटयो–रमणीकुन्तल भोगिभोगयोः।

स्वपचात्मभुवो निरन्तरा मम जाता परमात्मनि स्थितिः।।

यह किसी आत्मज्ञानी की उक्ति है कि मलय पर्वन के पवन और विष में, कामिनियों के केश–कलाप और सर्प के फन में एवं चाण्डाल कन्या तथा ब्रह्म में भेदभाव रहित मेरी स्थिति परमात्मा में हो गई है। यहाँ संपूर्ण संसार आलम्बन है, संपूर्ण पदार्थों से समानता की बुद्धि अनुभाव है और मति आदि संचारी भाव है अतः शान्त रस है।

10.3.4 रौद्ररस– स्थायी भाव क्रोध

लक्षण– **"गुरुबन्धवान्धादि परमापराधजन्माप्रज्वलानाख्यः क्रोधः"**

अर्थात् गुरू–पुत्र या बन्धु की हत्यादि अपराध से उत्पन्न होने वाली जलन नामक चित्त की वृत्ति क्रोध कहलाती है।

उदाहरण–

नवोच्छलितयौवन–स्फुरदखर्वगर्वज्वरे,

मदीयगुरूकार्मुकं गलितसाध्वसंवृश्चति।

अयं पततु निर्दयं दलितदृष्टभूभृद्गलत्,

स्खलद् रूधिरघस्मरो मम परश्वधो भैरवः।।

भगवान राम जब शिवजी के धनुष को तोड़ देते हैं उस समय धनुष की आवाज सुनकर परशुराम कहते हैं कि नवीन उछलती हुई युवावस्था के कारण बढ़े हुए अत्यधिक अभिमान रूप ज्वर से युक्त किसी ने निर्भय होकर मेरे गुरू शिवजी के धनुष को तोड़ डाला है। अच्छा अब युद्ध में काटे गये गर्वीले धूपों के गले से चूसे हुए खून को पीने वाला यह मेरा फरसा उसके ऊपर

निर्दयतापूर्वक गिरे।

शिवजी के धनुष को तोड़ने वाला यहाँ आलम्बन है जिसको (राम को) परशुराम पहचानते नहीं थे कि धनुष किसने तोड़ा है इसलिए यहाँ राम का नाम नहीं आया है। निर्दयतापूर्वक धनुष को तोड़ देना उद्दीपन विभाव है। कटुवचन अनुभाव हैं तथा उग्रता व्यभिचारी भाव है।

10.3.5 वीररस–स्थायिभाव उत्साह

लक्षण– **"पराक्रम–दानादिसमृतिजन्मा औन्नताख्यः उत्साहः"**

अर्थात् दूसरे के पराक्रम तथा दानादि स्मरण से उत्पन्न होने वाली उन्नता नामक चित्तवृत्ति को उत्साह कहते हैं।

उदाहरण–

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहता हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परमभी सायकां निष्पतत्तः।
सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रूषां नन्वहं मेघनादः
किंचिद्भ्रूभङ्गलीला नियमितजलधिं राममन्वेषयामि।

प्रस्तुत उदाहरण हनुमन्नाटक से उद्धृत किया गया है। हे क्षुद्र वानरों तुम भय को छोड़ दो, क्योंकि इन्द्र के हाथी ऐरावत को क्षुण्ण करने वाले मेरे ये बाण तुम्हारे शरीरों पर गिरते हुए केवल लज्जा धारण करते हैं। हे सौमित्रि पुत्र! ठहरो, तुम मेरे क्रोध के पात्र नहीं हो, प्रसिद्ध ही है कि यह मैं मेघनाद हूँ। मैं तो उस राम को खोजता हूँ जिसने अपने भोहों की थोड़ी वक्रता मात्र से जलनिधि को वश में कर लिया था।

यह मेघनाद की वानरों के प्रति उक्ति है यहाँ पर राम आलम्बन है, राम का समुद्र बांधना उद्दीपन है, क्षुद्रों के प्रति उपेक्षाभाव तथा राम के प्रति स्पर्धा अनुभाव है। ऐरावत के मस्तक भंजन की स्मृति तथा "लज्जां दधति" से प्रतीयमान गर्व व्यभिचारी भाव है। सहृदय सामाजिक में उत्साह प्राकृतिक वीर रस की अभिव्यक्ति होती है।

वीर रस के अनेक भेद किये गये हैं। साहित्यकार ने युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर ये चार भेद किये हैं।

10.3.6 अद्भुत रस–स्थायिभाव विस्मय

लक्षण– **"अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः"**

अर्थात् लोकोत्तर किसी वस्तु के दर्शन अथवा स्मरण आदि से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति को विस्मय कहते हैं।

उदाहरण–

चराचर जगज्जाल सदनं वदन तव।
गलद्गगनगांभीर्यं वीक्ष्यास्मि हृतचेतना।।

मां यशोदा भगवान कृष्ण के मुख को देखकर कहती है कि जो चराचर जगत् का निवास स्थान है और जिसके सामने गगन की गंभीरता भी नष्ट हो जाती है इस तेरे मुख को देखकर मेरी चेतनता समाप्त हो गई है आश्चर्य से मैं हतबुद्धि हो गई हूँ।

यहाँ कृष्ण का मुख आलम्बन है चराचर जगत् का वर्णन उद्दीपन विभाव है हृदय की चेतनता और उससे गम्य रोमांच नेत्रों को फाड़ना आदि अनुभाव है त्रासादि व्यभिचारी भाव है इन सभी

से अद्भुतरस ध्वनित हो रहा है।

10.3.7 हास्य रस– स्थायिभाव हास

लक्षण– **"वाङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः"**

अर्थात् दूसरों के अंग वचन वेष और भूषण में विकार के दर्शन से उत्पन्न होने वाली विकास नामक चित्तवृत्ति हास कहलाती है।

उदाहरण–

श्रीतातपादैविहिते निबन्धे निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा।
अंगगवां पूर्वमहोपवित्रं, कबं न वा रासभधर्मपत्न्याः।।

अर्थात् एक तार्किक पिता का पुत्र कहता है कि श्रीमान् पिताजी द्वारा रचे गये निबन्ध में यह नवीन युक्ति दिख पड़ी कि जब गायों का पूर्व अंग पवित्र है तब गदहे की धर्मपत्नी का यह अंग पवित्र क्यों न माना जाये? अर्थात् गाय और गधी एक समान है।

यहाँ मूर्ख पुत्र आलम्बन विभाव है, उसका निःशक कथन उद्दीपन है, दांत खिलखिलाकर हंसना अनुभाव है, उद्वेगादि व्यभिचारी भाव है अतः स्पष्ट है कि यहाँ हास्य रस है।

10.3.8. भयानक रस– स्थायी भाव भय

लक्षण– **"व्याघ्र दर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैक्लव्याख्यः स भयम्"**

अर्थात् व्याघ्रादि के दर्शन से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता नायक चित्तवृत्ति भय कहलाती है।

उदाहरण–

श्येनाम्बरतलादुपागतं शुष्यदाननबिलो विलोकयन्।
कम्पमानतनुराकुलेक्षणः स्पन्दितुं न हि शशाक लावकः।।

एक दर्शक कहता है कि विवशलावणक (एक पक्षी) ने जब गगनतल से झपटते हुए बाज को देखा तभी उसका मुख सूख गया, देह कांपने लगी, आँखे व्याकुल हो गयी इस प्रकार वह हिल भी न सका।

यहाँ बाज आलम्बन विभाव है, उसका तेजी से झपटना उद्दीपन है, मुख सूखना अनुभाव है और दैन्यादि व्यभिचारी भाव है।

10.3.9 बीभत्स रस– स्थायीभाव जुगुप्सा

लक्षण–

"कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्त वृत्ति विशेषो जुगुप्सा"

अर्थात् किसी घृणित वस्तु के देखने से उत्पन्न होने वाली घृणा नामक चित्तवृत्ति को जुगुप्सा कहते हैं।

उदाहरण –

नखैर्विदारितान्त्राणां शवानां पूयशोणितम्।
आननेष्वनुलिम्पत्ति दृष्टा वेतालयोषितः।।

हर्षयुक्त वेतालों की स्त्रियाँ नखों से मुर्दों की अंतडियों को फाड़कर मवाद और रूधिर को मुख पर लेप कर रही हैं। यहाँ किसी श्मशान का वर्णन है। यहाँ मुर्दे आलम्बन हैं, आंतों का फाड़ना उद्दीपन है, रोमांच एवं नेत्र संकोचादि अनुभाव है तथा आवेग आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सभी से युक्त यहाँ वीभत्स रस है।

10.4 रस की अलौकिकता

साहित्यदर्पण कार विश्वनाथ ने जो सामान्य धर्मों के निराकरण के उपरान्त उसके वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन किया है–

"तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्"

अर्थात् सहृदय सामाजिकों के द्वारा संवेद्य यह रस अलौकिक है यह सत्य है। रस की अलौकिकता के जो हेतु साहित्यदर्पणकार ने दिये हैं वे निम्न हैं–

10.4.1 रस ज्ञाप्य नहीं है–

जो वस्तु ज्ञाप्य अर्थात् ज्ञान का विषय होती है वह कभी–कभी प्रतीति का विषय नहीं भी हुआ करती है। यथा छिपा हुआ घट परन्तु रस के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता अर्थात् रस हो और उसकी प्रतीति न हो ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। परन्तु इसके विपरीत जब रस की सत्ता होती है उसका अनुभव सामाजिक हृदयों में अवश्यक होता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि रस तो हो और उसको अनुभव न हो अतः यह रस अपनी सत्ता में कभी व्यभिचारित नहीं होता इसलिए रस ज्ञाप्त नहीं है।

10.4.2 रस कार्य नहीं है–

रस विभाव अनुभाव और संचारी भाव के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला नहीं है। यदि रस कार्य होता तो उसका कारण विभावादि का ज्ञान ही होता किन्तु रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति ही नहीं होती है। नियम यह है कि कारण का ज्ञान और कारण के कार्य का ज्ञान एक समय में कभी नहीं होता। चन्दन के स्पर्श के ज्ञान और चन्दन स्पर्श से उत्पन्न सुख का ज्ञान एक साथ एक समय में नहीं होता है। विभावादि, समूहालम्बनात्मक ज्ञान रूप से ही रस की प्रतीति होती है। अतः विभावादि ज्ञान रस का कारण नहीं है परिणामतः रस कार्य भी नहीं है।

10.4.3 रस नित्य नहीं है–

यदि रस नित्य होता तो विभावादि के ज्ञान से पूर्व भी रहता परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। अतः नित्य नहीं है। इस रस का ज्ञान तो सहृदय सामाजिक के अभिनय के देखने के समय ही होता है नित्य वस्तु सार्वकालिक हुआ करती है। अतः आत्मा और आकाश के समान यह रस नित्य नहीं है।

10.4.4 रस भविष्यत् काल में होने वाला भी नहीं है–

क्योंकि रस साक्षात् आनन्द धन और प्रकाश स्वरूप है। यदि रस भविष्यत् काल में होता तो वर्तमान में अनुभव में कैसे आता? कल होने वाली वस्तु आज नहीं दिखाई देती। अतः रस भविष्यत् काल में होने वाला नहीं है।

10.4.5 रस वर्तमानकालिक भी नहीं है –

रस न तो कार्य है और न ही ज्ञाप्य अपितु इसके विपरीत यह रस कार्य और ज्ञाप्य दोनों से विलक्षण है। आशय यह है कि वर्तमान कालिक होने के लिए या तो घट की तरह कार्य होना चाहिए इस रस में ये दोनों ही नहीं है। रस क्योंकि कार्य और ज्ञाप्य नहीं है अतः वर्तमानकालिक भी नहीं है।

10.4.6 रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है–

इसके दो कारण है– (1) निर्विकल्पक ज्ञान में ज्ञाता ज्ञान और श्रेय रस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं

होता जबकि रस के अन्दर विभावादिकों का परामर्श अर्थात् विशिष्ट वैशिष्ट्य सम्बन्ध होता है। (2) निर्विकल्पक ज्ञान निष्प्रकारक होता है उसमें किसी धर्म का प्रकारता रूप से भान नहीं होता परन्तु रस में सहृदय सामाजिको को रस के के परमानंद होने के कारण रस की स्फुट प्रतीति होती है। अतः रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है।

10.4.7 रस विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है–

रस वचन प्रयोग की योग्यता से रहित है अर्थात् रस को शब्द से नहीं कह सकते वह अनिवर्चनीय है। जबकि सविकल्पक ज्ञान के विषयीभूत सभी घट–पट आदि शब्द के द्वारा प्रकाशित किये जा सकते हैं। रस क्योंकि व्यंग्य है अतः वाचक और लक्षक शब्दों के द्वारा प्रयोग के योग्य नहीं है। इसके विपरीत जो वाचक और लक्षण शब्दों से प्रयोगार्ह होगा वह सविकल्पक ज्ञान का विषय होगा। रस ऐसा नहीं है अतः यह सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है।

10.4.8 रस परोक्ष अतीन्द्रिय नहीं है–

क्योंकि रस का साक्षात् अनुभव होता है और साक्षात्कार होता है अतः रस परोक्ष अतीन्द्रिय नहीं है।

10.4.9 रस प्रत्यक्ष भी नहीं है –

यह काव्यार्थ के सूचक शब्दों से उत्पन्न होता है अर्थात् रस काव्य से उत्पन्न विभावादि ज्ञान से उत्पन्न होता है। यहाँ रस की प्रत्यक्षानुभव से विलक्षणता सिद्ध की गई है। प्रत्यक्ष से भिन्नता नहीं क्योंकि यदि प्रत्यक्ष से भिन्नता सिद्ध करते तो तब व्याघात दोष होता। इस प्रकार रस प्रत्यक्ष नहीं है।

इस प्रकार रस के विषय में उपर्युक्त नौ सामान्य धर्मों का निराकरण करने के उपरान्त उसके वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं–

"तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्य सहृदयैरयम्"

साहित्यदर्पण/तृतीय परिच्छेद।

अर्थात् सहृदय सामाजिकों के द्वारा संवेद्य यह रस अलौकिक है यह सत्य है।

10.5 बोध प्रश्न

1. विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद् रस निष्पत्तिः यह रस सूत्र किस आचार्य का है?
   (क) भरत (ख) मम्मट
   (ग) विश्वनाथ (घ) जगन्नाथ
2. अभिव्यक्तिवाद के प्रणेता है?
   (क) लोल्लट (ख) शंकुर
   (ग) भट्टनायक (घ) अभिनवगुप्त
3. साधारणीकरण सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्य है?
   (क) भरत (ख) जगन्नाथ
   (ग) भट्टनायक (घ) शंकुक

निबन्धात्मक प्रश्न

4. भरत के रस सूत्र की व्याख्या कीजिये?

5. रस सिद्धान्त का सामान्य परिचय प्रस्तुत कीजिये?

6. भरतमुनिकृत रस सूत्र पर की गयी व्याख्याकारों की टिप्पणी प्रस्तुत कीजिये?

7. श्रृंगार एवं वीर रस को सोदाहरण समझाइये। ?

8. करूण एवं शान्त रस का सोदाहरण वर्णन कीजिये। रस की अलौकिकता को सोदाहरण समझाइये?

10.6 उपयोगी पुस्तकें

1. भरतमुनि–नाट्यशास्त्र (भाग 1–4) टीका–अभिनवगुप्ताचार्य
2. नाट्यशास्त्र–भरतमुनि– मेरठ प्रकाशन
3. साहित्यदर्पण– विश्वनाथ– व्याख्याकार– निरूपण विद्यालंकार– मेरठ प्रकाशन,
4. साहित्यदर्पण– विश्वनाथ कविराज–निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
5. काव्यप्रकाश– व्याख्याकार– सिद्धान्त शिरोमणि विश्वेश्वर चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी।
6. साहित्यदर्पण– शालीग्राम शास्त्री
7. काव्यप्रकाश– झलकीकर संस्करण
8. रसगंगाधर– जगन्नाथ– निर्णय सागर प्रेस बम्बई
9. भरत– चौखम्बा संस्कृत सीरीज
10. भोजराज– सरस्वतीकण्ठाभरण, निर्णय सागर प्रेस बम्बई
11. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका– डॉ0 नगेन्द्र
12. भारतीयसाहित्यशास्त्र (दो खण्ड)– डॉ0 बलदेव उपाध्याय
13. उज्ज्वल नीलमणि– रूप गोस्वामी
14. दशरूपक– धनंजय– अनुवादक भोला शंकर व्यास
15. वक्रोक्ति जीवित, डॉ. रमाकान्त पाण्डेय

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. क– भरत
2. घ– अभिनवगुप्त
3. ग– भट्टनायक

4–8 निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी इकाई से स्वयं खोजें।

इकाई–11

भरत की रसदृष्टि, रससूत्र तथा उसके व्याख्याकार

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 रस से अभिप्राय

11.3 आचार्य भरत की रस दृष्टि

11.3.1 रस सामग्री

11.3.2 विभाव

11.3.3 अनुभव

11.3.4 व्यभिचारिभाव

11.3.5 स्थायीभाव

11.4 रस सूत्र के व्याख्याकार

11.4.1 भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

11.4.2 श्री शंकुक का अनुमितिवाद

11.4.3 भट्टनायक का भुक्तिवाद

11.4.4 अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

11.4.5 रस सूत्र के अन्य व्याख्याकार

11.5 रस की अलौकिकता

11.6 सारांश

11.7 शब्दावली

11.8 बोध प्रश्न

11.9 उपयोगी पुस्तकें

11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप 'रस' के विषय में जान सकेगें। हमारे यहाँ 'रस' अनेक अर्थो में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु प्रस्तुत इकाई में आप काव्यानन्द या साहित्य रस क्या है? इस विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। काव्य शास्त्रियों ने काव्य के अनेक प्रयोजन बताये हैं परन्तु "सकलप्रयोजनमौलिभूतं" 'सद्यः परिनिवृतये' रस ही माना गया है। जीवन का परमलक्ष्य या काव्य का उद्देश्य मूलतः रस ही है तथा यह परम्परा बहुत पुरानी है। इस इकाई में रस क्या है? रस की उत्पत्ति कैसे हुई? इस विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

रस परम्परा कितनी भी प्राचीन रही हो परन्तु रस की कोई निश्चित परिभाषा प्राप्त नहीं होती। रस की परिभाषा हमें सर्वप्रथम भरतमुनि के 'नाट्य शास्त्र' में **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"** प्राप्त होती है। भरतमुनि के इसी रससूत्र की व्याख्या तथा उसके टीकाकारों के विषय में विस्तृत रुप से आप इस इकाई में जान सकेंगे। भरत रस सूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त प्रमुख हैं, जिनका विशद विवेचन प्रस्तुत इकाई में किया जायेगा।

11.2 रस से अभिप्राय

भारतीय मनीषा में 'रस' विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। साहित्य शास्त्र काव्य के आत्म रुप रस के चिन्तन में लगा हुआ है तथा 'आस्वादरूप' परमानन्द की प्राप्ति को काव्य का चरम उद्देश्य स्वीकार करता है। भारतीय साहित्य में रस शब्द अति प्राचीन है। प्राचीनसाहित्य में रस मुख्यतः चार अर्थों में प्रयुक्त हुआ है–

1. षड् रस या पदार्थों का रसः मधुर, अम्ल, तिक्त, कषायादि।
2. आयुर्वेद में रस औषधि रुप में प्रयुक्त हुआ है।
3. साहित्य में नवरस – शृंगार, वीर, हास्यादि।
4. भक्ति रस या परमानन्द प्राप्ति रुप मोक्ष।

पाणिनीय व्याकरण में रस शब्द आस्वादन एवं स्नेह के अर्थ में मिलता है। व्याकरण में रस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है–

1. 'रस्यते आस्वाद्यते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस शब्द के रुप, रस, गंध, मधु सोम आदि अर्थ हैं।

2. 'रस्यते अनेन इति रसः' इस व्याख्या के अनुसार रस, गुण, राग, वीर्य आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

3. 'रसति रसयति वा रसः' इस व्याख्या के अनुसार रस, गुण, राग वीर्य आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

4. 'रसनं रसः आस्वादः' इस व्याख्या के अनुसार रस आस्वाद, शृंगारादि रस इन अर्थों में प्रयुक्त है।

इस प्रकार कोष ग्रन्थों में भी रस शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। विश्वकोष, अमरकोष आदि कोष ग्रन्थों में रस गन्ध, स्वाद, विष, राग, शृंगारादि, वीर्य, पारद, आनन्द तथा सुख आदि विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

सर्वप्रथम ऋग्वेद में रस शब्द जल, मधु व सोमरस के रुप में प्रयुक्त हुआ है।

स्वादु रसो मधुभेयोवराय (6/44/21)
तं गोभिर्दूषणे रसं मदाय देववीतये। सुतंभराय संसृज। (9/6/6)

ऋग्वेद के 'वाक्सूक्त' में रस शब्द का प्रयोग वाणी के रुप में किया गया है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में वाणी के चमत्कार के लिए पहले 'आस्वाद' शब्द और फिर आस्वाद्य 'रस' शब्द के लाक्षणिक प्रयोग

कदाचित् यहाँ मिल जाते हैं। ऋषि वाणी का पान करते थे और वाणी की मधुर व स्वादु रुप में भी कल्पना करते थे अर्थात् वाणी उनके लिए मधुर पेय व रस रुप में काव्य थी। (पृ. 195) यही कारण है कि आचार्य भरतमुनि जो 'रससम्प्रदाय' के प्रधान आचार्य माने जाते हैं नाट्य रस का आधार वेद को ही मानते हैं। उपनिषदों में रस शब्द परमानन्द रुप में प्रयुक्त हुआ है। दर्शन का प्रमुख उद्देश्य भी अजर, अमर, नित्य, आनन्दमय वह आत्म तत्त्व ही है, जिसको जानने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में कहा गया है–

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।"

वह रस ही है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य आनन्दमय हो जाता है। इसी प्रकार साहित्य शास्त्र में भी काव्यात्मरुप रस पर विशेष चिन्तन हुआ है।

अग्निपुराण में भगवान वेदव्यास ने भी 'रस' को काव्य का प्राण कहा है–

"वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।"

इसी प्रकार आदिकविवाल्मीकि द्वारा लौकिक साहित्य का प्रथम छंद 'करुण रस' के रुप में ही उद्भूत हुआ–

"मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।"

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने इसी छंद को आधार मानकर अपने ध्वनिकाव्य का मूलतत्व रस को ही स्वीकार किया है। इसी प्रकार आनन्दवर्धन के अनुगामी आचार्य मम्मट ने 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' कहकर वाणी को प्रेयसी की वाणी के समान मधुर व आनन्ददायिनी बताते हुए 'सद्यः परनिवृत्तये' को काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है। यही कारण है कि कविता यश की कामना के लिए नहीं वरन् आनन्द की प्राप्ति के लिए लिखी गयी। डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी कहते हैं कि "कालिदास ने कविता मूलतः यश की कामना के लिए नहीं लिखी थी। उनका प्रयोजन अपने भीतर के आह्लाद को दूसरों के भीतर जगाना ही था जिसकी ओर कवि ने अपने एक नाटक में 'नाट्य भिन्न–रुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्' कहकर संकेत किया है। ;काव्यप्रयोजन पृ. 67

आचार्य विश्वनाथ भी 'साहित्यदर्पण' में काव्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि– "वाक्यम् रसात्मकं काव्यम्" अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है। इस प्रकार वेदों से लेकर लौकिक संस्कृत साहित्य तक रस के विविध अर्थ प्राप्त होते हैं तथा मूर्त पदार्थों से लेकर अमूर्त ब्रह्मानन्द तक की चर्चा रस के संदर्भ में प्राप्त होती है लेकिन रस की शास्त्रीय परिभाषा प्राप्त नहीं होती। इस सम्बंध में भरतमुनि को ही रस–सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापक आचार्य माना गया है। राजशेखर की काव्य मीमांसा में नन्दिकेश्वर को रस का आदि प्रवर्तक माना है परन्तु नन्दिकेश्वर का कोई रस विषयक ग्रन्थ हमें प्राप्त नहीं होता। नाट्यशास्त्र में 'अत्रानुवंश्यौ श्लोको भवतः' उदाहरण से प्रतीत होता है कि नाट्य शास्त्र से पूर्व भी रस

का विवेचन होता रहा है किंतु इस विषय में किसी प्रमाणिक ग्रन्थ के अभाव में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को ही रस का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। 'भाव प्रकाशन' में रस का सम्बंध वासुकि, नारद, ब्रह्मा आदि से भी माना गया है किंतु इनका कोई प्रमाणिक ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं होता।

11.3 आचार्य भरत मुनि का रस सिद्धान्त

आचार्य भरत ने 'आस्वाद्य' को रस कहा है। जिस प्रकार विविध व्यञजनों एवं भोज्य पदार्थो को खाते हुए मनुष्य रसों का आस्वादन करता है, उसी प्रकार सहृदय व्यक्ति भी अभिनय से नाट्य रसों का आस्वादन करते है। आचार्य भरत के अनुसार विभाव अनुभाव व व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरतमुनि का रस सूत्र है–

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

भरतमुनि के इस रस सूत्र की विवेचना नाट्य के संदर्भ में की गई है। चतुर्विध अभिनयों के द्वारा सामाजिक या सहृदय के चित्त में रस निष्पत्ति का सम्पादन करना नाटक का प्रमुख उद्देश्य था। भरतमुनि ने नाटक के संदर्भ में रसनिरुपण करते हुए मानवीय संवेगों तथा अनुभूतियों का जो मार्मिक विश्लेषण किया है, वह आधुनिक मनोविज्ञान की मूलप्रवृत्तियों व मनः संवेगों से साम्य रखता है। भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने इन्हीं मनः संवेगों के आधार पर साहित्य में नौ स्थायी भावों के आधार पर नौ रसों को स्वीकार किया है।

नाट्य शास्त्र में मुख्य विवेच्य विषय रस, अभिनय, संगीत तथा नृत्य में प्रमुख 'रस' ही है। स्वयं भरतमुनि कहते है कि **"न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।"**

अर्थात् रसज्ञान के बिना किसी भी विभावादि को जानना कठिन है। अभिनय, संगीत, नृत्यादि के द्वारा रस को ही अभिव्यक्ति मिलती है अतः रस की अभिव्यक्ति में यह सभी सहकारी या साधन मात्र है, साध्य नहीं। अतः विभाव, अनुभाव व व्यभिचारिभाव सभी मिलकर स्थायीभाव रस को ही महत्वशाली बनाते हैं। आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में इसी मत की पुष्टि की है–

व्यक्त : स तै विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः।। का.प्र. 4/28

इसी प्रकार साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ तृतीय परिच्छेद का प्रारम्भ 'कोऽयं रसः' से करते है अर्थात् रस क्या है? तथा इसका उत्तर देते हुए कहते हैं, कि–

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्।। साहित्य. 3/1

अर्थात् विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त हुए रति आदि स्थायीभाव सहृदय सामाजिकों के हृदय में रसता को प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि अनुकार्य नायकादि के मन में स्थायीभाव विद्यमान होने से रस प्रतीति नटादि को होनी चाहिये किंतु काव्यार्थ की भावना से रस की प्रतीति सहृदय सामाजिकों के हृदय में होती है।

11.3.1 रस सामग्री

भरत के रस सूत्र में विभाव, अनुभाव व व्यभिचारिभावों के संयोग से ही रस की निष्पत्ति मानी गयी है अतः इसी सूत्र से ही रस उत्पत्ति में सहायक सामग्री का उल्लेख मिल जाता है। विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव ही रसनिष्पत्ति में कारण हैं। नाट्य शास्त्र के सातवें अध्याय में स्थायी भाव तथा सात्विक भाव भी रस सामग्री के अन्तर्गत स्वीकार किये गये हैं।

11.3.2 विभाव

विभाव रसनिष्पत्ति में कारण माने गये हैं। इससे अभिप्राय है– विशेष प्रकार का भाव। लौकिक अर्थ में जो कारण या निमित्त होते हैं, काव्य या नाट्य के संदर्भ में वही विभाव कहलाते हैं। भरत के अनुसार विभाव शब्द का अर्थ है विज्ञान। इसके द्वारा स्थायी या व्यभिचारी भावों का विशेष प्रकार से बोधन होता है, ये अभिनयों के द्वारा विभावित होते हैं।

"विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पयार्यः। विभाव्यन्तेऽनेन वांगगसत्वाभिनया इत्यतो विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमिति अर्थान्तरम्।"

अर्थात् विभाव वाचिक, आंगिक आदि अभिनयों के द्वारा सामाजिकों के हृदय में अवस्थित स्थायी भावों को आस्वाद योग्य बनाते हैं। साहित्यदर्पणकार ने विभावों की व्याख्या इस प्रकार की है–

"विभाव्यन्ते आस्वादङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः इति विभावाः।"

स्पष्ट है विभाव नाट्यगत वह परिस्थिति या अवसर है जिसकी सहायता से नायक में स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होता है।

विभाव के दो भेद हैं – 1. आलम्बनविभाव और 2. उद्दीपन विभाव। जिसे आलम्बन करके रस की निष्पत्ति होती है उसे आलम्बन विभाव कहते है। जैसे सीता को देखकर राम के मन में और राम को देखकर सीता के मन में रति की उत्पत्ति होती है और राम व सीता दोनों को देखकर सामाजिक के भीतर रस की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार राम व सीता एक दूसरे के लिए रस अभिव्यक्ति में आलम्बन विभाव कहलाते है–

"रसप्रकृतिभूतरत्याद्याश्रायत्वमालम्बनविभावत्वम् इति।।"

देश, काल व वातावरण जैसे चाँदनी, उद्यान तथा एकान्त स्थान द्वारा रति का उद्दीपन होता है।

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये (साहित्य 3.131)

इस प्रकार जो रस को उद्दीपित करते हैं अर्थात् अधिक पुष्टि की ओर ले जाते है वे 'उद्दीपन विभाव' कहलाते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने चित्तवृत्ति विशेष के विषय को आलम्बन तथा

निमित्त रुप सामग्री जिससे जागृत भाव अधिकाधिक उद्दीप्त होता है, उद्दीपन विभाव कहा है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विभाव दो प्रकार के हैं, काव्यनाट्यादि में वर्णित नायकादि आलम्बन विभाव हैं क्योंकि इन्हीं को देखकर सहृदयों के मन में रस का संचार होता है तथा उन्हें उद्दीप्त या तीव्र करने वाली विविध चेष्टायें, वस्त्र आभूषणादि तथा वातावरण देश कालादि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आते हैं।

11.3.3 अनुभाव

अनुभाव रस के कार्य हैं तथा भावों के सूचक भी। **'अनु पश्चात् भावो यस्य सोऽनुभावः।'** विभावों के बाद उत्पन्न होने के कारण इन्हें अनुभाव कहा जाता है। आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव रसानुभूति के बाह्य या बहिरंग कारण हैं। उसी प्रकार अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव आन्तरिक रसानुभूति से उत्पन्न उसकी बाह्याभिव्यक्ति के प्रयोजक शारीरिक तथा मानसिक व्यापार हैं।

भरतमुनि ने कहा है कि "अनुभावों के द्वारा वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय अनुभावित होते हैं, अतः उनको अनुभाव कहते हैं।"

अनुभाव्यतेऽनेन वागंगसत्वकृतोऽभिनयः इति अनुभावः।। (नाट्य 7/5)

दशरुपककार ने अनुभावों को भावों की सूचना देने वाला या भावों का भावन करने वाला विकार कहा है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अनुभाव का लक्षण इस प्रकार दिया है–

उद्बुधं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरुपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययो।। (साहित्य 3/132)

"अर्थात् अपने–अपने आलम्बन या उद्दीपन, सीता व राम में उद्बुद्ध (रति आदि रुप स्थायीभाव को बाह्यरूप में प्रकाशित करता है, वह रत्यादि कार्यरुप काव्य व नाट्य में अनुभाव नाम से जाना जाता है।"

भरत ने नाट्य शास्त्र में अनुभावों का विशेष विवेचन अभिनय की दृष्टि से ही किया है। अनुभावों के माध्यम से सामाजिक यह अनुभव करता है कि पात्र में कौन से स्थायी भाव उद्बुद्ध हो रहे हैं। अनुभाव शारीरिक विकार है, इनके द्वारा रस की परिपुष्टि होती है। अतः अनुभाव की शाब्दिक व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है– रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयन्ति अनुभवविषयीकुर्वन्तीति अनुभावाः। किसी भी रस की बाह्य अभिव्यक्ति के लिए अलग–अलग अभिनय शैली का अवलम्बन लिया जाता है। अलग–अलग रस को प्रकाशित करने वाले स्मित आदि बाह्य व्यापार 'अनुभाव' कहलाते हैं। अनुभाव वस्तुतः अन्तर्मन की रसानुभूति को बाहर अभिव्यक्त करने के साधन हैं और उसमें शारीरिकव्यापार की प्रधानता रहती है। भरतमुनि ने अभिनय के आधार पर

अनुभावों के तीन प्रकार बताये हैं वाचिक, आंगिक तथा सात्विक। नट कृत्रिम रुप से इन अनुभावों का अभिनय करता है, परन्तु अनुकार्य रामादि की अन्तःस्थ बाह्य अभिव्यक्ति इन साधनों के द्वारा होती है। रसानुभूति के पश्चात् अनुभूत होने के कारण ये कार्य होते हैं, अनुभाव कहलाते है अथवा अनुकार्य राम आदि की रसानुभूति का अनुभव एवं अनुमान सामाजिक को होता है, इसलिए ये अनुभाव कहलाते हैं। भरतमुनि ने इसी क्रम में सात्विक भावों का भी उल्लेख किया है। सात्विक भाव भी रस के प्रकाशक होते हैं। ये आठ सात्विक भाव हैं – स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय। भरत ने इन्हें मन के विकार से उत्पन्न माना तो आचार्य विश्वनाथ सत्व के उद्रेक से उत्पन्न मनोविकारों को सात्विक भाव मानते हैं। सात्विक भाव भी अनुभावों के अन्तर्गत आते हैं, परन्तु अनुभावों से वैशिष्ट्य दिखलाने के लिए इनका अलग से वर्णन किया गया है।

11.3.4 व्यभिचारिभाव

उद्बुद्ध हुए स्थायीभावों की पुष्टि तथा उपचय में उनके सहाकारी होते है अतः उन्हें व्यभिचारिभाव कहते हैं। व्यभिचारिभाव का अन्य नाम संचारी भाव भी है। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में व्यभिचारिभाव की निष्पत्ति इस प्रकार दी गयी है– 'वि और अभि दो उपसर्गों से युक्त चर्– धातु से निष्पन्न इस शब्द मैं वि विविधता का द्योतक है तथा अभि और चर् आभिमुख्य व संचरण का द्योतक है। ये विविध प्रकार के रसों की ओर उन्मुख होकर संचरणशील होते हैं अतः इन्हें संचारी भाव भी कहते हैं। विविध रुपों में रसों की ओर अनुकूल होकर संचरण करना ही इनकी विशेषता है। यह संचरण वाक्, अंग एवं सत्वादि के द्वारा होता है।

भरतमुनि ने 'संचरण' शब्द का प्रयोग 'आनयन' के अर्थ में किया है। व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के परिपोषक तथा उन्हें रसावस्था तक पहुँचाने वाले होते हैं। व्यभिचारिभाव स्थायी भाव को उसी प्रकार लाते हैं जिस प्रकार सूर्य दिन को लाता है। अभिप्राय स्पष्ट है जिस प्रकार सूर्योदय के साथ–साथ दिन हो जाता है उसी प्रकार विभावादि के कारण संचारी के उदय होते ही स्थायी भाव स्वतः प्रकट हो जाते है, स्वतः उनका प्रकाश फैल जाता है।

दशकुमार के अनुसार व्यभिचारिभाव स्थायी भाव की ओर अभिमुख होकर चलने वाले हैं वह प्रकट होकर उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं जिस प्रकार सागर में लहरें विलीन हो जाती हैं। इसी प्रकार जिन व्यभिचारी भावों का आविर्भाव व तिरोभाव हुआ करता है वे निर्वेद आदि व्यभिचारि भाव कहलाते हैं। व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के सहायक सिद्ध होते हैं तथा ये स्थायीभाव के संचालक, गतिकर्ता तथा उपकारक कहे जाते हैं।

व्यभिचारी भाव किसी भी स्थायी भाव के साथ नियत नहीं होते। किसी स्थायी भाव के साथ कोई

व्यभिचारी भाव कभी होता है तथा कभी नहीं होता। एक ही व्यभिचारी भाव किसी स्थायी भाव के साथ होता है तो कभी दूसरे स्थायी भाव के साथ होता है। यह नियत नहीं होते, संचरणशील होते हैं तथा स्थायी भावों को रसरूपता की ओर ले जाते हैं।

व्यभिचारिभावों की संख्या तैंतीस मानी गयी है। यूं तो आचार्यों ने स्वीकार किया है कि व्यभिचारियों की संख्या व सीमा निर्धारण सम्भव नहीं है।

भरतमुनि ने व्यभिचारिभावों की गणना इस प्रकार की है–

निर्वेद ग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः।
आलस्यञ्चैव दैन्यञ्च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः।
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मारम् एव च।।
सुप्त विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च।।
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः।। (नाट्य. 19–22)

इस प्रकार संचारी भावों के अन्तर्गत केवल मनोविकार अथवा मनोवेगों की ही गणना नहीं हुई वरन् शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं का भी समावेश किया गया है। इनका सम्बंध आठ रसों के साथ है। ये संचारी भाव रसों में नाना रुप में विचरण करते हैं और रस को पुष्ट कर आस्वाद के योग्य बनाते हैं।

11.3.5 स्थायीभाव

रसानुभूति का आन्तरिक व मुख्य कारण स्थायीभाव है। स्थायीभाव मन के भीतर स्थिर रुप से रहने वाला वह प्रसुप्त संस्कार है जो अनुकूल आलम्बन एवं उद्दीपन सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त हो जाता है तथा हृदय में एक अपूर्व आनन्द का संचार कर देता है। स्थायी भाव की अभिव्यक्ति ही रसास्वादजनक या रस्यमान होने से रस शब्द से जानी जाती है। अतः मम्मट ने काव्यप्रकाश में रहा है "व्यक्तः स विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।" साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने स्थायीभाव की परिभाषा इस प्रकार दी है–

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः।। (साहित्य 3/174)

अर्थात अविरुद्ध या विरुद्ध भाव जिस भाव को छिपाने में असमर्थ होते है तथा जो आस्वादरुप रस के अङ्कुर का मूलभूत है वह भाव 'स्थायीभाव' कहलाता है।

भावों में विभाव, अनुभाव व व्यभिचारियों से स्थायीभाव अधिक महत्वपूर्ण है अतः भरतमुनि नाट्यशास्त्र में कहते हैं कि 'जिस प्रकार समान शारीरिक अवयव वाले व्यक्ति कुल, शील, विद्या, कर्म और शिल्प में विलक्षणता से युक्त होते हुए राजा हो जाते हैं तथा उन्हीं में से कुछ मन्दबुद्धि वाले अनुचर होते हैं उसी प्रकार गूढ़ाश्रय वाले स्थायीभावमुख्य होते है और अन्य भाव परिजन रुप में गौण होते हैं।

स्थायी भाव अपने विरोधी भावों द्वारा नष्ट नहीं होता तथा उन्हें आत्मसात कर लेता है, वह अन्य भावों द्वारा दबाया नहीं जाता वरन् उन्हें दबा देता है। भरतमुनि ने इन स्थायी भावों की संख्या आठ बताई है। उन्होंने क्रमशः रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय आठ स्थायीभावों का वर्णन किया है। धीरे–धीरे शांत रस की कल्पना के साथ शम व निर्वेद स्थायी भाव का वर्णन किया गया अतः साहित्य दर्पण में इनका उल्लेख इस प्रकार है–

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयचेत्थमष्टौ प्रोक्ताशमोऽपि च।। (साहित्य. 3/175)

वर्तमान में इन नौ रसों के आगे भक्ति व वात्सल्य रस को भी स्वीकार किया गया है। भोजराज ने गर्व, स्नेह, धृति उद्धत, प्रेयस, शांत तथा उदात्त रसों पर भी विचार प्रकट किये हैं।

निष्कर्षतः विभाव, अनुभाव और संचारीभावों से अभिव्यक्त सहृदय सामाजिकों में स्थित रति आदि स्थायीं भाव ही रस कहलाता है। परिणामतः रस व स्थायी भावों में कोई तात्विक भेद नहीं है। एक विशिष्ट प्रक्रिया के माध्यम से यही स्थायी भाव रस कहलाता है।

रसों की संख्या के विषय में भी मतभेद है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में आठ रस स्वीकार किये हैं तो मम्मट ने 'शान्तोऽपि नवमो रसः' कहकर नवाँ रस शान्त रस स्वीकार किया है तथा विश्वनाथ ने शान्त व वात्सल्य दो रस और स्वीकार कर लिये हैं अतः रसों की संख्या दस हो गयी है। वर्तमान में ईश्वर विषयक रति के आधार पर भक्ति रस भी स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार विविध भावों के आधार पर रसों की स्वीकारोक्ति व नवीन दृष्टिकोण किसी भी परम्परा व विकास के लिए शुभ संकेत है।

11.4 भरतमुनि के रससूत्र के व्याख्याकार

रससिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्यभरत का रसनिष्पत्ति विवेचक सूत्र है–

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'

अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरतमुनि ने इस रस सूत्र की मीमांसा नाटक के संदर्भ में की है। लौकिक रसनास्वाद से मानसिक रसस्वाद की तुलना करते हुए उन्होंने बताया कि जिस प्रकार विविध प्रकार के व्यञजनों से उपस्थित सुसंगत भोज्य (अन्न) का

भोक्ता आस्वादन करता है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव व संचारीभावरुप अभिनय से सम्बद्ध भावों का सहृदय प्रेक्षक रसास्वादन करता है। भरत ग्स सूत्र की व्याख्या नाटक पर आधारित है अतः भरत मुनि का प्रमुख उद्देश्य प्रेक्षक के मन में रस संचार करना है। नाटक के प्रमुख तीनों तत्वों वस्तु, नेता व रस में रस प्रमुख है। नाटक का मुख्य उद्देश्य रस की निष्पत्ति है। जिससे सामाजिक को अपूर्व आह्लाद की अनुभूति हो।

इस सूत्र में विभाव, अनुभाव व व्यभिचारिभाव क्या हैं ? इसका उल्लेख किया जा चुका है। 'संयोग व' 'निष्पत्ति' इन दो शब्दों के विषय में भरत मुनि का तात्पर्य निश्चित रूपेण ज्ञात नहीं होता अतः उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने इन दोनों पर अपने–अपने दृष्टिकोणों को स्पष्ट किया है। परिणामतः भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद, श्री शंकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद तथा अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद इन चार सिद्धान्तों का विकास हुआ। इन चारों व्याख्याकारों ने क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य तथा अलंकारशास्त्र को आधार मानकर इस सूत्र की व्याख्या की है। आचार्यमम्मट ने काव्य प्रकाश में अभिनवगुप्त के मत का अनुसरण किया है। आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रचित नाट्यशास्त्र की 'अभिनव भारती' टीका में इन चारों मतों का उल्लेख किया गया है। यह चारों मत इस प्रकार है–

1. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद 2. श्री शंकुक का अनुमितिवाद

3. भट्टनायक का भुक्तिवाद 4. अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

11.4.1 भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

रससूत्र के व्याख्याता भट्टलोल्लट का सिद्धान्त उत्पत्तिवाद के नाम से जाना ज़ाता है। भट्टलोल्लट का यह सिद्धान्त अभिनवभारती, ध्वन्यालोकलोचन तथा मम्मट कृत काव्यप्रकाश में उपलब्ध होता है। वह इस प्रकार है–

"विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।"

इस मत के अनुसार 'संयोग' का अर्थ सम्बन्ध तथा 'निष्पत्तिः' का अर्थ 'उत्पत्तिः' किया गया है। लोल्लट के अनुसार आलम्बन एवं उद्दीपन विभावों के द्वारा रति आदि स्थायी भाव प्रतीतियोग्य बनाये जाते है तथा निर्वेद आदि व्यभिचारिभावों से उपचित (पुष्ट) होते हैं। यह पुष्ट हो चुके स्थायी भाव ही रस है। इस मत के अनुसार रस न तो नट में रहता है और न सहृदय सामाजिकों के अन्दर रहता है अपितु अनुकार्य नायक रामादि के अन्दर रहता है। नट की अभिनेय कुशलता के कारण तथा रुप की समानता के कारण रस की प्रतीति का आरोप कर लिया जाता है और इस आरोप से चमत्कृत होकर सामाजिक आनन्दित होता है। विभावों के द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है अतः रस व विभावों में उत्पाद्य उत्पादकभाव सम्बन्ध होता है। अनुभावों के द्वारा रस प्रतीति योग्य होता है अतः रस और अनुभावों का गम्यगमकभाव सम्बन्ध तथा सञ्चारी या

व्यभिचारीभावों से रस की पुष्टि होती है अतः रस के साथ इनका पोष्य–पोषक भाव सम्बन्ध होता है। यहाँ 'निष्पत्तिः' का अर्थ क्रमशः उत्पत्ति, प्रतीति तथा पुष्टि है।

रस सूत्र की इस व्याख्या को व्याख्याकारों ने उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्तियों का मत कहा है। जिस प्रकार सर्प के न होने पर भी रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अभिनय के समय राम सीतादि में रति के विद्यमान न होने पर भी नट में उसकी प्रतीति तथा सहृदयों में चमत्कारानुभूति आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है।

भट्टलोल्लट के मत की न्यूनता

भट्टलोल्लट के मत की सबसे बड़ी कमी यह है कि लोल्लट ने सामाजिकों के साथ रस के सम्बंध का उल्लेख नहीं किया है। नाटक या काव्य का मुख्य उद्देश्य ही सामाजिक को आनन्द की प्राप्ति कराना है अतः इसका संकेत न होने से यह इस मत की न्यूनता है।

दूसरा अनुकार्य सीता रामादि अभी इस संसार में नहीं हैं अतः अभिनेता इनका अनुकरण कैसे करेगा? फलतः अनुकर्ता नट में भी रस की उत्पत्ति सम्भव नहीं। गौण रस का अनुभव नट को होता है, इत्यादि भावों का सीधा अनुभव नहीं होता अतः यह मत आचार्यो को रूचिकर प्रतीत नहीं हुआ।

11.4.2 श्री शंकुक का अनुमितिवाद

रस सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार शंकुक ने इस सूत्र की व्याख्या भिन्न प्रकार से की। शंकुक का यह सिद्धान्त न्यायदर्शन पर आधारित होने के कारण अनुमितिवाद कहलाया। इस सिद्धान्त में निष्पत्ति शब्द का अर्थ अनुमिति और 'संयोगात्' का अर्थ अनुमाप्य–अनुमापक भाव सम्बंध हैं मम्मट के काव्यप्रकाश में शंकुक का मत इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है–

"राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयमित्योत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति, च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे– इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्य प्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथा ऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगात् गम्यगमकभावरुपात्, अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्री शङ्कुकः।"

श्री शंकुक के मत में सहृदय नट को देखकर रामादि का अनुमान कर लेता है तथा यह अनुमान लौकिक अनुमान से विलक्षण माना गया है। लोक में चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध है–

1. सम्यक् ज्ञान – "यह राम ही है, यही राम है।"
2. मिथ्या ज्ञान – यह राम नहीं है।

3. संशयज्ञान – यह राम है अथवा नहीं।

4. सादृश्य ज्ञान – राम तो नहीं वरन् राम जैसा है।

इस प्रकार शंकुक ने 'चित्रतुरगन्याय' से नट में राम के रुप का अनुमान कर उपर्युक्त चारों ज्ञानों से पृथक् माना है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चित्रस्थ घोड़े को देखकर उसे वास्तविक मान लिया जाता है, उसी प्रकार सामाजिक या सहृदय अभिनय के अवसर पर नट को वास्तविक राम समझ कर विभावादि के द्वारा उसमें रस का अनुमान कर लेता है। यहाँ चित्रतुरगन्याय से उपस्थित सीता रामादि रुप नट में वास्तविक स्मित कटाक्षादि नहीं है। नट अपने शिक्षा व अभ्यास के बल से कृत्रिम स्मित कटाक्षादि का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार यहाँ सब कुछ कृत्रिम है। कृत्रिम विभावादि के आधार पर रसानुभूति नहीं हो सकती क्योंकि उन्होंने रसानुभूति का आधार भी अनुमान माना है। अनुमान के आधार पर होने वाला ज्ञान 'परोक्ष' माना जाता है जबकि रसानुभूति अनुमिति से भिन्न 'अपरोक्ष' रूप से होती है। इसलिए अनुमिति के आधार पर रस का सामाजिक को प्रत्यक्ष आस्वाद नहीं होता है। अतः यह मत भी आचार्यों को युक्तिसंगत प्रतीत नहीं हुआ।

श्री शंकुक के मत की न्यूनता –

श्री शंकुक ने सामाजिक को रस प्रतीति कराने का प्रयत्न अवश्य किया है किंतु इससे सामाजिक की रसानुभूति की समस्या का समाधान नहीं हुआ है। इस प्रक्रिया में सामाजिक को कृत्रिम विभाव, अनुभाव व व्यभिचारिभावों के साथ कृत्रिम स्थायी भाव के सम्बन्ध से नट में कृत्रिम राम तथा सीता विषयक रति का अनुमान होता है। सामाजिक को जो रस का साक्षात्कार होता है, उसका अनुमान के द्वारा उपपादन नहीं हो सकता। अनुमान के द्वारा होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है जबकि रस की साक्षात्कार या प्रत्यक्ष प्रतीति होती है फिर अनुमिति भी कैसी? जिसमें सब कुछ कृत्रिम है। यह इस मत का सबसे बड़ा दोष है।

11.4.3 भट्टनायक का भुक्तिवाद

सांख्यवादी आचार्यभट्टनायक का सिद्धान्त भुक्तिवाद के नाम से विख्यात है। उन्होंने भरत रससूत्र की व्याख्या करते हुए 'संयोग' का अर्थ भोज्य–भोजक भाव और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' किया है। इस मत के अनुसार रस की निष्पत्ति न तो अनुकार्य रामादि में होती है और न ही अनुकर्त्ता नट आदि में क्योंकि अनुकार्य राम और अनुकर्ता नट दोनों ही तटस्थ व उदासीन हैं। वास्तविक रसानुभूति तो सामाजिक को होती है, इसका प्रतिपादन किसी भी व्याख्याकार ने नहीं किया है। उन सभी मतों का खण्डन करते हुए भट्टनायक कहते हैं कि भट्टलोल्लट रस की निष्पत्ति मुख्य रुप से राम में और गौण रुप से नट में मानते हैं परन्तु उसमें सामाजिक का स्थान कही नहीं है अतः भट्टलोल्लट का सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है। श्री शंकुक ने तटस्थ नट में रस अनुमिति मानी है परन्तु अनुमिति परोक्ष ज्ञान होने के कारण प्रत्यक्ष रसानुभूति नहीं हो सकती अतः यह मत भी मान्य नहीं हुआ।

अभिनव गुप्त ने रस की निष्पत्ति अनुकार्य राम और अनुकर्ता नट में न मानकर सामाजिक में मानी है और सामाजिक में रस की उत्पत्ति या अनुमिति न मानकर रस की अभिव्यक्ति मानी है। भट्टनायक के मतानुसार अभिव्यक्ति हमेशा विद्यमान वस्तु की होती है। वस्तु की सत्ता अभिव्यक्ति के पूर्व भी रहती है तथा बाद में भी रहती है। पर रस तो अनुभूति रुप है। अनुभूति से पूर्व या पश्चात् उसकी सत्ता विद्यमान नहीं रहती अतः अभिव्यक्तिवाद भी ठीक नहीं है। इस प्रकार भट्टनायक ने तीनों मतों का खण्डन कर भुक्तिवाद की स्थापना की । भट्टनायक के इस मत को अभिनवभारती, ध्वन्यालोक लोचन तथा मम्मट के काव्य प्रकाश में प्रस्तुत किया गया है यथा –

"न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रस प्रतीयते, नोपपद्यते, नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणी करणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिस्तत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।"

भट्टनायक के अनुसार काव्य या नाटक में अभिधा व्यापार से भिन्न एक भावकत्व व्यापार होता है जो विभावादि द्वारा साधारणीड्डत स्थायीभाव का भोग भोजकत्व व्यापार द्वारा करवाता है। सत्वगुण के उद्रेक के कारण सामाजिक साधारणीकृत विभावादि का आनन्दानुभव करता है, यही रस है। यह आनन्दानुभव वेद्यान्तरसम्पर्क शून्य और साधारण आनन्दानुभव से उत्कृष्ट होता है अतः इसे 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा जाता है।

11.4.3.1 साधारणीकरण

भट्टनायक की रससिद्धान्त को एक महत्वपूर्ण देन है 'साधारणीकरण'। यह एक मनोवैज्ञानिक व्यापार है। भट्टनायक ने भुक्तिवाद की स्थापना के लिए अभिधा से भिन्न भावकत्व व भोजकत्व दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है। अभिधा केवल शब्द व्यापार है। भावकत्व व्यापार अन्तः करण का धर्म है। अभिधा व्यापार से मात्र काव्य का अर्थ समझा जा सकता है। भावकत्व व्यापार उस अभिधाजन्य अर्थ को परिष्कृत करके सामाजिक के उपयोग योग्य बना देता है। भावकत्व व्यापार नायक व नायिका की कथा में परिष्कार कर उसका व्यक्ति विशेष से संबंध हटाकर उसका 'साधारणीकरण' कर देता है। इस प्रकार राम व सीता साधारण स्त्री व पुरुष रह जाते हैं तथा उनका दाम्पत्य प्रेम भी सामान्य दाम्पत्य प्रेम रह जाता है। इसके पश्चात् भावकत्व व्यापार साधारणीकृत विभावादि का रस के रुप में भोग करवाता है। सत्व गुण के उद्रेक के कारण सामाजिक साधारणीकृत विभावादि का आनन्दानुभव करता है, यही रस है। भट्टनायक का यह 'साधारणीकरण' सिद्धान्त काव्यशास्त्र को एक महत्वपूर्ण देन है। साधारणीकरण द्वारा ही सामाजिक रस की अलौकिक अवस्था तक पहुँच जाता है। भट्टनायक के इस साधारणीकरण सिद्धान्त को अभिनवगुप्त ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने इनके भावकत्व को ध्वनि में और भोजकत्व व्यापार को रसास्वाद में अन्तर्भूत कर लिया है।

भट्टनायक के मत की न्यूनता

भट्टनायक का सिद्धान्त तथा सामाजिक को रसानुभूति का उपपादन रस सिद्धान्त को महत्वपूर्ण देन है परन्तु 'भावकत्व' व 'भोजकत्व' जिन दो नवीन व्यापारों की कल्पना भट्टनायक ने की वे अनुभव सिद्ध नहीं है । शास्त्र में अभिधा, लक्षणा, व्यञजना तीनों शक्तियों का उल्लेख मिलता है किंतु भावना का एवं भोग का नहीं अतः यह मत विद्वानों के मध्य आदर प्राप्त नहीं कर सका।

11.4.4 अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त का मत 'अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। जिस प्रकार भट्टलोल्लट ने उत्तरमीमांसा के आधार पर श्री शंकुक ने न्याय के आधार पर तथा भट्टनायक ने सांख्य के आधार पर अपने मतों की स्थापना की, उसी प्रकार अभिनवगुप्त ने 'अलंकार शास्त्र' के आधार पर अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की। अभिनवगुप्त अपने पूर्ववर्ती ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के अनुगामी है अतः उनका मत आलंकारिक मत कहा जाता है। अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनव भारती' में रसोत्पत्ति के विषय में अधिक विस्तार से विचार किया है। अभिनव के मत को काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

"लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैर्ममैवैतेशत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति सम्बंधविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्काल विगलितपरिमितप्रमातृभावशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्य परिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतचर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्राविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारी शृंगारादिको रसः।"

"अर्थात लोक में प्रमदा आदि से स्थायी भावों का अनुमान करने में निपुण सहृदयों का काव्य या नाटक में कारणत्व आदि को छोड़कर विभावन आदि व्यापार से युक्त होने से विभावादि शब्दों से व्यवहार्य उन्हीं प्रमदादि रुप कारण, कार्य व सहकारियों से 'ये मेरे ही है' 'या शत्रु के ही है' या तटस्थ के है अथवा 'ये न मेरे है', न शत्रु के ही है, और न तटस्थ के है, इस प्रकार के सम्बंध विशेष को स्वीकार अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण रुप से प्रतीत होने वाले इन विभावादि से अभिव्यक्त होने वाला तथा सामाजिकों में वासना रुप में विद्यमान रति आदि स्थायीभाव नियत प्रमाता में स्थित होने पर भी साधारणीकरण के बल से उसी काल में नियत प्रमातृ भाव के नष्ट हो जाने पर, वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य तथा अपरिमित प्रमातृभाव जिसमें उदित हो गया है इस प्रकार सामाजिक के द्वारा, समस्त सहृदयों

को समान रुप से अपनी आत्मा के समान आस्वाद से भिन्न होने पर भी आस्वाद का विषय होकर, आस्वाद मात्र स्वरुप, विभावादि की स्थिति पर्यन्त रहने वाला, पानक रस के समान आस्वाद्यमान साक्षात् प्रतीत होता हुआ, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा आनन्द को प्रदान करने वाला श्रृंगारादि 'रस' होता है।"

तात्पर्य यह है कि रत्यादि स्थायी भाव विभावादि के द्वारा साधारणीकृत होकर श्रृंगारादि रसों में अभिव्यक्त होता है। रसानुभूति होने पर सामाजिक इतना आनन्दविभोर हो जाता है कि उसे यह ज्ञान नहीं रहता कि यह विभावादि मेरे है या किसी अन्य के है। ऐसी दशा में सामाजिक वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य अर्थात् किसी दूसरी वस्तु के ज्ञान से रहित हो जाता है और उसमें वासना रुप में विद्यमान रत्यादि स्थायी भावों के उद्‌बोधन की सामर्थ्य आ जाती है अतः ये अलौकिक कहलाते हैं। अन्य सभी विषयों को तिरोहित सा करता हुआ, उसे ब्रह्मानन्द सहोदर अलौकिक आनन्द व रस की प्रतीति कराता है।

इस मत के अनुसार विभावादि रस के व्यञजक हैं और रस व्यंग्य है। अतः विभावादि के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है। रति आदि स्थायीभाव सहृदय सामाजिकों के अन्तःकरण में वासना या संस्कार रुप से अव्यक्त दशा में वर्तमान रहते हैं। अभिनवगुप्त ने रस की अभिव्यक्ति सामाजिकों में मानी है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने संयोग का अर्थ 'व्यंग्य–व्यञजक' भाव और निष्पत्ति का अर्थ 'अभिव्यक्ति' किया है।

अभिनवगुप्त रस–सूत्र के अन्तिम व्याख्याता थे, उन्होंने अभिव्यक्तिवाद के द्वारा रससिद्धान्त को अपूर्व महत्व प्रदान किया। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने रससिद्धान्त की मौलिक व नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है।

11.4.5 रस सूत्र के अन्य व्याख्याकार

रस सूत्र की व्याख्या के प्रमुख चार सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य काव्यशास्त्रियों ने भी अपनी–अपनी दृष्टि से रस सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है। रुद्रट् रचित काव्यालंकार में रस का स्वतंत्र रुप से विवेचन किया गया है। जो अति विस्तृत और वैज्ञानिक है। इन्होंने रसों की संख्या दस कर दी और शान्त एवं प्रेयान् को रस में स्थान दिया है। इन्होंने रस का विवेचन काव्य को दृष्टि में रख कर किया है। इन्होंने कहा कि रस के अभाव में कोई भी काव्य काव्यशास्त्र की भाँति नीरस हो जाता है। रस के समावेश से काव्य में मोहकता आ जाती है और पुरुष उसमें रमण करने लगता है।

"एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत।।" (का. 15/21)

श्री भट्टतौत अभिनवगुप्त के गुरु हैं इन्होंने शंकुक के अनुमितिवाद का खण्डन किया है। रस के विषय में यह **"अनुव्यवसायवाद"** मानते हैं। अपने 'काव्यकौतुक' ग्रन्थ में इन्होंने कहा है कि

नाट्य में व्यक्तिगत भावों का भावन नहीं होता अपितु त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तनात्मक अनुव्यवसाय होता है।

"नैकान्ततोऽस्ति देवानामसुराणां च भावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।।"

नाटक में गीत संगीत और अभिनय के कारण प्रत्येक प्रेक्षक का हृदय निर्मल हो जाता है और देशकाल व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से रहित होकर साधारणीकरण से प्रेक्षक का तन्मयी भाव हो जाता है और सत्वोद्रेक के कारण भाव आनन्द के जनक बन जाते हैं। इसलिये यह व्यक्ति विशेष के भावों का अनुभावन नहीं अपितु त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन है, जो अनुव्यवसाय कहलाता है। इसके पश्चात् धनञजय, भोज, मम्मट आदि सभी ने रस की चर्चा की परन्तु कोई नवीन मत प्रस्तुत नहीं किया। आचार्य विश्वनाथ ने रस संबंधी मान्यताओं की चर्चा की परन्तु उनकी महत्वपूर्ण देन है कि उन्होंने रस के स्वरुप पर विचार किया। उनके अनुसार रस अखण्ड, प्रकाश–स्वरुप आनन्दमय और चिन्मय है–

"सत्वोद्रेकादण्खण्डस्व प्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मस्वादसहोदरः ।"

रस सूत्र के व्याख्याकारों में अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ का महत्वपूर्ण योगदान है भरत के नाट्य शास्त्र से प्रारम्भ होकर रस मीमांसा की धारा पं. जगन्नाथ के 'रस–गंगाधर' नामक ग्रन्थ में समाहित हो जाती है। इन्होंने रस की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत कर उसे वेदान्त सम्मत रुप दिया है। वेदान्त में सभी वस्तुओं का चित्त से संबंध है। फिर भी विषयावच्छिन्न चैतन्य के अविद्या से आवृत्त रहते उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। रस सूत्र की व्याख्या करते हुये उन्होंने 'व्यक्तः' का अर्थ अज्ञान रुप आवरण का नष्ट होना किया है और व्यक्ति का भग्नावरणा चित्त किया है। यथा–

"व्यक्तो व्यक्ति विषयीकृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्। यथा हि शरावादिनापिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ संनिहितान् पदार्थान प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते। एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्।" (रस गंगाधर पृ. 22)

जिस प्रकार शरावादि से आवृत दीपक उसके हटा देने पर निरावृत होकर अपने स्वरुप को प्रकाशित करता है एवं पदार्थों को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार विभावादि की चर्वणा के काल में आत्मा के आनन्दांश के आवरक अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और परिमित प्रमातृत्व से रहित प्रमाता भग्नावरण चित् के द्वारा वासना रुप से वर्तमान इत्यादि की आनन्दांश के साथ अनुभूति करता है। अवच्छिन्न आत्मरुप आनन्द ही रस हैं। इस प्रकार रस विवेचन के आचार्यों में पण्डित राज जगन्नाथ किसी मौलिक आचार्य से कम नहीं और रस मीमांसा को इनकी महत्वपूर्ण देन दार्शनिकता है।

11.5 रस की अलौकिकता

संस्कृतसाहित्य में आलंकारिकों ने रस को वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य, ब्रह्मानन्दसहोदर, अखण्ड चिन्मय

स्वप्रकाश और अलौकिक माना है।

11.5.1 अभिनवगुप्त ने रस की अलौकिकता सिद्ध करते हुए कहा कि संसार में जितनी भी अनित्य वस्तुएं हैं, वे दो प्रकार की हैं – एक कार्य रुप तथा दूसरी ज्ञाप्य रुप। जो पदार्थ किसी कारण से उत्पन्न होता है वह कार्य है और इनका कारण 'कारक' कहलाता है। दूसरे प्रकार से यह पदार्थ ज्ञान के विषय या ज्ञाप्य होते हैं। जैसे दीपक का प्रकाश होने पर पूर्वनिर्मित घट का ज्ञान हो जाता है अतः वह ज्ञाप्य हैं। इस प्रकार समस्त अनित्य पदार्थ कार्य व ज्ञाप्य होते है किंतु रस न तो कार्य होता है, न ज्ञाप्य। रस कार्य इसलिए नहीं है क्योंकि कार्य अपने कारण कुम्हारादि के विनष्ट हो जाने पर भी विद्यमान रहता है किन्तु रस के कारण विभावादि के नष्ट हो जाने पर रस की प्रतीति नहीं होती। अतः रस कार्य नहीं है। इसी प्रकार रस ज्ञाप्य भी नहीं है क्योंकि लौकिक ज्ञाप्य पदार्थ ज्ञान के पूर्व भी विद्यमान रहता है और बाद में भी किंतु रस की सत्ता न अनुभव के पूर्व रहती है और न बाद में अतः रस ज्ञाप्य नहीं है।

"स च न कार्यं विभावविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात् नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात्।"

11.5.2 रस न कारक है न ज्ञापक। संसार में दो प्रकार के कारण होते हैं कारक और ज्ञापक। रस कार्य नहीं है अतः उसका कोई कारक हेतु भी नहीं हो सकता तथा रस ज्ञाप्य भी नहीं है अतः उसका ज्ञापक हेतु भी नहीं है। इनके अभाव में विभावादि रस के व्यञजक कैसे हो सकते हैं ? लोक के हेतुओं कारक व ज्ञापक के अभाव में रस के व्यञ्जक विभाव आदि हेतु उन दोनों से विलक्षण हैं अतएव 'अलौकिक' हैं।

"कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत् न क्वचित् दृष्टमित्यलौकित्वसिद्धेर्भूषणम्।"

11.5.3 स्वयं प्रकाशमान रस न भूत है, न भविष्य और न वर्तमान क्योंकि रस के कार्य व ज्ञाप्य न होने के कारण उसे वर्तमान नहीं कहा जा सकता अतः रस अलौकिक है।

11.5.4 रस नित्य भी नहीं है। विभावादि के ज्ञान से पहले उसकी प्रतीति असंभव है और प्रतीति से पूर्व उसकी सत्ता न होने से उसे नित्य नहीं कहा जा सकता। रस विभावादि कारणों से पूर्व विद्यमान नहीं रहता है अतः रस अलौकिक है रस को परोक्ष ज्ञान भी नहीं कह सकते क्योंकि उसका साक्षात् आनन्द प्रतीत होता है और प्रत्यक्ष रुप भी नहीं है क्योंकि वह एक अलौकिक शब्द ज्ञान है। अतः रस अलौकिक है।

11.5.5 रस न तो निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है और न ही सविकल्पक ज्ञान का विषय है। सविकल्पक ज्ञान में वस्तु के नाम, जाति आदि का बोध होता है। रस तो अनुभूति का विषय है शब्द व्यवहार का विषय नहीं है अतः सविकल्पक ज्ञान नहीं है। रस प्रतीति में विभावादि की प्रतीति होती रहती है अतः विभावादि से सम्बद्ध तथा आनन्दमय होने से रस को निर्विकल्पक ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता।

"तद् ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् नापि सविकल्पकं

चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दभयस्य स्वसंवेदनासिद्धत्वात्।" अतः रस दोनों से विलक्षण है।

इस प्रकार रस एक अलौकिक व अनिवर्चनीय है। यह सहृदय संवेद्य है। रस न कार्य है, न ज्ञाप्य, न कारक है, न ज्ञापक, वह न सविकल्पक है, न निर्विकल्पक अतः रस अलौकिक है।

11.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने भरत मुनि की रससूत्र तथा रससूत्र के व्याख्याकारों के विषय में जाना। सर्वप्रथम संसार में रस किन–किन अर्थों में प्रयुक्त होता है तथा सांसारिक रस से लेकर, काव्यानन्द तथा ब्रह्मनन्द सहोदर आनन्द तक की चर्चा करते हुए काव्य व नाट्य के सम्बंध में रस की चर्चा प्रस्तुत की गई। भरतमुनि का रससूत्र **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः'** वस्तुतः नाट्य के सम्बंध में रस की चर्चा करता है। इस सूत्र की समीक्षा करने के लिए सर्वप्रथम विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों का उल्लेख किया गया तथा तत्पश्चात् 'संयोग व निष्पत्ति' शब्द को लेकर रस सूत्र के विषय में प्रमुख आचार्यों के मतों का प्रतिपादन किया गया।

भरत मुनि रस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं तथा इनके रससूत्र में संयोग व निष्पत्ति के आधार पर भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद, श्री शंकुक के अनुमितिवाद, भट्टनायक के भुक्तिवाद तथा अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद की चर्चा की गयी। भट्टलोल्लट ने संयोग से अभिप्राय उत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बंध तथा निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति' ग्रहण किया। श्री शंकुक ने संयोग का अर्थ अनुमाप्य–अनुमापक भाव सम्बंध तथा निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति स्वीकार किया। भट्ट नायक ने संयोग का अर्थ भोज्य–भोजकत्व सम्बंध तथा निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति तथा अभिनवगुप्त ने संयोग का अर्थ व्यंग्य–व्यञ्जकत्व भाव सम्बंध तथा निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति स्वीकार किया।

इसमें भट्टनायक की रस सिद्धान्त को महत्वपूर्ण देन, साधारणीकरण व्यापार की चर्चा तथा अभिनवगुप्त की महत्वपूर्ण देन, सामाजिक को रसानुभूति की चर्चा है। रस की स्वसंवेद्यता के आधार पर रस की अलौकिकता व विलक्षणता की भी चर्चा की गयी है।

11.8 बोध प्रश्न –

I. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. रस सूत्र के प्रतिष्ठापक आचार्य है–

   (अ) मम्मट (ब) विश्वनाथ (स) भरतमुनि (द) अभिनवगुप्त ( )

2. उत्पत्तिवाद के आचार्य है–

   (अ) भट्टनायक (ब) अभिनवगुप्त

   (स) मम्मट (द) भट्टलोल्लट ( )

3. साधारणीकरण व्यापार के विषय में सर्वप्रथम चर्चा की–

(अ) भरतमुनि (ब) अभिनवगुप्त (स) भट्टनायक (द) श्री शंकुक ( )

4. श्री शंकुक के अनुसार 'निष्पत्तिः' का अर्थ है–

(अ) अभिव्यक्ति (ब) अनुमिति (स) ध्वनि (द) भुक्ति ( )

5. भट्टनायक का भुक्तिवाद मान्य क्यों नहीं हुआ–

(अ) भोज्य व भावकत्व व्यापार के कारण

(ब) साधारणीकरण के कारण

(स) सामाजिकों की रसानुभूति के कारण

(द) इनमें से कोई नहीं ( )

II. लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. लोक में रस किन–किन अर्थो में प्रयुक्त हुआ है? समीक्षा कीजिए।
2. विभाव क्या है? टिप्पणी लिखिए?
3. शंकुक के अनुमितिवाद की समीक्षा कीजिये।
4. रस की अलौकिकता पर टिप्पणी लिखिये।
5. साधारणीकरण के सिद्धान्त पर टिप्पणी लिखिये?

III. निबन्धात्मक प्रश्न

1. भरत की रस दृष्टि पर एक लेख लिखिए?

11.7 शब्दावली

1.	रस	–	आस्वाद
2.	सामाजिक	–	सहृदय, जो काव्यानन्द को अनुभूत कर सके।
3.	विभाव	–	इनके द्वारा स्थायी भावों का बोधन होता है अतः रस निष्पत्ति में कारण है। विभाव दो हैं आलम्बन एवं उद्दीपन।
4.	अनुभाव	–	विभावों के बाद उत्पन्न होते हैं। स्थायीभाव को कार्य रुप में बाहर प्रकाशित करता है।
5.	व्यभिचारिभाव	–	इसका दूसरा नाम संचारी भाव भी है। यह स्थायी भाव को पुष्ट करने वाले तथा विविध रुपों में संचरण करने वाले होते है।
6.	स्थायीभाव	–	मन में स्थित प्रसुप्त संस्कार जो अनुकूल सामग्री को पाकर उद्दीप्त हो जाता है।
7.	संयोग	–	रस–सूत्र में संयोग का अर्थ सम्बंध है, उत्पाद्य–उत्पादक भाव सम्बन्ध,

अनुमाप्य–अनुमापक भाव सम्बन्ध, भोज्य–भोजक भावसम्बन्ध, व्यंग्य–व्यञ्जक भाव सम्बन्ध।

8. निष्पत्ति – उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति तथा अभिव्यक्ति।

9. साधारणीकरण – सहृदय का नायक के साथ तादात्म्य सम्बंध साधरणीकरण कहलाता है। दर्शक को राम सीता विषयक रति स्वयं की प्रतीत होने लगती है।

10. कार्य – कारण से उत्पन्न घट पटादि कार्य कहलाते है तथा अपने निमित्त कारण कुम्हारादि के मरने पर भी जीवित रहते है।

11. ज्ञाप्य – घट है, परन्तु अंधकार के कारण दिखाई नहीं देता। प्रकाश होते ही वस्तु का दिखाई देना ज्ञाप्य है।

11.8 उपयोगी पुस्तकें

1. नाट्यशास्त्र – प्रो. बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

2. काव्यप्रकाश – आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

3. साहित्यदर्पण – डॉ. निरुपण विद्यालंकार, साहित्य भंडार, मेरठ

4. दशरुपक – साहित्य भंडार, मेरठ 1992

5. संस्कृत काव्य शास्त्र और काव्यपरम्परा – राधावल्लभ त्रिपाठी प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली

6. रस गंगाधर – पण्डितराज जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

I. वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. स 2. द 3. ब 4. स

II. लघुत्तरात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. देखिये 11.2 2. देखिये 11.3.2 3. देखिये 11.4.2
4. देखिये 11.5 5. देखिये 11.4.3.1

III. निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी स्वयं खोजें।

इकाई - 12

राजशेखर रचित काव्यमीमांसा : प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 प्रथम अध्याय - शास्त्रसङ्ग्रह

12.2.1 कवि रहस्य

12.2.2 काव्यमीमांसा के अठारह अधिकरण

12.3 द्वितीय अध्याय - शास्त्रनिर्देश

12.3.1 वाङ्मय के प्रकार

12.3.2 विद्यास्थान

12.4 तृतीय अध्याय - काव्यपुरूषोत्पत्ति

12.4.1 काव्यपुरुष का उद्भव एवं विकास

12.4.2 वृत्तियों एवं रीतियों की संख्या का सिद्धान्त

12.5 चतुर्थ अध्याय - शिष्य और प्रतिभा

12.5.1 शिष्य प्रतिभा

12.5.2 कारयित्री प्रतिभा

12.5.3 भावयित्री प्रतिभा

12.6 पञ्चम अध्याय - व्युत्पत्तिकविपाका

12.6.1 व्युत्पत्ति

12.6.2 कवित्रय

12.6.3 शब्दपाक और वाक्यपाक

12.7 छठा अध्याय - पदवाक्यविवेक

12.7.1 पद की व्याख्या

12.7.2 वाक्य की व्याख्या

12.8. सप्तम अध्याय - वाक्य विधय, काकुप्रकारा, पाठप्रतिष्ठा

12.8.1 वाक्य की विधियाँ

12.8.2 वाक्य-काकु प्रकार

12.8.3 पाठ-प्रणाली

12.9 अष्टम अध्याय - वाक्यार्थ योनियाँ

12.9.1 काव्य के स्रोत

12.10 नवम अध्याय - अर्थानुशासन

12.10.1 अर्थ के प्रकार

12.10.2 काव्य-वस्तु विवेचन

12.11 दशम अध्याय - कविचर्या और राजचर्या

12.11.1 कवियों का आचार (कविचर्या)

12.11.2 राजचर्या

12.12 ग्यारहवाँ अध्याय - शब्दार्थहरणोपाय

12.12.1 शब्दहरण

12.12.2 बारहवाँ अध्याय अर्थहरणोपाया

12.14 तेरहवाँ अध्याय - अर्थ हरण और उसके भेद

12.14.1 अर्थ-हरण के भेद (आलेख्य एवं प्रख्य)

12.15 चौदहवाँ अध्याय - कविसमय

12.15.1 कवि समय - विवेचन एवं प्रकार

12.16 पन्द्रहवाँ अध्याय - गुणसमय स्थापना

12.16.1 गुणगत कविसमय

12.17 सोलहवाँ अध्याय - कविरहस्य

12.17.1 स्वर्गीय तथा पातालीय कवि समय

12.18 सत्रहवाँ अध्याय - देशकालविभाग

12.18.1 कविगम्य देशकालविभाग

12.19 अठारहवाँ अध्याय - भुवनकोष

12.19.1 काव्यरचना हेतु कालविभाग

12.20 सारांश

12.21 पारिभाषिक शब्दावली

12.22 बोध प्रश्न

12.22.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

12.22.2 लघूत्तरात्मक प्रश्न

12.22.3 निबन्धात्मक प्रश्न

12.23 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.24 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.24.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

12.24.2 लघूत्तरात्मक प्रश्नों के उत्तर

12.24.3 निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

आप एम.फिल. पाठ्यक्रम के द्वितीय प्रश्न-पत्र की प्रथम इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई में आप जान सकेंगे कि काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त कौन-कौन से हैं। राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा में प्रमुख काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को किस तरह प्रस्तुत किया है तथा कौन-कौन से परिवर्तन उन्होंने अपने

सिद्धान्तों में किये हैं? काव्यमीमांसा के शास्त्रचर्या, काव्यपुरुष, अर्थानुशासन, काकु-प्रकार, शब्दार्थहरण आदि अठारह प्रमुख अध्यायों के मूल सिद्धान्तों को आप इस पाठ के माध्यम से समझ सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

भगवान् शङ्कर द्वारा जब काव्य का ज्ञान ब्रह्मा, विष्णु आदि को दिया गया तदनन्तर उन्होंने अपने मानसपुत्रों को वह ज्ञान प्रसरित किया फिर मानसपुत्र काव्यपुरुष ने इसे विस्तृत रूप में प्रदान किया। विभिन्न ऋषियों ने इसे विशाल ग्रन्थों के रूप में प्रस्तुत किया एवं यायावरीय आचार्य राजशेखर ने लघुरूप में काव्यमीमांसा के रूप में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया। इस अध्याय में हम काव्यशास्त्रीय प्रमुख सिद्धान्तों के बारे में जानेंगे। काव्यविद्या का प्रणयन यायावरीय आचार्य राजशेखर ने किस प्रकार किया है, इसे जानेंगे।

राजशेखर का काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ मूलतः कविशिक्षा का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में राजशेखर अभिकृत काव्य की अवधारणा के साथ आप काव्य विषयक तत्त्वों की व्यापकता से परिचित हो सकेंगे। पूर्व पाठों में आपने काव्य, शब्द, अर्थ, शब्दशक्तियों, ध्वनि वक्रोक्ति आदि के बारे में जाना था। काव्य मीमांसा में इन विषयों के अतिरिक्त अन्य काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की चर्चा हुई है। जैसे- काव्य-पुरुष, कवि-समीक्षक, काव्यपाक आदि। आप इस पाठ में इन सबसे परिचित हो सकेंगे।

12.2 प्रथम अध्याय – शास्त्रसङ्ग्रह

12.2.1 कवि रहस्य –

राजशेखर के अनुसार काव्यविद्या के प्रथम उपदेष्टा भगवान् शिव हैं। उन्होंने इस विद्या का उपदेश ब्रह्मा, विष्णु आदि चौंसठ शिष्यों को दिया। बाद में स्वयंभू ब्रह्मा ने अपने मानसपुत्र मरीचि आदि को शिष्य-रूप में काव्य-शास्त्र का उपदेश दिया। ब्रह्मा ने अपने उन शिष्यों में से काव्यपुरुष (भूत, भविष्य एवं वर्तमान को साक्षात् करने वाला काव्यपुरुष) को भूः, भुवः, स्वः लोक में निवास करने वाली काव्यविद्या के उपदेश हेतु नियुक्त किया। फिर काव्यपुरुष ने इस विद्या को आगे प्रसरित किया।

इस उपेदश से प्रेरित होकर विभिन्न ऋषियों एवं आचार्यों ने अपने अपने शास्त्रों की रचना की। यथा –

1. इन्द्र	–	कविरहस्य
2. सुवर्णनाभ	–	रीतिनिर्णय
3. यम	–	यमक पर ग्रन्थ
4. पाराशर	–	अतिशयोक्ति
5. पुलस्त्य	–	स्वभावोक्ति
6. उतथ्य	–	अर्थश्लेष
7. कामदेव	–	हास्य व विनोद
8. नन्दिकेश्वर	–	रस
9. उपमन्यु	–	गुण प्रतिपादन
10. उक्तिगर्भ	–	औक्तिक
11. प्रचेता	–	अनुप्रासभाग
12. चित्राङ्गद	–	उपमा
13. शेष	–	शब्दश्लेष

14. औपकायन – उपमा

15. कुबेर – उभयालङ्कारों पर

16. भरत – नाट्यशास्त्र

17. धिषण – दोषविवेचन

18. कुचुमार – औपनिषदिक काव्यांश

इस प्रकार इन अठारह विषयों पर विशालकाय अठारह ग्रन्थ विपुल होने के कारण सामान्यजन की पहुँच से परे हो गए। इसी विशाल ग्रन्थराशि को सूत्रबद्धरूप में अठ्ठारह अधिकरणों में अतिसंक्षेप में लघुग्रन्थ के रूप में सामान्यजन सुबोधगम्य बनाने का राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा में श्लाघनीय प्रयास किया है।

12.2.2 काव्यमीमांसा के अठारह अधिकरण

काव्यमीमांसा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ अतिविशाल था किन्तु अब तक इसके 18 से अधिकरण ही प्राप्त हुए है। जो निम्न है-

1. शास्त्रसंग्रह 2. शास्त्रनिर्देश 3. काव्यपुरुषोत्पत्ति 4. शिष्यप्रतिभा 5. व्युत्पत्तिकविपाक 6. पदवाक्यविवेक 7. वाक्यविधि 8. काकुप्रकार 9. पाठप्रतिष्ठा 10. वाक्यार्थयोनि 11. अर्थानुशासन 12. कविचर्या 13. राजचर्या 14. शब्दार्थ हरणोपाय 15. कविविशेष 16. कवि समय 17. देशकाल विभाग 18. भुवनकोष।

प्रथम अध्याय में राजशेखर ने इन प्रकरणों की चर्चा सूत्ररूप में की है। काव्यमीमांसा के अष्टादश अध्यायों में इन्ही विषयों पर विस्तृत चर्चा की गई है।

12.3 द्वितीय अध्याय - शास्त्रनिर्देश

12.3.1 वाङ्मय के प्रकार

इति सूत्राण्यथैतेषां व्याख्याभाष्यं भविष्यति।
समासव्यासविन्यासः सैष शिष्यहिताय नः।।

शास्त्र के बारे में बताने के लिये राजशेखर कहते हैं कि वाङ्मय दो प्रकार का है। 1. काव्य और 2. शास्त्र। शास्त्र का ज्ञान होने के बाद यदि काव्य में प्रवेश किया जाए तो काव्य का अधिगम जल्दी होता है। जैसे कोई व्यक्ति अन्धेरे कमरे में बिना प्रकाश के वस्तुओं का नहीं देख पाता है वैसे ही शास्त्र में निपुण हुए बिना काव्यसम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

न ह्यप्रवर्तित प्रदीपास्तमसि तत्त्वार्थसार्थमध्यक्षयन्ति।

12.3.2 विद्यास्थान-

शास्त्र को दो प्रकार का कहा है-

1. अपौरुषेय 2. पौरुषेय।

1. **अपौरुषेय**- राजशेखर इसमें चारों वेद, चारों उपवेद, नाट्यशास्त्र (पञ्चमवेद), ब्राह्मणात्मक वेद, वेदाङ्ग (षड़), अलङ्कार (सप्तमवेदाङ्ग) आदि को सम्मिलित करते हैं।

2. **पौरुषेय**- पौरुषेय शास्त्रों में राजशेखर पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा तथा स्मृतियों का परिगणन करते हैं। इन पौरूषेय एवं अपौरूषेय शास्त्रों को मिलाकर चतुर्दशविद्याऐं कही गई हैं। चारों वेद, छः वेदाङ्ग, पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा एवं स्मृति। राजशेखर काव्यविद्या को पन्द्रहवीं विद्या मानते हैं।

कदाचित् उशना, बृहस्पति, मनु, कौटिल्य प्रभृति अन्य आचार्य उपरोक्त चौदह विद्याओं के

अतिरिक्त वार्ता, दण्डनीति, कामसूत्र एवं शिल्पशास्त्र को जोड़कर अठ्ठारह विद्यास्थान मानते हैं। किन्तु राजशेखर का कहना है कि इन चार विद्याओं के अतिरिक्त पांचवी साहित्य-विद्या है क्योंकि साहित्यविद्या उन चारों आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति का सारतत्व है।

''पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निस्यन्दः।''

राजशेखर ने शास्त्र के 8 भेद बताऐ हैं।

शास्त्रों के भेद-

1. वृत्ति- सूत्रों के सारतत्त्व का प्रकाशन करने वाली व्याख्या।
2. पद्धति- वृत्ति पर किया गया विवेचन।
3. भाष्य- शङ्का उठाना एवं उसके खण्डनपूर्वक स्वमत स्थापना।
4. समीक्षा- भाष्यगत कठिन विषयों का विभागपूर्वक विवेचन।
5. टीका- विषय का सरलतम अर्थों में प्रतिपादन।
6. पञ्जिका- जो विषमपदों को तोड़कर अलग कर दे।
7. कारिका- किसी विषय का सरलतम रूप प्रस्तुत करना।
8. वार्तिक- अप्रतिपादित या ठीक से न प्रतिपादित का प्रतिपादन करना।

12.4 तृतीय अध्यायः काव्यपुरुषोत्पत्ति

12.4.1 काव्यपुरुष का उद्भव एवं विकास-

काव्यपुरुष राजशेखर की अपनी अवधारणा है। प्राचीन काल में देवी सरस्वती ने पुत्रप्राप्ति की इच्छा से तपस्या की। सरस्वती की तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उसे पुत्र प्राप्ति का वरदान दिया। तब देवी सरस्वती ने काव्यपुरुष को जन्म दिया। जन्म लेते ही उस काव्यपुरुष ने छन्दोबद्ध वाणी में सरस्वती की वन्दना की। राजशेखर ने इस काव्यपुरुष द्वारा उच्चरित छन्दोमयी वाणी को ही लौकिक संस्कृत साहित्य का प्रथम काव्य माना।

यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते।

सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ।।

काव्यपुरुष का शरीर – पहले छन्दोबद्ध वाणी वेद में ही पाई जाती थी। अतः अपने पुत्र के मुख से मात्र दृष्टसूत्रों वाली संस्कृतभाषा का प्रयोग सुनकर सरस्वती अतीव प्रसन्न हुई। गद्यविधा तो लोक में प्रचलित थी किन्तु पद्यबद्ध रचना सुनकर सरस्वती ने अपने आपको अपने पुत्र से परास्त सा महसूस किया और इस पराजय से द्वितीय पुत्र प्राप्ति के समान सुख का अनुभव किया। अपने पुत्र पर प्रसन्न होकर सरस्वती काव्यपुरुष के शरीरावयवों को काव्यशास्त्रीय तत्व के रूप में विभाजित करते हुए बोली।

''शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं ते वचो, रसः आत्मा, रोमाणि छन्दांसि प्रश्नोत्तरप्रवहिलकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति।''

''शब्द और अर्थ तुम्हारे शरीर हैं, संस्कृत तुम्हारा मुख है, प्राकृत तुम्हारी भुजा है, अपभ्रंश भाषा जघन प्रदेश है, पैशाची भाषा दोनों पैर है तथा मिश्र भाषाऐं तुम्हारी छाती हैं। समता, प्रसन्नता, माधुर्य, औदार्य तेज तुम्हारे गुण हैं। तुम्हारी वाणी वक्रोक्तियुक्त है, रस तुम्हारी आत्मा है, छन्द तुम्हारे रोम हैं, प्रश्नोत्तर व प्रहेलिका तुम्हारे विनोद हैं, अनुप्रास, उपमादि तुम्हारे आभूषण हैं।'' इस प्रकार

काव्यपुरुष के अङ्गप्रत्यङ्ग का वर्णन वाग्देवी सरस्वती ने किया।

काव्यपुरुष का स्वरूप- काव्यमीमांसाकार ने काव्य को वेदों या वैदिकपरम्परा से जोड़ने का स्तुत्य कर्म किया है। काव्यपुरुष का स्वरूप वार्णित करते हुए उन्होंने ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र प्रस्तुत किया है।

चत्वारि श्रृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यानाविवेश।।

चत्वारि श्रृङ्गा- चार सींग (वृत्तियाँ)- श्रुति, सायणभाष्य, निरूक्त, महाभाष्य।

त्रयो पादाः - तीन पैर- अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना नामक शब्द शक्तियाँ

द्वे शीर्षे- दो सिर- प्रकृति प्रत्यय

सप्त हस्ताः - सात हाथ- नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, कर्मप्रवचनीय, गति एवं अव्यय।

त्रिधा बद्धः - तीन प्रकार से बंधा हुआ -गद्य,पद्य एवं चम्पुरूप में।

इस प्रकार राजशेखर ने इस ऋग्वेद (4.58.3) मन्त्र को काव्यपरक दृष्टि से व्याख्यायित किया है।

शुक्राचार्य एवं वाल्मीकि को कवित्व-शक्ति- अपने पुत्र की प्रशंसा करने के बाद सरस्वती ने काव्यपुरुष को एक सघन वृक्ष की छाया में लिटाया एवं स्नान के लिये चली गई। उसी समय मुनि शुक्राचार्य कुश व समिधाऐं लेने उधर से निकले। लघु बालक को असहाय पाकर वे उसे अपने आश्रम ले आए। उनके आचरण से सन्तुष्ट हो काव्यपुरुष ने शुक्राचार्य के हृदय में छन्दोमयी वाणी का सञ्चार किया। इधर पार्वती स्नान से लौटी एवं अपने पुत्र को न पाकर विचलित होकर विलाप करने लगी। संयोगवश वहाँ से गुजरते हुए महर्षि वाल्मीकि ने सम्पूर्ण वृतान्त सरस्वती को बता दिया व शुक्राचार्य के आश्रम का मार्ग भी बताया। शुक्राचार्य के आश्रम जाकर अपने पुत्र को पाकर सरस्वती ने प्रसन्न होकर वाल्मीकि को भी छन्दोमयी वाणी का आशीर्वाद दिया। तब उन्होंने मा निषाद.....। श्लोक की रचना की। सरस्वती ने वरदान दिया कि जो कोई भी व्यक्ति अन्य किसी शास्त्र का अध्ययन न कर इस श्लोक का ही अध्ययन करेगा वह सारस्वत कवि बन जाएगा। इसी श्लोक को साधकर वाल्मीकि ने रामायण एवं द्वैपायन व्यास ने महाभारत की रचना की।

काव्यसाहित्यविद्यावधू की उत्पत्ति- एक बार पार्वती द्वारा काव्यपुरुष को ब्रह्मलोक गमन से रोका गया तब काव्यपुरुष क्रोधित होकर अपने स्थान से जाने लगा। उसे जाते देखकर कार्तिकेय रोने लगा। पार्वती ने कार्तिकेय को चुप कराने के लिये उसे रोकने का प्रयास किया। काव्यपुरुष के न रुकने पर पार्वती ने सोचा कि मैं इसे रोकने हेतु किसी स्त्री की रचना करती हूँ। ऐसा विचार कर पार्वती ने साहित्यविद्यावधू को उत्पन्न किया और उसे आदेश दिया कि ये तुम्हारा धर्मपति रुष्ट होकर जा रहा है उसे मनाकर लाओ।

12.4.2 वृत्तियों एवं रीतियों की संख्या का सिद्धान्त-

साहित्यविद्या-वधू जब काव्यपुरुष को मनाने लगी तब उसने अनेकविध रीतियों व वृत्तियों को लोक में प्रसिद्धि दिलवाई।

यहाँ आचार्यो की शुङ्का है कि 'राजशेखर के मतानुसार' वृत्तियाँ तथा रीतियाँ चार ही है तो फिर अनन्त देशों का पूर्णतः समाहार उनमें कैसे होगा? यहाँ समाधान प्रस्तुत करते हुए राजशेखर कहते हैं कि यद्यपि देशों की संख्या अनगिनत है फिर भी कार्य की सिद्धि के लिये उनका चार प्रकार से ही कवि लोग व्यवहार करते हैं। इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये राजशेखर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं-

'चक्रवर्तिक्षेत्र सामान्येन तदवान्तरविशेषैः पुनरनन्ता एव'

जिस प्रकार यह सम्पूर्ण भारत देश सामान्यतः चक्रवर्ती क्षेत्र के नाम से जाना जाता है परन्तु इसके अवान्तर भेदों की संख्या बहुत होने की वजह से यही अनन्त भी माना जाता है। वैसे ही वृत्तियाँ और रीतियाँ भी चार ही हैं।

कविलोकरूपी स्वर्ग-लोक की स्थापना- विदर्भ देश में कामदेव का क्रीडा स्थल वत्सुगु नामक नगर है। वहाँ पर सारस्वतेय काव्यपुरुष ने उस पार्वती पुत्री साहित्यविद्यावधू औमेरी के साथ गन्धर्व-विवाह किया। इस प्रकार काव्यपुरुष तथा साहित्यविद्यावधु के लिये कविलोकरूपी नवीन स्वर्गलोक की सृष्टि की गई। इस स्वर्गलोक में कविजन मर्त्यलोक में काव्यशरीर से और मर कर दिव्य शरीर से निवास करते हुए कल्पान्त तक आनन्दविभोर होते हैं।

12.5 चतुर्थ अध्याय - शिष्य और प्रतिभा

12.5.1 शिष्य प्रतिभा - शिष्य तीन प्रकार के होते हैं-

1. बुद्धिमान - जिसकी बुद्धि स्वभावतः शास्त्र का गमन करती है।

2. आहार्य बुद्धि - जिसकी बुद्धि शास्त्रों के अभ्यास से परिष्कृत होती है।

3. दुर्बुद्धि शिष्य– जिन्हें गुरु द्वारा समझाने पर भी समझ ना आए।

ये बुद्धि तीन प्रकार की होती है–

1. स्मृति2. मति 3. प्रज्ञा।

1. स्मृति - पहले ग्रहण किये अर्थ का स्मरण कराने वाली बुद्धि स्मृति कहलाती है।

2. मति - वर्तमान का मनन कराने वाली बुद्धि मति कहलाती है।

3. प्रज्ञा - भावी विषयों की कल्पना में समर्थ बुद्धि प्रज्ञा कहलाती है।

जो शब्दालङ्कार आदि को हृदय में हृदयङ्गम कराए वही प्रतिभा है। प्रतिभावान् कवि लोग देशान्तर, द्वीपान्तर आदि के भी व्यवहारों का वर्णन करते हैं। प्रतिभा के राजशेखर ने दो भेद बताए हैं।

1. कारयित्री 2. भावयित्री

12.5.2 कारयित्री प्रतिभा त्रिविधा होती है।

कारयित्री प्रतिभा	तात्पर्य	प्रतिभायुक्त कवि
सहजा	जन्मान्तर संस्कारोत्पन्न	सारस्वत
आहार्या	इस जन्म के सस्कारों से उत्पन्न	आभ्यासिक
औपदेशिकी	मन्त्र-तन्त्र व उपदेश से उत्पन्न	औपदेशिक

राजशेखर के अनुसार अधिक से अधिक जितना गुण प्राप्त कर लिया जाय उतना ही अच्छा है। कवियों की क्रमिक श्रेणी भी गुणानुसार होती है।

12.5.3 भावयित्री प्रतिभा-

भावयित्री प्रतिभा काव्य के गुण-दोषों का विवेचन करती है। कुछ लोग दोनों प्रतिभाओं को एक ही मानते है किन्तु राजशेखर समालोचक को कवि से भिन्न मानते हैं। वे कहते हैं कि सोने उत्पन्न करने वाला पत्थर, उसकी परीक्षा करने वाले कसौटी-पत्थर से भिन्न होता है। यद्यपि दोनों पत्थर ही है। काव्य रचना में राजशेखर समालोचक एवं कवि-संयोग से रचित काव्य को ही श्रेष्ठ कहते हैं। उनका कहना है कि वास्तव में वह ही काव्य है जो आलोचकों के हृदय पटल पर अङ्कित

हो। जो कवि अपनी और पराई कविता के पदों के तारतम्य को भली-भाँति समझता है वही आदरणीय है।

यदान्तरं वेत्ति सुधीः स्ववाक्यपरी वाक्यः।
तदा स सिद्धो मन्तव्यः कुकविः कविरेव वा।।

12.6 पञ्चम अध्याय - व्युत्पत्तिकविपाका

12.6.1 व्युत्पत्ति -

व्युत्पत्ति को राजशेखर काव्य की जननी मानते हैं। अनेक आचार्य बहुज्ञता को ही व्युत्पत्ति कहते हैं क्योंकि कवि की वाणी समस्त दिशाओं में व्याप्त है। किन्तु राजशेखर के अनुसार 'उचित एवं अनुचित का विवेक' ही व्युत्पत्ति है।

''उचितानुचित विवेका व्युत्पत्तिः इति यायावरीयः।''

आचार्य आनन्दवर्धन प्रतिभा और व्युत्पत्ति में से प्रतिभा की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि व्युत्पत्ति के अभाव में हुए दोष को शक्ति या प्रतिभा आवृत्त कर लेती है किन्तु अप्रतिभाशाली कवि द्वारा किया गया दोष तुरन्त अवभासित हो जाता है।

आचार्य मंगल का मत है- प्रतिभा और व्युत्पत्ति में व्युत्पत्ति श्रेयस्कर है क्योंकि वह कवि के अशक्तिजन्य दोष को आच्छादित करती है।

आचार्य राजशेखर के अनुसार प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों से युक्त कवि ही वस्तुतः कवि कहलाता है। राजशेखर कहते हैं -

'न खलु लावण्यादृते रूपसम्पदृते रूपसम्पदो वा।
लावण्यलब्धिर्महते सौन्दर्याय।'

अर्थात् जैसे लावण्य के बिना रूपसम्पति तथा रूपसम्पत्ति के बिना लावण्य शोभाकारी नहीं होते, वैसे ही काव्य में प्रतिभा और व्युत्पत्ति भी युगल हैं। ये दोनों भी एक-दूसरे के बिना शोभाकारी नहीं होते।

12.6.2 कवित्रय - कवि के प्रकार

प्रतिभा और व्युत्पत्ति से युक्त कवि ही कवि कहा जाता है। राजशेखर के अनुसार वह तीन प्रकार का होता है।

1. शास्त्रकवि 2. काव्यकवि 3. उभयकवि।

राजशेखर के मत में अपने-अपने विषय में तीनों ही श्रेष्ठ हैं।

1. **शास्त्रकवि**- जो काव्य में रस सम्पत्ति का विच्छेद कर देता है।
2. **काव्यकवि**- जो शास्त्रीय तर्क-कर्कशता को भी मनोरम एंव सुगम्य तरीके से शिथिल कर देता है।
3. **उभयकवि**- जिसमें शास्त्रकवि एवं काव्यकवि दोनों के गुण समान रूप से विद्यमान होते हैं।

राजशेखर के अनुसार उभयकवि दोनों से श्रेष्ठ है क्योंकि वह दोनों विषय में प्रवीण होता है इसलिये शास्त्रकवि ओर काव्यकवि दोनों समान प्रभाव वाले हैं। आचार्य राजशेखर शास्त्रकवि और काव्य कवि में उपकार्य-उपकारक भाव मानते हैं। इन दोनों के भी अवान्तर भेद प्रस्तुत किये हैं-

कवि

शास्त्र कवि		**काव्य कवि**	
1.	शास्त्रनिर्माता	1.	रचना कवि
2.	शास्त्र में काव्य निवेष्टा	2.	शब्द कवि
3.	काव्य में शास्त्र निवेष्टा	3.	अर्थ कवि
		4.	अलङ्कार कवि
		5.	उक्ति कवि
		6.	रस कवि
		7.	मार्ग कवि
		8.	शास्त्रार्थ कवि

उपर्युक्त गुणों में से दो-तीन गुणयुक्त कवि कनिष्ठ, पाँच छः गुणयुक्त मध्यम एवं समस्त गुणों से युक्त कवि उत्तम कोटि का या महाकवि होता है।

12.6.3 शब्दपाक और वाक्यपाक-

सतत अभ्यास से कवि के वाक्य में पाक आता है। आचार्य राजशेखर कहते हैं कि जहाँ शब्दों के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है वहाँ शब्दपाक है। जहाँ रस,गुण,अलङ्कार का सुन्दर क्रम है वहाँ वाक्यपाक है। यह पाक नौ प्रकार का कहा गया है।

1. पिचुमन्दपाक - (नीमपाक) जो काव्य आदि व अन्त दोनों में अस्वादु हो।
2. बदरपाक - जो आदि में अस्वादु, अन्त में मध्यम कोटि का हो।
3. मृद्विपाक - जो आदि में अस्वादु व अन्त में स्वादु हो।
4. वार्ताकपाक - पहले मध्यम व अन्त में अस्वादु हो।
5. तिन्तिडी पाक - आदि व अन्त में मध्यम हो।
6. सहकार पाक - आदि में मध्य व अन्त में स्वादु हो।
7. क्रमुकपाक - आदि में उत्तम व अन्त में अस्वादु हो।
8. त्रपुसपाक - आदि में उत्तम व अन्त में मध्यम हो।
9. नारिकेर पाक - आदि से अन्त तक स्वादु हो।

ये तीन-तीन के तीन वर्ग राजशेखर ने बताए हैं एंव इनमें से प्रथम तीन त्याज्य हैं। राजशेखर के अनुसार अकवि होना श्रेष्ठ है कुकवि होने से।

12.7 छठा अध्यायः पदवाक्यविवेक

12.7.1 पद की व्याख्या-

शब्द और अभिधेयार्थ का द्योतक पद है। शब्द वह है जो व्याकरण के द्वारा निर्णीत हो 'सुप्तिगन्तं पदम्' तथा उस शब्द का अभिधेय अर्थ वह होता है जिसे निरुक्त, निघण्टु आदि के द्वारा वह शब्द सूचित करता है। ये दोनों (शब्द और अभिधेयार्थ) मिलकर पद कहे जाते हैं अर्थात् अर्थवान् शब्द पद है।

पद की पाँच वृत्तियाँ- पद की पाँच वृत्तियाँ होती है। 1. सुब्वृत्ति 2. समासवृत्ति 3. तद्धितवृत्ति

4. कृद्वृति 5. तिङ् वृत्ति।

1. सुब्वृत्ति- ये वृत्ति जातिवाची, द्रव्यवाची, गुणवाची, क्रियावाची एवं अव्ययवाची भेद से पञ्चधा होती है। ये अन्य सभी की मूल है। सम्पूर्ण वाङ्मय की जननी है।
2. समासवृत्ति - संक्षिप्तिकरण और विस्तार ही समासवृत्ति है।
3. तद्धितवृत्ति - तद्धितवृत्ति प्रातिपदिकान्त होकर अनन्त है।
4. कृद्वृति - ये धातुविषयिका होती है । कृत् प्रत्यय धातुओं से निष्पन्न होते हैं। यथा कृ से कर्ता, हृ से हर्ता।
5. तिङ् वृत्ति - तिङन्त शब्द तिप् धातु तथा सुप् धातु के भेद से द्विधा होते हैं।

12.7.2 वाक्य की व्याख्या-

कथनीय अर्थ को प्रकट करने वाले पदों के संग्रथित समूह का नाम वाक्य है अर्थात् वक्ता जो कहना चाहता है उन्हें जिन शब्दों में पिरोता है वह वाक्य है। वाक्य दस प्रकार के होते हैं।

1. एकाख्यात - जिसमें एक ही क्रियापद हो।

यथा - विभिन्न विशेषण + जयति।

2. अनेकाख्यात - जिसमें अनेक क्रियापद हों। चाहे विभक्ति आदि पदों के व्यवधान से हो चाहे निरन्तर हो।
3. आवृत्ताख्यात - जिसमें क्रियापद की आवृत्ति बार-बार होती है।
4. एकाभिधेयाख्यात - एक ही क्रिया विभिन्न रूपों में प्रयुक्त हो।
5. परिणताख्यात - एक ही क्रिया का दूसरे कर्त्ता के साथ भी अन्वय होना।
6. अनुवृत्ताख्यात- (आख्यात) क्रिया का दो चरणों में आना (दो बार आना)
7. समुचिताख्यात - प्रस्तुत दो क्रियाओं में समन्वय हो।
8. अध्याहृताख्यात - जिसमें क्रिया को यथावत बाहर से लाकर अन्वय किया जाऐ।
9. कृदभिहृताख्यात - जिसमें तिङन्तके स्थान पर कृदन्त का प्रयोग हो।
10. अनपेक्षिताख्यात - अनपेक्षित होने पर जहाँ क्रिया का अभाव हो।

इस प्रकार राजशेखर ने वाक्य दशविध बताऐ हैं।

12.8. सप्तम अध्यायः वाक्य विधयः, काकुप्रकाराः, पाठप्रतिष्ठा

12.8.1 वाक्य की विधियाँ -

वाक्य को वचन नाम से भी जाना जाता है। निर्माता के भेद से वाक्य तीन प्रकार का होता है-

1. ब्राह्म 2. शैव 3. वैष्णव

इन तीनों वचनों के भी अवान्तर भेद राजशेखर ने दिये हैं।

ब्राह्म बचन	शैव	वैष्णव
1. स्वायंभुव	वैबुध	वैदर्भ
2. ऐश्वर्य	वैद्याधर	गौड
3. आर्ष	गान्धर्व	पाञ्चाल
4. आर्षीक	योनिगत	
5. अर्षिकपुत्र		

12.8.2 वाक्य-काकु प्रकार -

काकु का तात्पर्य है ध्वनिविकार अर्थात् एक ही वाक्य का विभिन्न ध्वनियों में बोला जाना। हर्ष,शोक आदि मानसिक परिस्थितियों का काकु से अभिव्यञ्जन होता है। रुद्रट ने काकु को शब्दालङ्कार माना किन्तु राजशेखर का मत है कि काकु अलङ्कार नहीं धर्म मात्र है।

काकु ध्वनि दो प्रकार की होती है-

1. साकांक्षा 2. निराकांक्षा

1. साकांक्षा काकु - जो काकु (अर्थस्पष्टता व आकांक्षा पूर्ति हेतु) वाक्यान्तर की अपेक्षा रखती है उसे साकांक्षा काकु कहते हैं।

2. निराकांक्षा काकु - जो काकु वाक्योच्चारण के अनन्तर हो उसे निराकांक्षा काकु कहते हैं। एक ही वाक्य, बोलने के तरीके से साकांक्ष और निराकांक्ष भेद से दो प्रकार का हो सकता है। इन दोनों काकु के भी अवान्तर भेद राजशेखर ने किये है।

काकु

साकांक्षा	**निराकांक्षा**
1. आक्षेपगर्भा	विधिरूपा
2. प्रश्नगर्भा	उत्तररूपा
3. वितर्कगर्भा	निर्णयरूपा

12.8.3 पाठ प्रणाली-

जिसका वाणी पर अधिकार हो वही काव्य का पाठ कर सकता है अन्यथा काव्य रचना तो कवि कर लेता है किन्तु पाठ में उसे काठिन्य अनुभूत होता था। आचार्य राजशेखर ने काव्यपाठ को काव्यरचना से भी दुष्कर बताया है।

पाठ प्रणाली बताते हुए आचार्य राजशेखर कहते हैं कि प्रसाद-गुण के प्रसङ्ग पर वाणी को गम्भीर बनाना चाहिये और उसके विरोधी गुण अर्थात् ओजस के योग में उच्च बनना चाहिये। भय के योग में आवश्यकतानुसार वाणी को ऊँचा-नीचा करना चाहिये। पाठ को प्रशस्त एवं निन्द्य के भेद से द्विधा कहा गया है।

1. **प्रशस्त पाठ** - सुन्दर, काकुयुक्त, उज्ज्वल, अर्थानुकूल विभक्त पाठ की कवि लोग प्रशंसा करते हैं।
2. **निन्द्य पाठ** - अत्यन्त शीघ्रता वाले, ऊँची आवाज वाले, देर से बोले जाने वाले, ध्वनिहीन, पदच्छेदरहित पाठ की कवि लोग निन्दा करते हैं।

उत्तम पाठ प्रणाली के गुण-

1. गम्भीरता - विषयानुकूल गम्भीरता हो।
2. ऊँचे-नीचे स्वर का निर्वाह- रसानुगुण स्वर का उच्चारण किया जाए।
3. संयुक्त वर्णों के पढ़ने में विशेष सुन्दरता - वक्ता संयुक्त वर्णों को पढ़ते समय यति, गति, लय, छन्दादि का ध्यान रखते हुए पढ़े।

12.9 अष्ठम अध्याय - वाक्यार्थ योनियाँ

12.9.1 काव्य के स्रोत -

काव्य के स्रोत के विषय में प्राचीन आचार्य भामह आदि आचार्यों के मत में वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण-विद्या (मीमांसा एवं षड्विधतर्क), राजसिद्धान्तत्रयी (अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र), लोकवृत्त, विरचना (महाकाव्यादि अन्य कवियों की रचनाऐं), प्रकीर्णक (कहे हुए अन्य अश्वविद्या, गजविद्या आदि) ये बारह काव्य में वर्ण्य अर्थों के कारण होते हैं। ये समस्त बारह स्त्रोत तो राजशेखर को ज्यों के त्यों स्वीकार्य हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त उचितसंयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्यसंयोग तथा संयोगविकार को मिलाकर राजशेखर ने इनकी संख्या सोलह मानी है।

1. **उचित संयोग** - काव्य में वर्णनीय पदार्थों में संयोग होना। यथा इन्दुमती स्वयंवर के अवसर पर पाण्ड्य राजा को हिमालय सदृश बताते हुए विस्तृत वर्णन।
2. **योक्तृ संयोग** - अर्थात् उत्तरोत्तर सम्बन्ध करवाने वाला संयोग। यथा-स्वर्ग ललनाओं का राजा की यात्रा से अन्यमनस्कता दिखाने का कारण धूल उड़ना, स्वर्ग-गंगा में गिरना, नहाते समय पङ्क लगना आदि विभिन्न कार्य परस्पर सम्बन्धित हैं।
3. **उत्पाद्यसंयोग** - जहाँ उपमान और उपमेय भाव सम्बन्ध सम्भावित होता (यथा-उपमा अलंकार) है।
4. **संयोग-विकार**- जहाँ दो वस्तुओं या विषयों के संयोग से विकार उत्पन्न होता है। श्वेत और लाल रंग मिलकर अर्धकुंकुम रंग के हो गए। अर्थात् न श्वेत न लाल।

12.10 नवम अध्याय - अर्थानुशासन

12.10.1 अर्थ के प्रकार - राजशेखर ने अर्थ सात प्रकार के बताए हैं-

1. **दिव्य अर्थ** - जो दिव्य पात्रों या कथाओं पर आर्धारित हो।
2. **दिव्य मानुष अर्थ** - जो अर्थ दिव्य अर्थ व सामान्य अर्थ दोनों को जोड़ता हुआ हो।
3. **मानुष अर्थ**- जो मृत्युलोक पर आधारित हो।
4. **पातालीय अर्थ** - जहाँ पाताललोकवासियों का वर्णन हो।
5. **मर्त्यपातालीय अर्थ** - जहाँ पातालीय लोकवासियों के साथ किसी मर्त्य विषय की चर्चा हो।
6. **दिव्य पातालीय अर्थ** - जहाँ ईश्वरादि दिव्य विषयों के साथ सर्पादि पातालीय विषयों की चर्चा हो।
7. **दिव्यमर्त्य पातालीय अर्थ** - जहाँ देवलोक, मृत्युलोक व पाताललोक तीनों लोकों का विषय सम्मिलित हो।

12.10.2 काव्य-वस्तु विवेचन -

राजशेखर का मत है कि काव्य में वचन ही सरसता या वैरस्य के उत्पादक होते हैं क्योंकि यह अनुभव किया जाता है। कभी-कभी अर्थ रस के अनुकूल या प्रतिकूल भी होते हैं अर्थात् यह कहा जा सकता है प्रतिभाशाली कवि तुच्छ अर्थ को भी सरस बना देता है। अपनी पत्नी अवन्ति सुन्दरी के मत को यहाँ राजशेखर ने उद्घृत किया है। वस्तु का एक निश्चित स्वभाव नहीं होता,

वस्तु का रूप तो चतुर कवि की प्रतिपादन शैली पर आधृत होता है।

12.11 दशम अध्याय - कविचर्या और राजचर्या

12.11.1 कवियों का आचार (कविचर्या)

इस अध्यायांश में यह बताया जा रहा है कि कवियों को किस प्रकार का आचारण करना चाहिये?

1. कवि काव्यविधाओं तथा उपविधाओं का भली भाँति अध्ययन कर काव्यक्रिया में प्रयत्नशील हो।
2. स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति की दृढ़ता और उत्साह ये आठ कवित्व की माताऐं हैं।
3. कवि सदा पवित्र रहें। वाणी, मन तथा शरीर का शौच। इस भेद से शौच तीन प्रकार का होता है।
4. पवित्र चरित्र एवं स्वभाव ही सरस्वती का वशीकरण है अतः कवि को प्रसन्नचित्त होना चाहिये।
5. कवि को अनुसन्धान बुद्धि वाला होना चाहिये।
6. कवि का घर साफ सुथरा होना चाहिये।
7. कवि को संस्कार युक्त रहना चाहिये।
8. कवि को अहंकारी नहीं होना चाहिये।
9. सायंकाल सन्ध्या और सरस्वती की उपासना करनी चाहिए।
10. कवि को यथावसर तटस्थ व नमनीय होना चाहिये।

12.11.2 राजचर्या -

राजा को किस प्रकार का होना चाहिये तथा काव्यविद्या के विस्तार के लिये एक राजा को कौन-कौन से प्रयत्न करने चाहिए? इस विषय पर हम यहाँ अध्ययन करेंगे।

1. राजा को कवि होना चाहिये तथा कवि समाज बनाना चाहिये।
2. काव्यपरीक्षा के लिये ब्रह्मसभा करनी चाहिये।
3. सभा-कक्ष यथानियम निर्मित होना चाहिये तथा उसके बीच चार स्तम्भों के मध्य हाथभर ऊँची मणियुक्त वेदिका होनी चाहिये। उस पर राजा का आसन होना चाहिये।
4. उस सभा में बैठने वाले समस्त विद्वानों के स्थान भी नियत होने चाहिये।
5. समस्त सभासद तुष्ट-पुष्ट हों और पारितोषिक पावें।
6. लोकोत्तर काव्य एवं कवि की पूजा की जानी चाहिये।
7. काव्यसभा के अतिरिक्ति राजा वैज्ञानिकों में भी समय बिताए।

जो राजा इस प्रकार सभाध्यक्ष बनकर काव्य की परीक्षा करता है उसका यश समस्त संसार में व्याप्त हो जाता है तथा वह सर्वत्र सुखी होता है।

12.12 ग्यारहवाँ अध्याय - शब्दार्थहरण के उपाय

12.12.1 शब्दहरण -

किसी अन्य के द्वारा प्रयोग किये गए शब्द तथा अर्थ का काव्य में प्रयोग ही शब्दार्थहरण कहा जाता है। यह शब्दहरण दो प्रकार का होता है। 1. परित्याज्य 2. ग्राह्य। शब्दहरण पाँच प्रकार

का होता है। 1. पद 2. पाद 3. अर्थ 4. वृत्त 5. प्रबन्ध। विभिन्न आचार्यों का मत है कि एक पद का हरण दोषकारक नहीं है पर यायावरीय राजशेखर का कथन है कि वह पद यदि अन्यत्र द्वयर्थी है तो दोष नहीं है अन्यथा दोष है।

राजशेखर का मत है कि प्राचीन कवियों की उक्तियाँ यदि अर्थान्तर में प्रयोग में लायी जाऐं तो पहचानी तो नहीं ही जाती, साथ ही साथ स्वादजनक भी होती हैं किन्तु उक्तियों का हरण तो सर्वथा अनुचित ही है।

12.12.2 बारहवाँ अध्याय - अर्थहरण के उपाय

कहा जाता है कि जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि। अतः कुछ आचार्यों का मत है कि काव्य मार्ग का प्राचीन कवियों ने सम्यक् अभ्यास किया है, उनसे अछूती वस्तु कठिनता से ही मिल सकती है अतः कवियों का कर्तव्य है कि वे अभ्यस्त वस्तु का ही संस्कार करें किन्तु वाक्पतिराज इसके विरोधी है वे कहते है कि वाग्देवी का स्त्रोत असीमित है। उसकी प्राप्ति के लिये दूसरे के प्रबन्ध का अध्यय करने से एक ही अर्थ पृथक्-पृथक् रूप से ख्यात होते हैं। इस पर राजशेखर का कहना है कि सारस्वत दृष्टि मन-वाणी से अगोचर ध्यान के द्वारा दृष्ट-अदृष्ट सभी पदार्थों का विभाग कर देती है।

न इति यायावरीयः। सारस्वतं चक्षुरवाङ्मनसंगोचरेण प्रणिधानेन दृष्टमदृष्टं चार्थजातं स्वयं विभजति।

सुप्तावस्था में भी सरस्वती देवी उसे शब्दार्थ का दर्शन करा देती है, किन्तु काव्यविहीन पुरुष के जागते रहने पर भी दृष्टि अन्धी रहती है। महाकवियों की वाणी तो विलक्षण अर्थों का सागर है किन्तु राजशेखर अर्थ को तीन प्रकार से विभाजित करते हैं।

अर्थ का विभाजन

अन्ययोनि	निह्नुतयोनि	अयोनि
प्रतिबिम्ब कल्प	तुल्यदेहि तुल्य	अयोनि
आलेख प्रख्य	पर-पुर-प्रवेश-सदृश	

1. **अन्ययोनि**- वह अर्थ जो दूसरे के द्वारा निकाला जाए।
2. **निह्नुतयोनि**- वह अर्थ जिसको उत्पत्ति का ज्ञान न हो। अकस्मात ही अथवा तात्पर्यार्थ से पाठक के मन में आया हो।
3. **अयोनि**- जिस अर्थ को कवि वास्तव में कहना चाहता हो।

12.14 तेरहवाँ अध्याय – अर्थ हरण और उसके भेद

12.14.1 अर्थ-हरण के भेद (आलेख्य एवं प्रख्य)

अर्थहरण के तीन भेदों में से द्वितीय अन्ययोनि का एक प्रकार है आलेख्यप्रख्ययोनि। आलेख्यप्रख्य आठ प्रकार का कहा गया है। 1. समक्रम 2. विभूषणमोष 3. व्युत्क्रम 4. विशेषोक्ति 5. उत्तंस 6. नट-नेपथ्य 7. एक-परिकार्य 8. प्रत्यापत्ति।

1. **समक्रम**- सदृशसञ्चार अर्थात् एक समान अर्थ का बोधन करवाना।
2. **विभूषणमोष**- अलंकारयुक्त अर्थ को अंनलङ्कृतरूप में उपन्यस्त करना विभूषण मोष कहलाता है।

3. **व्युत्क्रम**- किसी एक निश्चित क्रम में कहे गए अर्थ का उसके विपरीत क्रम से कथन व्युत्क्रम कहलाता है।

4. **विशेषोक्ति**- जहाँ सामान्य अर्थ का विशेष रूप से उल्लेख हो वहाँ विशेषोक्ति होती है।

5. **उत्तंस**- जहाँ गौण अर्थ को मुख्य रूप दिया जाए वह उत्तंस कहलाता है।

6. **नट-नेपथ्य**- जहाँ तक हो अर्थ कथन परीपाटी से अन्यथा अर्थात् भिन्न रूप में कर दिया जाए वह नट-नैपथ्य होता है।

7. **एक-परिकार्य**- अलंकार के रहने पर भी अलंकार्य में भेद होने पर एक परिकार्य नामक भेद होता है।

8. **प्रत्यापत्ति**- जहाँ विकृत अर्थ को स्वाभाविक स्थिति में प्राप्त करा दिया जाए वहाँ प्रत्यापत्ति नामक भेद होता है।

12.15 चौदहवां अध्याय – कविसमय

12.15.1 कविसमय – विवेचन एवं प्रकार

अशास्त्रीय, अलौकिक तथा केवल परम्परा में प्रचलित जिस अर्थ का कवि लोग वर्णन करते हैं वह कवि समय है। इस पर कुछ आचार्य कहते हैं कि अशास्त्रीय तथा अलौकिक अर्थ का उपनिबन्धन तो दोष है फिर वह काव्य में प्रयोग करने योग्य कैसे है? इसका उत्तर देते हुए राजशेखर कहते हैं।

प्राचीन काल में विद्वानों ने सहस्र शाखावाले वेदों का अङ्गों सहित अध्ययन कर शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर तथा देशान्तर-द्वीपान्तर परिभ्रमण कर जिन अर्थों को जानकर रचनाऐं की उन अर्थों का देश-काल के अन्तरवशात् भिन्न हो जाने पर उसी रूप में वर्णन करना कवि समय है। यह कविसमय शब्दमूल को न जानने वाले तथा केवल प्रयोग को देखने वालों के द्वारा प्रयुक्त हुआ और बाद में रूढ़ हो गया।

इसमें कोई अर्थ प्रारम्भ से ही कविसमय के रूप में प्रसिद्ध रहा और कुछ बाद में धूर्तों द्वारा परस्पर अपक्रमार्थवश (होड़ या प्रसिद्धि के लिये) गढ़ा गया। यह कविसमय तीन प्रकार का है। 1. स्वर्ग्य 2. भौम (पार्थिव) और 3. पातालीय।

स्वर्ग्य और पातालीय की अपेक्षा भौम प्रधान है। वह व्यापक विषय वाला है। वह 1. जाति, 2. गुण, 3. द्रव्य और 4. क्रियारूप अर्थवशात् चार प्रकार का है। इसमें प्रत्येक 1. असत् के उल्लेख, 2. सत् के अनुल्लेख तथा 3. नियम के द्वारा तीन प्रकार का है।

12.16 पन्द्रहवाँ अध्याय – गुणसमयस्थापना

12.16.1 गुणगत कविसमय

गुणों का वर्णन भी कवि समय है यथा यश, हास्य आदि की शुक्लता। अयस-पापादि की कृष्णता, क्रोध व अनुराग आदि की लालिमा। उदाहरण-

हास्य की शुक्लता का उदाहरण-

''अट्टहासच्छलेनास्याद्यस्य फेनौघपाण्डुराः।
जगत्क्षय इवापीताः क्षरन्ति क्षीरसागराः।।''

अर्थात् जिस शंकर जी के मुख से जगत् के प्रलय काल में विषपान किये हुये की तरह अट्टहास के बहाने फेन समूह के समान श्वेत क्षीर सागर बहते हैं। भाव यह है कि अट्टहास नहीं अपितु जगत् के विनाश के अवसर पर मानों पान किये क्षीरसागर हों।

सादृश्य का उदाहरण-

''प्रसरान्त कीर्त्तयस्ते तव च रिपूणामकीर्त्तयो युगपत्।
कुवलयदलसंवलिताः प्रतिदिनमिव मालतीमालाः।।''

अर्थात् नीलकमलों में मिली हुई मालती की माला की भाँति आपकी कीर्ति तथा आपके शत्रु की अपकीर्ति साथ ही साथ फैलती है। यहाँ अपकीर्ति का कुवलयदल से सादृश्य वर्णित है।

12.17 सोलहवाँ अध्याय – कविरहस्य

12.17.1 स्वर्गीय तथा पातालीय कवि समय

इस अध्याय में स्वर्ग्य तथा पातालीय कवि-समय का विवेचन है। भौम कवि-समय के समान ही स्वर्ग्य भी है, चन्द्रस्थ कलंक में शशक और हरिण का ऐक्य। इसी प्रकार कामदेव की ध्वजा में मकर ओर मत्स्य की एकता का भी वर्णन किया जाता है। चन्द्रोत्पत्ति का समुद्र या अत्रिनेत्र से वर्णन शिव के भालस्थ चन्द्र का सदैव बालत्व भी इसी कोटि में है। पातालीय कविसमय भी भौम तथा स्वर्ग्य के समान है। इसके उदाहरण हैं- भेद होते हुये भी नाग और सर्पों का ऐक्य-वर्णन, दैत्य-दानव तथा असुरों में एकत्व का प्रतिपादन आदि।

12.18 सत्रहवाँ अध्याय – देशकालविभाग

12.18.1 कविगम्य देशकालविभाग

यह भूगोल से सम्बद्ध अध्याय है। इसमें देश-विभाग का वर्णन है। कुछ लोगों की राय है कि जगत् एक ही है तो कुछ लोग कहते है कि द्यावा-पृथिवी-भेद से दो लोक हैं।

कुछ लोगों के अनुसार-स्वर्ग, भूमि और पाताल तीन लोक हैं। इन तीन लोकों का नाम कुछ लोग भूः, भुवः और स्वर्ग भी देते है। अन्य लोग इन तीनों लोकों में मह, जनः, तपस् और सत्य इन चार लोकों को मिलाकर सात लोक मानते हैं। ये ही सात लोक सात वायु-स्कन्धों के साथ मिलकर चौदह हो जाते हैं। इनमें सात पातालों को जोडकर इनकी संख्या इक्कीस होती है- ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं।

कुछ लोग तीन तथा कुछ लोग चार समुद्रों की स्थिति मानते हैं।

दिशाओं के विभाजन के सन्दर्भ में कवियों तथा शास्त्र की मान्यता– राजशेखर का कथन है कि मध्यदेशीय महोदय कान्कुब्ज को आधार मानकर दिशाओं का विभाग करना चाहिये। दिशाओं की संख्या कोई चार, कोई आठ, और कोई दश मानते हैं।

इसके अतिरिक्त किसी विशिष्ट सीमा के अन्तर्गत भी दिशाओं का विभाग हो सकता है।

देश के अनुकूल ही वर्ण रंग का भी वर्णन करना चाहिये। जैसे-पौरस्त्यों का श्याम, दाक्षिणात्यों का कृष्ण, उदीच्यों का गौर आदि। राजपुत्रियों का वर्ण सर्वत्र गौर ही होता है।

12.19 अट्ठारहवाँ अध्याय – भुवनकोष

12.19.1 काव्यरचना हेतु कालविभाग

इस अध्याय में काल का स्वरूप दर्शाया गया है। पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा, तीस काष्ठाओं की एक कला, तीस कलाओं का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्तों का एक रात-दिन अहोरात्र होता है। चैत्र के बाद तीन महीनों में प्रतिदिन दिन की वृद्धि और रात्रि की हानि होती है। इसके बाद रात्रि बढ़ती है और आश्विन में दोनों समान होते हैं। इसके बाद तीन मास तक रात्रि बढ़ती है और दिन घटता है। सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में जाना संक्रमण मास कहा जाता है। एक वर्ष में दो अयन होते हैं-वर्षा आदि तीन ऋतुएँ दक्षिणायन की हैं और शिशिरादि तीन उत्तरायण

की हैं। पन्द्रह दिनों का एक पक्ष होता है। जिसमें चन्द्रमा बढ़े वह शुक्लपक्ष तथा जिसमें क्षीण हो वह कृष्ण पक्ष है। यह पित्र्यमास मान है। इसके उल्टा चान्द्र मास होता है। अर्थात् पहले कृष्ण फिर शुल्क पक्ष इसमें होता है। दो महिने की एक ऋतु होती है। ज्योतिषियों के अनुसार चैत्र से वर्ष प्रारम्भ होता है और गृहस्थों के लिये श्रावण से। वर्षा ऋतु में पूर्वीय वायु, शरद् में अनिश्चित वायु, हेमन्त में पश्चिमी वायु, शिशिर में उत्तरीय या पश्चिमी और ग्रीष्म में अनिश्चित वायु बहती है। इसके अनन्तर किस ऋतु में कवि को किन-किन पदार्थों का उपन्यास करना चाहिये यह दर्शाया गया है।

12.20 सारांश

प्रस्तुत इकाई में हमने जाना कि काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का सर्वप्रथम लघुग्रन्थ रूप में व्यवस्थित कथन राजशेखर ने किया। वैसे श्रीकण्ठ के मुख से निकली वाणी परम्परा से काव्यपुरुष के पास आई व काव्यपुरुष ने विभिन्न काव्यशास्त्रीय विषयों एवं सिद्धान्तों को अति सरल तरीके से प्रस्तुत किया। वाङ्मय की विस्तृत जानकारी भी हमने प्राप्त की। इसके अतिरिक्त आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्डनीति के अलावा राजशेखर ने साहित्य को पञ्चम विद्या माना है।

एक विशिष्ट काव्यपुरुष की उत्पत्ति का सिद्धान्त राजशेखर की मौलिक एवं दिलचस्प रचना है जिसे हमने विस्तृत रूप में जाना। पदवाक्य विवेक काकु, शब्दार्थग्रहण आदि बहुत से महत्वपूर्ण बिन्दुओं की चर्चा हम इस इकाई में कर चुके हैं।

12.21 पारिभाषिक शब्दावली

काव्यपुरुष	–	ब्रह्मा का एक मानस पुत्र
व्युत्क्रम	–	ठीक विपरीत
यायावरीय	–	राजशेखर
द्वयर्थी	–	जिसके दो अर्थ हों
विलक्षण	–	अद्भुत

12.22 बोध प्रश्न

12.22.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राजशेखर के अनुसार काव्यविद्या के प्रमुख उपदेष्टा कौन हैं?

(अ) ब्रह्मा (ब) विष्णु

(स) शिव (द) तीनों

2. शिष्य के कितने भेद बताऐ हैं?

(अ) दो (ब) तीन

(स) एक (द) चार

12.22.2 लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. शक्ति और प्रतिभा में अन्तर बताइये?
2. काव्यपाक क्या है?
3. अर्थहरण सामान्यतया कितने प्रकार के होते है?
4. उभयकवि से क्या तात्पर्य है?

12.22.3 निबन्धात्मक प्रश्न

1. शास्त्रनिर्देश में राजशेखर ने किस प्रकार से वेदाङ्गो की गणना की है? तथा किस प्रकार से वाङ्मय को व्याख्यायित किया है?
2. काव्यमीमांसा के अनुसार काव्यपुरूष की उत्पत्ति को समझाइये?
3. शिष्यों के प्रकार बताइये?

12.23 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. काव्यमीमांसा, डॉ. गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
2. काव्यमीमांसा, व्याख्याकार-डॉ. रविकान्त मणि, हंसा प्रकाशन जयपुर
3. काव्यमीमांसा, व्याख्याकार-डॉ. रमाकान्त पाण्डेय, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय
5. आचार्य राजशेखर, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

12.24 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.24.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. स 2. अ

12.24.2 लघूत्तरात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. देखें 1.5.3 2. देखें 1.6.3
3. देखें 1.13.1 4. देखें 1.6.1

12.24.3 निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

विद्यार्थी स्वयं खोजें।

इकाई - 13

कुन्तक-रचित - वक्रोक्तिजीवितम्

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 वक्रोक्तिजीवितकार का परिचय

13.3 वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का सामान्य परिचय

13.4 कुन्तक के अनुसार काव्य प्रयोजन

13.5 कुन्तक के अनुसार काव्य लक्षण

13.6 वक्रोक्ति का स्वरूप

13.7 वक्रता के छः भेद

13.8 त्रिविध मार्ग

13.9 बोध प्रश्न

13.10 उपयोगी पुस्तकें

13.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान सकेंगे कि काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं तथा उनका शास्त्र में क्या स्थान है?

13.1 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति का अरुणोदय ऋग्वेद की आर्ष कविता से हुआ। कारयित्री प्रतिभा के धनी वाल्मीकि और व्यास की कविता तो विश्व की अनमोल धरोहर बन गई। वह काल और देश की सीमाओं से परे है। वह विश्व मानव की समग्र कविता हो गई है। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर कालिदास, भारवि, माघ, आदि कवि भी अमर हो गए। काव्य के मर्म को समझने, उसके सम्पूर्ण आनन्द को आत्मसात् करने के प्रमाण रहे भावयित्री प्रतिभा के धनी सहृदय आचार्यों ने कवि और सहृदयों को अपने-अपने उद्देश्य में सफल होने के लिए काव्यशास्त्र का प्रणयन किया। यह कार्य आचार्य भरत से भी पहले से प्रारम्भ हो चुका था। उनके शास्त्र काल के गाल में समा गए। बची हुई कारिकाओं और सूत्रों को भरत ने प्रमाण बनाया। काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य किसी एक आचार्य और किसी एक सम्प्रदाय से ज्ञात न हो सका। इसीलिए अनेक आचार्य और अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए। किसी ने काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य को समझने में अधिक प्रयास किया तो किसी ने बाह्य सौन्दर्य पर अपनी दृष्टि गड़ाई, किन्तु विलक्षण प्रतिभा के धनी कुछ आचार्यों ने दोनों के चमत्कार को पहचाना। इसी परम्परा में वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आचार्य कुन्तक हैं। इनके शब्दों में वैदग्ध्यभङ्गीभणिति ही वक्रोक्ति है।

13.2 वक्रोक्तिजीवितकार का परिचय

कुन्तक या कुन्तलक ने वक्रोक्तिजीवितम् नामक ग्रन्थ की रचना की है। डॉ. सुशील कुमार दे के अनुसार वक्रोक्तिकार के ये दोनों नाम पाण्डुलिपियों में उपलब्ध हैं किन्तु जैसलमेर से प्राप्त पाण्डुलिपि तथा अरुणाचलनाथ,

भट्टगोपाल आदि के उद्धरणों और परवर्ती रुय्यक, विद्याधर आदि की कृतियों में ग्रन्थकार का नाम कुन्तक ही पाया जाता है। इनका समय अन्य आलङ्कारिकों के समय की सहायता से निर्धारित किया जाता है। कुन्तक आनन्दवर्धन (850 ई.) के ग्रन्थ तथा सिद्धान्त से पूर्ण परिचित थे। उन्होंने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में (पृ. 196 पर) 'यस्मादत्र ध्वनिकारेण व्यङ्ग्य व्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितस्तत् किं पौनरुक्त्येन' लिखकर ध्वनिकार तथा (पृ. 156 पर) 'भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुमनेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते' लिखकर राजशेखर का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे आनन्दवर्धन और राजशेखर के बाद हुए हैं। आचार्य महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' के द्वितीय विमर्श की २९वीं कारिका के अन्तर्गत कुन्तक का इस प्रकार स्मरण किया है-

'काव्यकाञ्चनकशाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया।।'

क्योंकि ग्यारहवीं शताब्दी के राजशेखर का काल उनके शिष्य कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल तथा उनके पुत्र महिपाल के काल के आधार पर दशम शताब्दी का प्रारम्भिक भाग निर्धारित किया जाता है और महिमभट्ट का समय ग्यारहवीं शताब्दी में अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक ने महिमभट्ट के मत का उल्लेख किया है अतः कुन्तक का समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग मानना उचित होगा। राजशेखर, कुन्तक और महिमभट्ट ये सब थोड़े-थोड़े अन्तर से ही पूर्व-पश्चाद्वर्ती हैं, ये सभी दशम शताब्दी के ही काव्यशास्त्री महापुरुष हैं। अभिनवगुप्त के आविर्भाव का भी यही समय है। किन्तु न तो कुन्तक ने और न अभिनवगुप्त ने अपने-अपने ग्रन्थों में एक-दूसरे का नामोल्लेख किया है। परन्तु 'लोचन' एवं अभिनव भारती टीकाओं से प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त कुन्तक की वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारों से परिचित थे। लिङ्गवक्रता विवेचन के कतिपय अंशों का लोचन के 'तटी तारं ताम्यति' इत्यत्र तटशब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः स्त्रीति नामापि मधुरम्, इतिकृत्वा (लोचन पृ. 160) इत्यादि विवेचन पर तथा नाम, आख्यात, उपसर्ग आदि के विवेचन से अभिनव भारती के ''विभक्तयः सुप्तिङ्वचनानि, तैः कारकशक्तयो लिङ्गद्युपग्रह्यश्चोपलक्ष्यन्ते'' यथा 'पाण्डिम्नि भग्नं वपुः' इत्यादि कथनों पर अन्त में 'अन्यैरपि सुबादिवक्रता' उक्ति पर स्पष्टतः कुन्तक का प्रभाव मानकर उन्हें अभिनवगुप्त से अवस्था में कुछ ज्येष्ठ मानते हैं।

13.3 वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का सामान्य परिचय

कुन्तक की एकमात्र रचना 'वक्रोक्तिजीवितम्' है। इसमें चार उन्मेष हैं जिनमें दो उन्मेष तो पूर्ण रूप से उपलब्ध हुए हैं परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिले हैं। इस ग्रन्थ का सुन्दर संस्करण डॉ. सुशील कुमार दे, आचार्य विश्वेश्वर, राधेश्याम मिश्र, डॉ. के.कृष्णमूर्ति एवं डॉ. दशरथ द्विवेदी ने प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं - कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और वृत्ति कुन्तक की अपनी रचना है। उदाहरण संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध काव्यों से लिए हैं। प्रथम उन्मेष के प्रारम्भ में कुन्तक ने कारिका भाग के मङ्गल में वाग् देवता की वन्दना की है। ग्रन्थ का विवेच्य विषय काव्यालङ्कार है। अतएव तत्प्रतिपादक ग्रन्थ के प्रारम्भ में उसके अधिदेवता की स्तुति उचित ही है।

''वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम्।
देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम्''।। 1।।

वृत्ति भाग के मङ्गल श्लोक में कुन्तक ने शक्तिपरिस्पन्द मात्र उपकरण शिव की वन्दना की है। कुन्तक कश्मीरी हैं तथा उन पर प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रभाव था।

ग्रन्थ के प्रथम उन्मेष में 58 कारिकाएँ हैं। द्वितीय कारिका तथा वृत्ति भाग में ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ का नाम, अभिधेय और प्रयोजन को व्यक्त किया है-

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।। 2।।

ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है जो वक्रोक्ति की प्रधनता के कारण 'वक्रोक्तिजीवितम्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस ग्रन्थ का प्रयोजन है लोकोत्तरचमत्कारी वैचित्र्यसम्पादन। अलंकार्यकाव्य के प्रयोजनों में धर्मादि पुरुषार्थचतुष्टय का

उपदेश सुकुमार एवं हृदयाह्लादक क्रम से होता है। काव्य का सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन चमत्कार है। प्रयोजन प्रतिपादन के अनन्तर कुन्तक ने काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार अलंकृत शब्द और अर्थ ही काव्य है। लक्षण को अत्यधिक रोचक शब्दावली में इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।। 7।।

सहृदयहृदयहारी, वक्रकविव्यापारशोभित, बन्ध में व्यवस्थित सम्मिलित शब्द और अर्थ ही काव्य कहे जाते हैं। काव्य में शब्द और अर्थ दोनों को वक्रत्वविच्छित्ति से विभूषित होना चाहिए। न तो रमणीयताविशिष्ट शब्द और न अर्थ काव्य होता है। अपितु रमणीयताविशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य होता है।

इसी प्रसङ्ग में कुन्तक ने साहित्य शब्द की अपूर्व व्याख्या की है-

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।। 17।।

शोभाशालिता के लिए इन दोनों (शब्द और अर्थ) की कमी या अधिकताविहीन मनोहारिणी कुछ अपूर्व ही अवस्थिति 'साहित्य कही जाती है।'

शब्द और अर्थ अलंकार्य है और इनका एकमात्र अलंकार 'वैदग्ध्यभङ्गी भणिति' रूप वक्रोक्ति है। कुन्तक ने स्वभावोक्ति की अलंकारता का खण्डन किया है। वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता, प्रत्ययाश्रितवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता एवं प्रबन्धवक्रता के भेद से वक्रोक्ति छः प्रकार की होती है। वक्रता के इन भेदों का सामान्य निरूपण करने के पश्चात् कुन्तक ने कवियों के प्रस्थान के हेतु, काव्य क्रिया के कारण त्रिविध मार्गों का वर्णन किया है। सुकुमार, विचित्र और मध्यम ये तीन मार्ग हैं।

इस प्रकार वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन मानने वाले कुन्तक ने प्रथम उन्मेष में काव्य प्रयोजन, काव्यहेतु प्रतिभा आदि, काव्य स्वरूप, शब्दार्थ स्वरूप तथा साहित्य, वक्रोक्तिस्वरूप, वक्रता भेद, त्रिविधमार्ग आदि का विवेचन कर 58 वीं कारिका से उन्मेष की समाप्ति की है।

द्वितीय उन्मेष में 35 कारिकाएँ हैं। इनमें वक्रोक्ति के प्रथम तीन भेदों का विवेचन किया गया है। 1-7 कारिकाओं में वर्णविन्यास वक्रता का विवेचन है, इसमें अनुप्रास-यमक-शब्दालंकारों को समाहित किया गया है। 8वीं से 25वीं कारिका तक कुन्तक ने पदपूर्वार्द्धवक्रता रूपी द्वितीय भेद का भेदोपभेदपूर्वक विवेचन किया है। इसमें ग्यारह भेदों का यहाँ विवेचन हुआ है। 26वीं कारिका से 31वीं कारिका तक पदपूर्वार्द्धवक्रता के अन्य भेदों का वर्णन किया गया है। इसमें प्रायः ध्वनिवादी के सभी पद द्योत्य व्यङ्ग्याताओं का विनिवेश हो गया है। 32वीं कारिका में प्रत्ययवक्रता का विवेचन है। ३३वीं कारिका में उपसर्ग-निपात रूप पदवक्रता का निरूपण किया गया है।

तृतीय उन्मेष में वाक्य वैचित्र्यवक्रता का विवेचन किया है। इसके साथ ही वस्तुवक्रता का भी विवेचन कर दिया है। तीसरे और चौथे उन्मेष में कारिकाओं का स्वतन्त्र रूप में निर्धारण कठिन है क्योंकि उनका अन्तर्भाव वृत्ति में हो गया है तथा वे पूर्णतः उल्लिखित नहीं है। चतुर्थ उन्मेष में प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विवेचन किया गया है।

13.4 कुन्तक के अनुसार काव्य प्रयोजन

कुन्तक वक्रोक्तिजीवित नामक काव्यालंकार ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन बतलाते हुए लिखते हैं कि लोकोत्तर चमत्कार को पैदा करने वाले वैचित्र्य की सिद्धि के लिए यह कोई अपूर्व ही काव्य का अलंकार (ग्रन्थ) किया जा रहा है। कारिका इस प्रकार है-

''लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्य सिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।। 1/2।।''

इस प्रकार अलंकार ग्रन्थ का प्रयोजन बताकर अलंकार काव्य के प्रयोजनों की चर्चा करते हैं।

''धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितिः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।। 1/3।।''

''सुकुमार परम्परा से कहा गया काव्यबन्ध धर्म आदि (अर्थ, काम एवं मोक्ष) की सिद्धि का साधन तथा अभिजात लोगों के हृदयों में आनन्द की सृष्टि करता है।''

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि धर्मादि का उपदेश केवल अभिजात राजकुमारों के लिए ही क्यों हो? सामान्य जन उसके भागी क्यों नहीं हो सकते? इसका उत्तर देते हुए कुन्तक लिखते हैं कि राजपुत्रों को यथासमय विभव आदि की प्राप्ति हो जाती है। ऐश्वर्य प्राप्त वे लोग समग्र पृथ्वी की व्यवस्था करने वाले नियमादि के व्यवस्थापक होते हैं और यदि वे प्रशस्य उपायों द्वारा दिए गए (धर्मादि के उपदेश से शून्य) हों तो स्वच्छन्द होकर सभी उपयुक्त आचारों का विनाश प्रारम्भ कराने में समर्थ होते हैं, स्वेच्छाचारी न हो तथा समुचित व्यवस्था के प्रतिष्ठापक बने रहें इसलिए उनको दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए कविगण सदाचारयुक्त रामचन्द्रादि के चरित्र के माध्यम से उन्हें धर्मादि का उपदेश देते हैं। अतएव शास्त्र की अपेक्षा काव्य की उत्कृष्टता तो है ही ''तदेवं शास्त्रातिरिक्तं प्रगुणमस्त्येव प्रयोजनं काव्यबन्धस्य।'' काव्य प्रधान प्रयोजन पुरुषार्थ सिद्धि है साथ ही सत्काव्य से लोक व्यवहार का ज्ञान भी होता है-

''व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।। 1/4।।''

पुरुषार्थ सिद्धि एवं व्यवहारज्ञान रूपी प्रयोजन काव्य के अध्ययन काल के अनन्तर होते हैं किन्तु काव्य तो ऐसा है जो पठनकाल में ही आनन्द प्रदान करे। इसलिए चतुर्वर्ग से भिन्न, सहृदयहृदयसंवाद से सुन्दर तत्काल ही मनोहारी अनिर्वचनीय आनन्दस्वरूप चमत्कार ही काव्य परम प्रयोजन है-

''चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।। 1/5।।''

शास्त्र एवं काव्य दोनों से ही आस्वाद होता है किन्तु शास्त्र का आस्वाद कड़वी औषध के समान है जबकि काव्य का आस्वाद अमृततुल्य है। कुन्तक ने अन्तरश्लोक में प्रतिपादन इस प्रकार किया है-

''कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्।।''

काव्य अध्ययन काल एवं परवर्ती काल में भी रस प्रवाह से सुन्दर सम्पन्न होता है-

''आयात्यां च तदात्वे च रसनिस्पन्दसुन्दरम्।
येन संपद्यते काव्यं तदिदानीं विचार्यते।।''

इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि से काव्य का प्रमुख प्रयोजन सच्चरित्रों के निबन्धन से पुरुषार्थ चतुष्टय का कोमलकान्तपदावली से उपदेश, नूतनौचित्य समन्वित लोकव्यवहार की शिक्षा तथा अलौकिक काव्यामृतरस का सहृदय-हृदय में चमत्कार पैदा करना है, कुन्तक से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इसी प्रकार का विवेचन किया है। कुन्तक के काव्य प्रयोजनों में कीर्ति का अभाव है। पाठक को दृष्टि में रखते हुए कुन्तक ने प्रयोजकों पर चर्चा की है क्योंकि काव्य कवि के लिए कम एवं सहृदय पाठक के लिए अधिक होता है। मम्मट आदि ने कवि और पाठक दोनों के प्रयोजनों की मीमांसा की है। कुन्तक का विवेचन अधिक मनोवैज्ञानिक एवं आधुनिक विचारों के समीप है।

13.5 कुन्तक का काव्यलक्षण

काव्य सहृदयजन ग्राह्य वस्तु है। इस का विषय अनन्त और अपरिमिति है। विश्व मानव की संवेदनाएँ अनन्त है और उनकी अभिव्यक्ति का प्रकार भी अनन्त हैं। विश्व के कोने-कोने में कवियों की संवेदनाओं ने अनेक प्रकार लिए है। अपरिमित काव्यवस्तु को भी आदिकाल से ही परिभाषाओं में आबद्ध करने का प्रयास रहा है या यों कहे कि लक्षण के माध्यम से समझने का प्रयास रहा है। काव्य लक्षण करने वाले विद्वानों के स्पष्टतः दो वर्ग रहे। एक वर्ग ने काव्य के बाह्य पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है तो दूसरे ने आन्तरिक तत्त्व को अधिक गौरवान्वित किया है। काव्य को कुछ

परिभाषाओं में सीमित नहीं किया जा सकता तथापि प्रत्येक काव्यशास्त्री ने ऐसा करने का प्रयास किया है। कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों ने प्रमुख रूप से शब्द और अर्थ को काव्य कहा था। शब्द को प्रधान मान कर काव्य लक्षण करने वाले अग्निपुराणकार एवं दण्डी भी अपने ग्रन्थ लिख चुके थे। भामह का लक्षण था ''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।'' वामन ने कहा कि काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है। अलंकार का अर्थ सौन्दर्य है और सौन्दर्य तभी सम्भव है जबकि दोषाभाव और गुणों का सद्भाव हो। गुण तथा अलंकारों से युक्त शब्दार्थ-युगल को ही काव्य कहते हैं। औपचारिकतावश भले ही केवल शब्द और अर्थ को ही काव्य कह दिया जावे-

1. **''काव्यं ग्राह्यमलंकारात्, सौन्दर्यमलंकारः।।**

वामन काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1.1.2

''स दोषगुणालंकाराहानादानाभ्याम्'' वहीं 1.1.3

2. **काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोः वर्तते।**

''भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनो गृह्यते'' वहीं 1.1.1 की वृत्ति''

वामन के मत में अलंकार का अर्थ शब्दालंकार और अर्थालंकार न होकर काव्यगत सौन्दर्य था। इनकी दृष्टि में गुण काव्यसौन्दर्य के उत्पादक तत्त्व हैं और अलंकार सौन्दर्यवर्धक-

''काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः'' काव्यालंकारवृत्ति - 3.1.1.2

ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकार को बाह्यतत्त्व माना, अलंकार का शब्दार्थ के साथ योग होता है- ऐसा वे मानते हैं।

आचार्य कुन्तक शब्दार्थ युगल को काव्य मानते हैं। अलंकार का शब्दार्थ के साथ योग होता है। इस बात को वे स्वीकार नहीं करते अपितु कहते हैं कि वस्तुतः अलंकार से युक्त शब्द और अर्थ की ही काव्यता होती है-

''सालंकारस्य काव्यता।'' व.जी. 1/6 ''अयमत्रपरमार्थः- सालङ्कारस्यालङ्करणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वम्। तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोग इति।'' 6

इसलिए ''सालंकारस्य काव्यता'' का तात्पर्य है कि अलंकार काव्य के नियतधर्म हैं, आहार्य नहीं। वे शोभाधायक धर्म नहीं है। प्रत्युत् काव्य के स्वरूपाधायक हैं। वस्तुतः काव्यवस्तु किसे कहा जावे इसके लिए कुन्तक ने निम्न कारिका दी है-

''शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।। 7।।''

काव्यविद् में आह्लाद पैदा करने वाले तथा वक्रकवि व्यापार से सुशोभित रचना में व्यवस्थित सहित शब्दार्थ काव्य (कहे जाते हैं) कुन्तक वृत्ति में लिखते हैं कि शब्द और अर्थ दोनों भली भाँति मिलकर ही काव्य कहे जाते हैं।

कवि की कुशलता से कल्पित अतिशय कमनीय केवल शब्द ही काव्य है और रचना की विचित्रता से चमत्कार पैदा करने वाला अर्थ ही काव्य है- इस प्रकार मान्यता रखने वाले दोनों पक्ष ही ''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' इस कथन से निरस्त हो गए। इसलिए दोनों में ही प्रत्येक तिल में तैल की भाँति काव्यविद् को आह्लाद पैदा करने की सामर्थ्य (काव्यता) होती है, न कि किसी एक में।

''तस्माद्द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते, न पुनरेकस्मिन्।''

कुन्तक ने न तो केवल रमणीयता विशिष्ट शब्द की ही काव्यता स्वीकार की है और अर्थ की ही। अपने इस कथन में उन्होंने भामह की तीन कारिकाएँ उद्धृत की हैं जिनका अर्थ है कि शब्द और अर्थ दोनों की सम्मिलित रमणीयता ही काव्य में इष्ट है। अन्तिम कारिका इस प्रकार से हैं-

''तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः।।''

इस प्रकार काव्यता शब्द और अर्थ दोनों में है यह स्थिर हो जाने पर किसी एक की कुछ थोड़ी सी भी न्यूनता हो जाने पर भी काव्य व्यवहार प्रवर्तित न हो जाए, इसीलिए लक्षण में 'सहितौ' पद दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि शब्द और अर्थ में वाच्यवाचक रूप सम्बन्ध का सहभाव तो हमेशा बना रहेगा किन्तु कुन्तक के कथन का तात्पर्य कुछ और ही है। यहाँ सहितौ पद से विशिष्ट प्रकार का ही साहित्य अभीष्ट है और वह है- वक्रता से कमनीय गुण और अलंकार विभूतियों का आपस में स्पर्धा को प्राप्त हो जाना - ''वक्रताविचित्रगुणालंकार सम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोह।'' इसलिए

''समसर्वगुणी सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ।''
परस्परस्य शौभायै शब्दार्थौ भवतो यथा।।

अर्थात्- जहाँ समान सर्वगुणसम्पन्न परस्पर सङ्गत दो मित्रों की भाँति (माधुर्यादि) सर्वगुणसम्पन्न शब्द और अर्थ दोनों एक-दूसरे की शोभा के लिए सङ्गत होते हैं- कुन्तक ने इस के उदाहरण के रूप में निम्न पद्य दिया है-

''ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।''
दधे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम्।।

यहाँ शब्द और अर्थ दोनों रमणीयता है। शब्द और अर्थ के साहित्य का अर्थ केवल एक शब्द और अर्थ के साहित्य से नहीं है अपितु यह साहित्य वाक्य-विन्यास रूपी बन्ध में व्यवस्थित होना चाहिए। 'सहितौ' इस द्विवचन में भी यथासंभव शब्द की स्वजातीय शब्द की अपेक्षा अन्य शब्द के एवं अर्थ की स्वजातीय अर्थ की अपेक्षा अन्य अर्थ से परस्पर स्पर्धित्वरूप ही साहित्य विवक्षित है। अन्यथा शब्द की स्वजातीय शब्द की अपेक्षा शब्दान्तर से एवं अर्थ की स्वजातीय अर्थ की अपेक्षा अर्थान्तर से परस्पर स्पर्धित्व रूप साहित्य के अभाव में काव्यज्ञ की आह्लादकारिता की हानि हो सकती है। कुन्तक की वृत्ति इस प्रकार है-

''साहितावित्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण व साहित्यं परस्पर-स्पर्धितवलक्षणमेव विवक्षितम्। अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः प्रसज्येत।''

कुन्तक ने साहित्य शब्द को और अधिक परिभाषित किया है। काव्यशास्त्र में इससे पूर्व ऐसी मार्मिक परिभाषा उपलब्ध नहीं थी तथा परवर्ती काव्यशास्त्र में भी यह कण्ठहार बन गई है-

परिभाषा परक कारिका इस प्रकार है-

''साहित्यमनयोः शोभाशलितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।।'' व.जी. 1/17

अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों परस्पर स्पर्धारूप रमणीय, न किसी का उत्कर्ष न निकर्ष रूप अपूर्व ही शोभाशालिता के प्रति अवस्थिति ही साहित्य है। यह परस्परस्पर्धित्व रूप साहित्य सौन्दर्यश्लाघिता को समर्पित होता है।

यहाँ एक वाचक का दूसरे वाचक से एवं एक वाच्य का दूसरे अर्थ से साहित्य अभिप्रेत है। क्योंकि शब्द और अर्थ का साहित्य रूप काव्य लक्षण वाक्य में ही परिसमाप्त होता है। इसलिए इन दोनों शब्द और अर्थ की वह कुछ अपूर्व ही वाक्यों के विन्यास की सम्पत्ति 'साहित्य' अभिधान की पात्र होती है, जिसमें यथासम्भव (शब्द और अर्थ को) अपना सम्पत्ति रूप सामग्री समूह सहृदयों के हृदय को आह्लाद प्रदान करने वाला स्पर्धा के कारण परिस्फुरित होता है। वृत्ति निम्नानुसार है-

''तस्मादेतयोः शब्दार्थयोर्यथास्वं यस्यां स्वसम्पत्सामग्री-समुदायः सहृदयाह्लादकारी परस्परस्पर्धया परिस्फुरति, सा काचिदेव वाक्यविन्याससम्पत् साहित्यव्यपदेश-भाग्भवति।''

कुन्तक अन्तर श्लोकों में इसी के सार को प्रस्तुत इस प्रकार करते हैं-

''मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः।

अलंकारणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः।।

वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि।।

सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा।
पदादिवाक्यपरिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते।। 34-36।।''

यह शब्दार्थ साहित्य षट् प्रकार की वक्रता से विशिष्ट बन्ध में स्थित रहता है। बन्ध का लक्षण कुन्त ने प्रथमोन्मेष की 22वीं कारिका में प्रस्तुत किया है। कारिका इस प्रकार से है-

''वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते।।''

शब्द और अर्थ के सौभाग्य एवं लावण्य को पोषित करने वाला (कवि के क्रियारूप) व्यापार से युक्त वाक्य की रचना को बन्ध कहा जाता है।

कुन्तक को अलौकिक काव्य मार्ग में प्रसिद्ध वाचक और वाच्यार्थ अभिप्रेत नहीं है। इन दोनों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं-

''शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दर।। व. जी. 1/9''

अन्य शब्दों के रहते भी विवक्षित अर्थ का एकमात्र वाचक शब्द ही वाचक शब्द कहा जाता है और सहृदयहृदय को आह्लादित करने वाला स्वाभाविकता से सुन्दर अर्थ ही (वास्तविक अर्थ) कहलाता है। वाच्य, वाचक एवं वक्रोक्ति इन तीनों के अतिशय से उत्कृष्ट (लोकोत्तर) आमोद से सुन्दर कोई अनिर्वचनीय ही तत्त्व तद्विदाह्लादकारी होता है-

''वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम्।
तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम्।। व. जी. 1/23''

कुन्तक का काव्य लक्षण एवं उसका प्रतिपादन काव्यशास्त्र में अपूर्व है तथा अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

13.6 वक्रोक्ति का स्वरूप

कुन्तक के अनुसार वक्रकविव्यापार से श्लाघ्य बन्ध में व्यवस्थित शब्द और अर्थ काव्य है। यह वक्रता क्या है? इसकी व्याख्या प्रथमोन्मेष की १०वीं कारिका में है। शब्द और अर्थ तो अलंकार्य हैं, किन्तु इनका अलङ्कार वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति है विदग्ध्यभङ्गीभणिति-

''उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।। व.जी. 1/10''

कुन्तक ने वक्रोक्ति की व्याख्या अनेक स्थलों पर की है। इस कारिका में वैदग्ध्यभङ्गीभणिति को वक्रोक्ति कहा गया है। इस कारिका की वृत्ति में कहा गया है- ''वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा'' प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा ही वक्रोक्ति है। पुनः कारिकांश की व्याख्या में कुन्तक लिखते हैं-

''वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।''

अर्थात् वैदग्ध्य-विदग्धभाव यानी कविकर्मकौशल, उसकी भङ्गी माने विच्छित्ति, तत्पूर्वक भणिति कथन, विचित्र ही अभिधा वक्रोक्ति कही जाती है। अन्यत्र कहा गया है- शास्त्रादि से प्रसिद्ध शब्दार्थ-निबन्धन से व्यतिरिक्त षट् प्रकार वक्रताविशिष्ट कविव्यापार ही वक्रोक्ति है।

इन सभी का सार यह है कि सामान्य कथन से विशिष्ट विचित्र ही अभिधा वक्रोक्ति है। कविकर्म की निपुणता से इस

विचित्र अभिधा का निष्पादन होता है और उस निपुणता में आधान होता है विच्छित्ति का। इसी को कन्तुक ने कहा है- वक्रवैचित्र्यकथन। वक्रता के अन्तर्गत ध्वनि का समस्त प्रपञ्च समाहित हो जाता है। यह विचित्र अभिधाद्योत्य व्यङ्ग्य सभी सौन्दर्य को अपने साम्राज्य में समेट लेता है। इसीलिए इसे विचित्र अभिधा कहा गया है। समस्त सौन्दर्य को अपने में समाहित करने वाली यह वक्रोक्ति है केवल अलंकार ही। शब्दार्थ अलङ्कार्य है। वैसे अलंकार अलंकार्य से भिन्न साधन होना चाहिए। किन्तु यह अलंकार कहीं से लाकर जोड़ा नहीं जाता अपितु वक्रत्ववैचित्र्यपूर्वक इनका अभिधान ही अलंकार है। कुन्तक के अनुसार अलंकार का काव्य से योग नहीं होता अर्थात् अलंकार बाह्य वस्तु नहीं है। अपितु शब्दार्थ का वक्रत्ववैचित्र्यपूर्वक अभिधान ही अलंकार है।

वक्रोक्ति का इतिहास

प्राचीन काल से काव्य में वक्रोक्ति का प्रयोग होता रहा है। महाकवि बाणभट्ट ने कादम्बरी में वक्रोक्ति को व्यापक तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया है-

''वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन'', ''एषापि बुध्यत एवैतावतीर्वक्रोक्ती:'', इयमपि जानात्येव परिहासजल्पितानि'', ''...अभूमिरेषा भुजंगभङ्गिभाषितानाम्'', बाणभट्ट के इन प्रयोगों में क्रीडालाप अथवा परिहास जल्पित अर्थ में हुआ है। (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-पी. वी. काणे पृ. 471)। डॉ. दशरथ द्विवेदी (व. जीवित की भूमिका, पृ.8) के अनुसार ''प्रसङ्गानुसार यहाँ वक्रोक्ति का भङ्गीविच्छत्ति अर्थ ही लेना उपयुक्त होगा। कविराज ने सुबन्धु, बाण तथा अपने वक्रोक्ति मार्ग का आचार्य बताया है-

''सुबन्धुबाणभट्टश्च कविराज इतित्रय:।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा।।

राघव पाण्डवीय।।1-41।।''

अमरूकशतक में भी वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग विचित्र उक्ति के अर्थ में हुआ है। काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम भामह ने वक्रोक्ति को वाणी का उत्तम भूषण माना है। उनका अभिप्राय है कि वक्रशब्द तथा अर्थ के अभिधान में ही अलंकार की अलंकारकता सिद्ध होती है-

''वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति:।।''

(काव्यालंकार 1/36)

वक्रोक्ति का ही दूसरा पर्याय उन्होंने अतिश्योक्ति को माना है। लोकातिक्रान्त, अलौकिक कविवाक् ही अतिशयोक्ति है। यह अतिश्योक्ति ही भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति है जिसमें लोकोत्तर आस्वाद को जन्म देने वाली रमणीयता रहती है। यह समस्त अलंकार वर्ग का प्राण है। इसी से अर्थ का विभावन होता है। इसलिए कवि को इसकी सिद्धि का प्रयास करना चाहिए। इसके अभाव में कोई अलंकार-अलंकार हो ही नहीं सकता-

''सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य: कोऽलंकारोऽनया विना।।

काव्यालंकार 2/85।।''

दण्डी ने स्वाभावोक्ति के विपरीत अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा है कि सामान्यत: श्लेष वक्रोक्ति को चमत्कारपूर्ण बनाता है-

''श्लेष' सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।।

काव्यादर्श 2.3.60।।

दण्डी ने 'वक्रोक्ति में वक्रता का स्वरूप क्या है' यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा है। किन्तु इस कथन से प्रतीत होता है कि वाणी को शोभा प्रदान करने वाला जितना भी अलंकार समुदाय है वह वक्रोक्ति है। अर्थात् उक्ति की वक्रता के

कारण ही गुण, अलंकार, सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्तियाँ आदि अलंकार है। स्वभावोक्ति सर्वजनसंवेद्य है तो वक्रोक्ति बुधजन संवेद्य है। इसीलिए आचार्यों ने स्वभावोक्ति को पहले और वक्रोक्ति को बाद में स्थान दिया है पर उक्ति में शोभा की सृष्टि वक्रता ही कर सकती है। अतः अलंकार (शोभाधयकतत्त्व) के रूप में वक्रोक्ति को ही कहा है, स्वभावोक्ति को नहीं। आचार्य कुन्तक ने भी स्वभावोक्ति को अलंकार मानने का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। इस विषय पर कुन्तक ने अन्तरश्लोकों से अपनी बात कही है-

''अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते।। व.जी. 1 अन्तरश्लोक 1/1

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते।। वही 2।।''

भामह एवं दण्डी ने सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति की स्थिति अनिवार्य मानी है। लोचनकार अभिनव गुप्त ने भामह की कारिका (1.36) को उद्धृत करके व्याख्या करते हुए लिखा है- ''शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्''। अतिशय योग से काव्य में अलौकिक शोभा जुड़ जाती है। भामह ने अतिशयोक्ति को सर्वालंकार सामान्य तत्त्व कहा है। शब्द तथा अर्थ की वक्रता उनका लोकोत्तर रूप से काव्य में विन्यास ही है। लोचनकार ने 'विभाव्यते' पद की व्याख्या इस प्रकार की है कि वक्रोक्ति-अतिशयोक्ति में ही अलंकार-वस्तु और रस इन तीनों का समावेश हो जाता है। भामह के अनुसार तो वक्रोक्तिविहीन काव्य उनकी दृष्टि में वार्ता मात्र ही होता है। आगे चल कर आचार्यों ने वक्रोक्ति के स्वरूप को सीमित कर दिया। दण्डी के अनुसार वक्रोक्ति मूलक अलंकारों में श्लेष की प्रधानता स्वरूप को सीमित कर दिया। दण्डी के अनुसार वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार-विशेष का स्थान प्रदान कर दिया। यह वक्रोक्ति लक्षणामूल गूढ़ व्यङ्ग्य प्रधान ध्वनि का मूल अवश्य है। रुद्रट ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। रुद्रट की वक्रोक्ति में विच्छित्ति है। वह अलंकार विशेष है, जबकि भामह की वक्रोक्ति अलंकार वस्तु रस सामान्य तत्त्व हैं अलंकार मात्र नहीं। आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति को सर्वालंकार सामान्य माना है-

''अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया''।। अभिनवगुप्त ने तो वक्रोक्ति को काव्य का जीवन भी स्वीकार किया है-

''यातिशयोक्तिर्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलंकारः।.... अथ सा जीवित्वेनेत्थं विवक्षिता'' लोचन पृ. 499-501)''
अभिनव गुप्त ने भी दण्डी के समान समस्त वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन रूपों में विभक्त किया है। काव्य में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के माध्यम से ही रसनीयता का सञ्चार होता है-

''काव्येऽपि लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिविभावादियोगा-दियमेव रसवार्ता। (लो.पृ. 197)।''

अग्निपुराणकार, रुद्रट और मम्मट आदि ने श्लेष एवं काकु वक्रोक्ति के रूप में इसके दो भेद किए हैं। भोजराज ने वाङ्मय के वक्रोक्ति, रसोक्ति तथा स्वभावोक्ति ये तीन भेद किए हैं। इन में रसोक्ति प्रधान है-

''वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते।। स. कण्ठाभरण 5/8''

रुद्रट, मम्मट आदि ने वक्रोक्ति को जहाँ शब्दालंकार माना है वहीं रुय्यक ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है। रुद्रट और रुय्यक की वक्रोक्ति का क्षेत्र भामह, दण्डी और कुन्तक की वक्रोक्ति से संकुचित है। जयरथ के मत में वक्रोक्ति का जन्म कविप्रतिभा से होता है।

13.7 वक्रता के छः प्रकार

लोक एवं शास्त्र आदि के प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त कवि व्यापार रूप वक्रता के छः प्रकार हैं और उनके भी अन्य अदान्तर भेद हो सकते हैं:-

''कविव्यापारवक्रत्वप्रकराः संभवन्ति षट्।

प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः।। व.जी. 1/18

छः भेदों का नाम इस प्रकार है -

(1) वर्णविन्यासवक्रता (2) पदपूर्वार्द्धवक्रता (3) प्रत्ययाश्रितवतवक्रता (4) वाक्यवक्रता (5) प्रकरणवक्रता (6) प्रबन्धवक्रता। इनका उल्लेख निम्नलिखित कारिकाओं में है-

''वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्द्धवक्रता।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः।। वजी 1/19

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्त्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति।। व.जी. 1/20

वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः।
उच्यते सह्यजाहार्य सौकुमार्यमनोहरः।। वही 21

(1) वर्णविन्यासवक्रता

अकारादि वर्णों का विशेष प्रकार से निबन्धन वर्णविन्यास कहा जाता है। अर्थात् अक्षरों का विशेष न्यास, उसकी वक्रता-वक्रभाव, प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त विचित्रतापूर्ण उपनिबन्धन वर्णविन्यासवक्रता कही जाती है। तात्पर्य है कि, वर्णों के सन्निवेश विशेष से विनिर्मित काव्य तत्त्व विद् को आनन्द प्रदान करने वाला शब्दों का शोभातिशय ही वर्णविन्यास वक्रता है। उदाहरण-

''प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभ
स्तदनु विरहोत्ताभ्यन्तन्वीकपोलतलद्युतिः।
प्रसरति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे,
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छ विर्मृगलाञ्छनः।।

इस श्लोक में वर्णविन्यासवक्रता मात्र से विनिर्मित अतिशय सौन्दर्य को सुतरां उभारा गया है। यही वर्णविन्यास वक्रता प्राचीन आलङ्कारिक भामह आदि में 'अनुप्रास' इस नाम से प्रसिद्ध है।

इस वक्रता का सामान्य लक्षण करते हुए कुन्तक लिखते हैं -

''एको द्वौ बभवो वर्णा बध्यमानः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासकृता।। व.जी. २१

(जहाँ पर) थोड़े-थोड़े अन्तर से एक दो अथवा अनेक वर्ण पुनः पुनः निबन्धित किए जाते हैं, तीन प्रकार की वह (वक्रता) 'वर्ण-विन्यास-वक्रता कही गई है। एक वर्ण की स्वल्पान्तर से पुनः पुनः आवृत्ति, दो वर्णों की स्वल्पान्तर से पुनः पुनः आवृत्ति एवं बहुत से वर्णों की स्वल्पान्तर से आवृत्ति ये तीन प्रकार वर्ण विन्यास वक्रता हैं। उदा. ''धम्मिल्लो विनिवेशिताल्पकुसुमः सौन्दर्यधुर्यं स्मितं।''

वर्णविन्यास वक्रता के अन्य विच्छित्ति से भी तीन प्रकार से हो सकते हैं। इन प्रकारों का उल्लेख कुन्तक ने अवान्तर श्लोक में इस प्रकार किया है -

''वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विसक्तास्तन लादयः।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः।। वजी. 2/2''

वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य से सुन्दर तथा (स्वल्पान्तर से पुनः पुनः निबध्यमान) (1) अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त स्पर्श, (2) द्विरुक्त, त, ल तथा न वर्ण एवं (3) अवशिष्ट अन्य सभी वर्ण रकार आदि वर्णों से संयुक्त रूप (में जहां स्वल्पान्तर से पुनः पुनः निबन्धित किए जाये वहां वर्णविन्यास वक्रता का दूसरा सौन्दर्य प्रकार है)

प्रथम प्रकार का उदाहरण -

''उन्निद्र-कोक-नद-रेणु-पिशङ्गिताङ्गा
गुञ्जन्ति मञ्जुमधुपाः कमलाकरेषु
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बिबिम्बम्।।

यहाँ उन्निद्र, पिशङ्गिताङ्गा, मञ्जु, गुञ्जन्ति, चुम्बि, बिम्बम्,'' आदि में गकारादि स्पर्श एवं वर्गान्त वर्णों का संयुक्त रूप में प्रयोग है।

द्वितीय प्रकार के वर्णविन्यास वक्रता का उदाहरण ''प्रथममरूणच्छायः'' के अनुसार यहां त, ल, न, च, छ की द्विरुक्ति पाई जाती है।

इसी वर्णविन्यासवक्रता का अन्य प्रकार यह है कहीं-कहीं वर्णों के व्यवधान न होने पर भी (पुनः पुनः निबध्यमान वर्णों की) मनोहारी वर्णन तथा (कहीं-कहीं) स्वरों का असादृश्य तथा पुनः पुनः निबन्धन होने से वक्रता की परम पुष्टि होती हैं। कारिका इस प्रकार है -

चचिदव्यवधानेऽपि मनोहारिनिबन्धना।
सा स्वराणामसारूप्यात् परां पुष्णाति वक्रताम्।। व.जी. 2/3

यह वर्ण विन्यास वक्रता ही प्राचीन आचार्यों (आचार्य उद्भट आदि) के द्वारा वृत्तियों के सौन्दर्य से समन्वित कही गई है। यह वर्णों की कान्ति के माध्यम गुणों तथा मार्गों का अनुवर्तन करने वाली होती है -

''वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी।
वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः।। व. जी. 2/5''

(2) पदपूर्वार्द्धवक्रता

''पदस्य सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा यत्पूर्वार्द्धप्रातिपदिकलक्षणं धातुलक्षणं वा तस्य वक्रता वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यम्। अर्थात् पद दो प्रकार के होते हैं - सुबन्त और तिङन्त, उनका पूर्वार्द्ध क्रमशः प्रातिपादिक या धातु रूप होता है, उसकी वक्रता, वक्रभाव अर्थात् विन्यास वैचित्र्य ही पदपूर्वार्द्धवक्रता है। इसके अनेक भेद हो सकते हैं। भेद इस प्रकार हैं-''

(1) रूढ़िवैचित्र्य (2) पर्याय (3) उपचार (4) विशेषण (5) संवृत्ति (6) वृत्ति वैचित्र्य (7) भाववक्रता (8) लिङ्ग (9) क्रियावैचित्र्य (10) कृदादिवक्रता (11) आगमवक्रता

(1) रूढ़िवैचित्र्य : जहाँ रूढ़ि शब्द का ही प्रकरण के उपयुक्त वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म के अतिरिक्त धर्म के अध्यायोपपूर्वक निबन्धन किया जाता है, वहाँ पदपूर्वार्द्धवक्रता का यह प्रथम भेद होता है - जैसे - ''रामोऽस्मि सर्वं सहे'' यहां राम शब्द का रूढ़वाच्यार्थ (दशरथपुत्र राम 'अभिप्रेत न होकर उसके अतिरिक्त' दारुणहृदय अत्यन्त सहनशील धर्मयुक्त राम अर्थ अभीष्ट है। ध्वनिवादी यहां अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण मानते हैं।)

रूढ़िवैचित्र्यवक्रता भी मुख्यतः दो प्रकार की होती है (1) जहाँ कवि स्वयं ही अपने (वर्णविषय) में उत्कर्ष अथवा निष्कर्ष के समारोप करने की कामना से रूढ़िशब्द से वाच्य अर्थ का उपनिबन्धन करता है, (2) अथवा जहां उस (उत्कर्ष या निकर्ष) का वक्ता कोई और होता है। प्रतीयमान धर्मों के अनन्त के कारण यह रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता अनेक प्रकारों से भेदयुक्त होती है।

(2) पर्यायवक्रतावैचित्र्य : जहाँ किसी वस्तु का अभिधान अनेक शब्दों से सम्भव होने पर भी प्रकृत के अनुकूल किसी अपूर्व पर्याय पद का कविगण निबन्धन करते हैं, वहां पर्यायवक्रता पाई जाती है। इसका विशेष लक्षण हुए कुन्तक लिखते हैं -

''अभिधेयान्तरतमस्तस्यातिशयपोषकः।
रम्यच्छायान्तरस्पर्शात्तदलङ्कर्तुमीश्वरः।। व.जी. 2/10

स्वयं विशेषणेनापि स्वच्छायोत्कर्षपेशलः।
असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते।। वही 2/11

अलङ्कारोपसंस्कार मनोहारि निबन्धनः।
पर्यायस्तेन वैचित्र्यं परां पर्यायवक्रता।। व.जी. 2/12

उदा. वामं कज्जलवद्विलोचनमुरोहद्विसारिस्तमं
मध्यं साममकाण्ड एव विपुलाभोगा नितम्बस्थली।

सद्यः प्रोद्गतविस्मयैरिति गणैरालोक्यमानं मुहुः
पायाद्वः प्रथमं वपुः स्मररिपोर्मिश्रीभवत्कान्तया।।''

यहाँ पर (शिव के अनेकपर्याय होने पर भी प्रयुक्त) 'स्मररिपोः' कामशत्रु यह पर्याय अपूर्ववक्रता को उन्मीलित करता है। क्योंकि जो स्वयं कामरिपु है उसके शरीर का अपनी पत्नी के शरीर से मिश्रिवत होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। यहाँ 'प्रथमं' पद 'स्मररिपोः' पद का प्राणभूत सा हो गया है।

यह पर्यायवक्रता वाच्यार्थ से असम्भावित दूसरे धर्म की गर्भता में भी देखी जाती है। जैसे-
''अङ्गराज! सेनापते! राजवल्लभ! रक्षैनं भीमाद् दुःशासनम्''

यहां कर्ण सम्बोधन का प्रयोग न करके उसके पर्याय रूप में निबन्धित तीनों सम्बोधनों से यह भावगर्भित है कि उसमें दुःशासन की रक्षा की योग्यता असम्भव है और इस प्रकार वह कुछ भी नहीं कर सकता और इसीलिए 'इसकी रक्षा करो' से उसका परिहास किया जा रहा है।

(3) उपचारवक्रता : जहाँ पर अमूर्तवस्तु का मूर्तद्रव्य का अभिधान करने वाले शब्द से उपचारवश (लक्षणा द्वारा) अभिधान किया जाता है वहाँ उपचारवक्रता होती है। रूपक आदि अलंकार एतन्मूलक होने से रसयुक्त बन जाते हैं। उदा.-

''निष्कारणं निकारकणिकापि मनस्विनां मानसमायासयति।

अथवा ''हस्तापचेयं यशः'' । यहाँ प्रथम उदाहरण में 'कणिका' शब्द आया है जो निकार का विशेषण है। कणिका शब्द सामान्यतः मूर्त वस्तु के 'स्वत्व' अर्थ को अभिव्यक्त करता है। किन्तु निकार (अपमान) अपमान (भावरूप) है। स्वल्पता रूप सामान्य अर्थ को बताने के लिए यहां पर साम्यवश उपचार से, कणिका शब्द के स्वल्प अर्थ के अभिधायक होने के कारण, अमूर्त निकार के लिए भी स्तोक अर्थ के अभिधायक रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

कहीं पर अमूर्त अर्थ के वाचक शब्द का द्रव्यरूप अर्थ के अभिधायक के रूप में वाचकतया किया जाता है। यथा-

''एकां कामपि कालविप्रुषममी शौर्योष्मकण्डूव्यय।
व्यग्रा स्युश्चिरविस्मृतामरचमूडिम्बाहवा बाहवाः।।''

यहाँ 'विप्रुष' (बूंद) पद मूर्त द्रव पदार्थ का धर्म है किन्तु स्वल्पतामात्र के साम्य के कारण यहाँ समय के लिए भी उपचार से प्रयुक्त किया गया है। जबकि काल स्वयं एक अमूर्त पदार्थ है।

(4) विशेषण वक्रता : जहाँ विशेषण के महत्त्व से ही काव्यविद् को आह्लाद प्रदान करने वाला सौन्दर्य अभिव्यञ्जित होता है। विशेषण के माध्यम से कारक और क्रिया की रमणीयता समुल्लसित होती है-

''विशेषणस्य माह्यत्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा।
यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषणवक्रता।। व. जी. 2/5''

कारक विशेषण वक्रता का उदा.-

''शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिरनिशब्दमनोहरा दिशः।
प्रथमस्य मनोभावस्य वा हृदि कस्याप्यथ हेतुतां ययुः।।''

यहां शुचि, शीतल आदि विशेषणों से दिशा रूप कारक की सुन्दरता प्रकाशित की गई है।

क्रिया, विशेषणवक्रता का उदा.-

''सस्मारवारणपतिर्विनिमीलिताक्षः
स्वेच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम्''

यहाँ नेत्रनिमीलन रूप क्रिया, विशेषण से संस्मरण क्रिया का स्वाभाविक चित्र ही प्रस्तुत कर दिया गया है।

विशेषण के माध्यम से प्रतीयमान अलंकारों का सौन्दर्य बढ़ जाता है।

(5) संवृत्तिवक्रता : -

''यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया।
सर्वनामादिभिः कैश्चित् सोक्ता संवृत्तिवक्रता।। व.जी. 2/16''

वैचित्रय के कथन की इच्छा से जहाँ वस्तु को किन्हीं सर्वनाम आदि से छिपाया जाता है, वहाँ उसे संवृत्तिवक्रता कहते हैं। यह अनेक प्रकार की होती है। यथा ''सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः।''

यहाँ वासवदत्ता से प्रेम करने वाला उदयन पद्मावती के साथ परिणय को महापाप समझता है किन्तु उसे कहना नहीं चाहता। इस मन्तव्य को 'किमपि' पद से गोपित कर दिया गया है। इस प्रकार यहाँ संवरण वक्रता का साम्राज्य है।

(6) वृत्तिवैचित्र्यवक्रता : जहाँ प्राप्त वृत्तियों में कविगण किन्हीं विचित्र वृत्तियों को ही स्वीकार करते हैं वहां वृत्ति वैचित्र्यवक्रता होती है। जैसे - ''मध्येऽङ्कुरं पल्लवाः'' यहां तत्पुरुष समास सम्भव होने पर भी कवि ने अव्ययीभाव का सहारा लिया जिससे चारुता में वृद्धि हो गई है। अथवा 'पाण्डिम्निमग्नं वपुः'। यहाँ 'पाम्डुतायाम' यह प्रयोग भी सम्भव था किन्तु कवि ने तद्धित वृत्ति का सहारा लेकर वक्रता की वृद्धि कर दी। वृत्ति वैचित्र्यवक्रता का स्वरूप निम्नलिखित कारिकाओं में दिया गया है-

''अव्ययीभावमुख्यानां वृत्तीनां रमणीयता।
यत्रोल्लसति सा ज्ञेया वृत्तिवैचित्र्यवक्रता।। व.जी. 2/19

(7) भाववक्रता

''सध्यतामप्यनाहत्य सिद्धत्वेनाभिधीयते।
यत्र भावो भवत्येषा भाववैचित्र्यवक्रता।। व.जी. 2/20

अर्थात् जहां (क्रिया की) साध्यता का भी तिरस्कार कर भाव (क्रिया या व्यापार) सिद्ध के रूप में कहा जाता है, वहाँ यह भावैचित्र्यवक्रता होती है। उदा.-

श्वासायासमलीमसाधररुचेर्दोःकन्दलीतानवात्
केयूरायितमङ्गदैः परिणतं पाण्डिग्नि गण्डत्विषा।
अस्याः किं च विलोचनोत्पलयुगेनात्यन्तमश्रुस्रुता
तारं ताहगपाङ्गयोररुणितं येनोत्प्रतापः स्मरः।।

यहाँ पर भाव का सिद्ध के रूप में अभिधान चमत्कारकारी हो गया है।

(8) लिङ्गवैचित्र्यवक्रता

भिन्नयोर्लिङ्गयोर्यस्यां समानाधिकरण्यतः।
कापि शोभाभ्युदेत्येषा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता।। व.जी. 2/21

जहाँ भिन्न-भिन्न लिङ्गों के (रहते भी प्रयोग में) उनकी समान अधिकरणता के कारण कोई अपूर्व शोभा उदित हो जाती है। (वह) यह लिङ्गवैचित्र्यवक्रता कही जाती है। उदा.-

''इत्थं जडे जगति को नु बृहत्प्रमाणकर्णः करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम् यहाँ बृहत्प्रमाणकर्णःकरी पुलिङ्ग है किन्तु पात्रम् नपुंसक लिङ्ग है। कवि ने दोनों भिन्न लिङ्गों का समानाधिकरण रूप में प्रयोग किया है जो अतीव सौन्दर्य को पैदा करता है। अथवा ''मैथिली तस्य द्वारा'' यहां स्त्रीलिङ्ग (मैथिली) और पुल्लिङ्ग 'दारा' दोनों का समान अधिकरण के रूप में प्रयोग किया गया है।

लिङ्गवैचित्र्यवक्रता का अन्य प्रकार है-

''सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गं च प्रयुज्यते।
शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम्।। व.जी. 2/22''

अर्थात् अन्य लिङ्ग के सम्भव होने पर भी ''स्त्री'' नाम ही सुन्दर होता है। ऐसा मानकर सौन्दर्य सम्पादन के लिए स्त्रीलिङ्ग एतां पश्य पुरस्तटीम् इति यहां 'तट', तटी, तटम् इस प्रकार तट के तीनों लिङ्ग होते हैं। किन्तु कवि ने रमणीयता लाने के लिए यहां स्त्रीलिङ्ग 'तटी' का प्रयोग किया है।

(9) क्रियावैचित्र्यवक्रता

जहाँ कविगण क्रिया रमणीयता को प्रतिपादन करने के लिए वैदग्ध्यमङ्गीभणिति से रमणीय ही (क्रिया) के प्रयोगों को निबन्धित करते हैं। यह क्रिया वैचित्र्य भी पांच प्रकार का है।

''कर्तुरत्यन्तरङ्गत्वं कर्त्रन्तरविचित्रता।
स्वविशेषण वैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता।। व.जी. 2/24

कर्मादिसंवृत्तिः पञ्च प्रस्तुतौचित्यचारवः।
क्रियावैचित्र्यवक्रत्व प्रकारास्त इमे स्मृताः।। वही 2/25''

(1) कर्ता की अतिशय अन्तरङ्गता, (2) अन्य कर्ता से होने वाली विचित्रता, (3) अपने विशेषण से होने वाला वैचित्र्य, (4) उपचार से जायमान रमणीयता तथा (5) कर्म आदि कारकों का संचरण, प्रस्तुत वस्तु के औचित्य से सुन्दर ये पाँच क्रिया वैचित्र्यवक्रता के प्रकार कहे गए हैं। उदा. -

''रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति।।''

(यहां देवी पार्वती का साध्य शिवजी के तीनों नेत्रों को बन्द कर देना समान होने पर भी, देवी पार्वती के परिचुम्बन से जिसका निरोध संपादित हो रहा है, भगवान का वह तीसरा नेत्र जयनशील है। यहाँ 'जयति' इस क्रिया पद का सहृदय के हृदय से ही संवेद्य कोई अनिर्वचनीय ही वैचित्र्य स्फुरित होता हुआ ही परिलक्षित होता है।

(10) कृदादिवक्रता

कृदादिप्रत्यय पद में प्रयुक्त होकर किसी अपूर्व वक्रता की सृष्टि कर देते हैं। कुन्तक ने इनका

प्रत्ययाश्रित वक्रता में ही अन्तर्भाव किया है। किन्तु आचार्य विश्वेश्वर ने पद के मध्य में आने पर इन्हें पदपूर्वार्द्ध वक्रता के अन्तर्गत माना है।

(11) आगमवक्रता

मुम् आदि के आगमों के सौन्दर्य से रमणीय किसी अपूर्ववक्रता की सृष्टि होती है, जिससे रचना की शोभा में वृद्धि होती है। पदपूर्वार्द्धवक्रता का समापन करते हुए कुन्तक लिखते हैं।

''इत्ययं पदपूर्वार्द्धवक्रभावो व्यवस्थितः।
दिङ्मात्रमेवमेतस्य शिष्टं लक्ष्ये निरूप्यते।।''

3. प्रत्ययाश्रितवक्रता

पदपूर्वार्द्धवक्रता एवं पदरार्द्ध वक्रता का मूल पदवक्रता है। पद के दो विभाग हैं। एक सुबन्त और दूसरा तिङन्त। पद के पूर्वार्द्ध में प्रातिपादिक या धातु रहेगा। अतः पदपूर्वार्द्धवक्रता में इन दोनों की वक्रता का विचार किया गया है। पद के उत्तरार्द्ध (परार्द्ध) में सुप् और तिङ् रहते हैं। इन प्रत्ययों को आश्रय बनाकर होने वाली वक्रता ही प्रत्ययाश्रितवक्रता अथवा पदारार्द्धवक्रता के नाम से जानी जाती है। इसके भी बहुत से भेद होते है। ये भेद हैं। (1) कालवक्रता (2) कारकवक्रता (3) संख्यावक्रता (4) पुरुषवक्रता (5) उपग्रहवक्रता (6) प्रत्ययवक्रता

(1) कालवक्रता

''औचित्यान्तरम्येन समयो रमणीयताम्।
याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता।। व. जी. 2/26''

जहाँ (प्रस्तुत वस्तु की) अन्तरङ्गता से (वर्तमान आदि जो लट् आदि प्रत्ययों से वाच्य) समय रमणीयता को प्राप्त हो जाता है (वहाँ) कालवैचित्र्यवक्रता होती है। उदा.-

''अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः
यहाँ भविष्यत् कालवाची प्रत्यय अपूर्व शोभाकारी है।''

(2) कारकवक्रता

''यत्र कारकसामान्यं प्राधान्येन निबध्यते।
तत्वाध्यारोपणान्मुख्यगुणभावाभिधानतः।। व.जी. 2/27''

परिपोषयितुं काञ्चिद्भङ्गीभणितिरम्यताम्।
कारकाणां विपर्यासः सोक्ता कारकवक्रता।। व.जी. 2/28

जहाँ तत्व (मुख्यत्व) का अध्यारोप करने से कारक सामान्य (गौण कारक) प्रधान रूप से तथा (इस प्रकार) कारकों के विपर्ययरूप वह कारकवक्रता की गई है। उदा.- स्तनद्वन्द्वं मन्दं स्नपयति बलाद्वाष्पनिवहोः इत्यादि।। व.जी. 1/65

(3) संख्यावक्रता

''कुर्वन्तिकाव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः।
यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदुः।। व.जी. 2/29''

जहाँ संख्या का विपर्यय कर दिया जाता है अर्थात् एकवचन अथवा द्विवचन के प्रयोग करने के स्थान पर विचित्रता के लिए जहाँ अन्य वचन प्रयोग किए जाते हैं, अथवा भिन्न वचनों का जहाँ समानाधिकण्य कर दिया जाता है (वहाँ) संख्या वक्रता होती है।

''प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्।।''

यहाँ 'न त्वहम्' ऐसा कहने बजाय

'न तु वयम्' यह बहुवचन का प्रयोग अत्यन्त रमणीय हो गया है।

(4) पुरुषवक्रता

प्रत्यक्तापरभावश्च विपर्यासेन योज्यते।
यत्र विच्छित्तये सैषा ज्ञेया पुरुषवक्रता।। व.जी. 2/30

आत्मभाव और परभाव का विपर्ययपूर्वक निबन्धन करना ही पुरुषवक्रता है। उदा.-

"वक्तुं नोत्सहते मनः परमतो जानातु देवी स्वयम्। उ2/105"

यहाँ मध्यम पुरुष युष्मद् शब्द के प्रयोग करने के स्थान पर "जानातु देवी स्वयम्" इस प्रकार 'देवी' इस प्रातिपादिक मात्र का प्रयोग हुआ है।

(5) उपग्रहवक्रता

लक्षण के अनुसार धातुओं का निश्चित पद (परस्मैपद, आत्मनेपद या उभयपद होता है। इनको आश्रित कर के होने वाले प्रयोग को प्राचीन आचार्य 'उपग्रह' शब्द से अभिहित करते है। जहाँ काव्य में शोभा के लिए दोनों (परस्मैपद-आत्मनेपद) पद में से औचित्यवश किसी एक का निबन्धन करते हैं, उसे उपग्रहवक्रता कहते हैं -

"पदयोरुभयोरेकमौचित्याद् विनियुज्यते।
शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम्।।"

(6) प्रत्ययवक्रता

तिङादि प्रत्ययों से विहित अन्य प्रत्यय जहाँ किसी अपूर्व शोभा की सृष्टि करता है, वहाँ प्रत्ययवक्रता होती है।

"विहितः प्रत्ययादन्यः प्रत्ययः कमनीयताम्।
यत्र कामपि पुष्णाति सान्या प्रत्ययवक्रता।।" व. जी. 2/32

उपसर्गनिपातवक्रता

उपसर्ग तथा निपात भी पद कहे जाते हैं। अव्युत्पन्न तथा अविकारी होने के कारण एवं उनमें विभक्ति संभव न होने के कारण अवयवरहित होने पर उन दोनों की अविभक्त वक्रता होती है। इसीलिए कुन्तक ने द्वितीय उन्मेष की ३३वीं कारिका में पृथक्तया विवेचन किया है जहाँ उपसर्ग और निपात रसादि को द्योतित करते हैं वह वक्रता वाक्य का एकमात्र जीवन है-

"रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।
वाक्यैकजीवितत्वेन सा परा पदवक्रता।।" 2/33

उदा.

"वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव।।"

यहाँ ह, हा आदि निपात समूह तथा 'तु' विप्रलम्भ श्रृङ्गार के सौन्दर्य को बढ़ा रहे हैं।

4. वाक्यवक्रता

पदसमुदाय रूप वाक्य में वर्णविन्यास आदि तीनों वक्रताएँ समुदाय रूप में वैचित्र्य का निबन्धन कर देती है। यह सहस्त्रप्रकार की होती है। इसमें समस्त अलंकार वर्ग अन्तर्भूत हो जाता है।

"परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्।

प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम्।।''2/34
यत्रालंकावर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति।। 1/20

उदा. -

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः।
त्वामाश्रयं प्राप्य तया नु कोपात्सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती।।''

यहाँ पूरे श्लोक का वाक्यगत वक्रभाव अनिर्वचनीय है। वाक्यवक्रता के साथ ही वस्तुवक्रता का भी विवेचन कर दिया है। वस्तु, सहज अथवा अहार्य हो सकती है। कुन्तक ने सजीव तथा अन्य वस्तुओं के काव्य में प्रयोग की विधि के विषय में लिखा है तथा यह भी समझाया है कि रस, भाव आदि के परिपोष से काव्य को कैसे रमणीय बनाया जा सकता है। रसवत् प्रेय, उर्जस्वि, समाहित, उदात्त - ये अलंकार्य हैं न कि अलंकार। इसके पश्चात् रूपक आदि अलंकारों का विवेचन किया है।

5. प्रकरणवक्रता एवं 6. प्रबन्धवक्रता

वाक्यों के समूह रूप प्रकरणवक्रता एवं वाक्यसमूह के समुदाय रूप प्रबन्धवक्रता सहज, आहार्य और सौकुमार्य (भेद से) मनोहरी होती है।

''वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः।
उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः।।'' व.जी. 1/29

5. प्रकरणवक्रता का उदा.

रामायण में मारीचरूप मायाविरचित स्वर्णमृग के पीछे राम का जाना, राम की रक्षा के लिये लक्ष्मण को भेजना यह अनुचित है। ऐसा विचार कर ही 'उदात्तराघव' नामक नाटक में कवि ने चातुरीपूर्वक मारीचमृग को मारने के लिये गए हुए लक्ष्मण की रक्षा के लिए सीता ने भयवश राम को प्रेषित किया ऐसा वृत्तान्त उपनिबन्धित किया है। यहाँ काव्यज्ञ रसिक की आह्लादकारिता ही वक्रता है।

6. प्रबन्धवक्रता का उदा.

महाकवियों के काव्यों में पाँच प्रकार (वर्ण, पदपूर्वार्द्ध आदि) की वक्रताओं से प्रबन्धवक्रता सौन्दर्यवर्धक होती है। जैसे कि 'तापस वत्सराज' नामक नाटक में पुष्प के समान कोमलचित्त, आनन्दपूर्ण विनोद के एकमात्र रसिक नायक (उदयन) का चरित-वर्णन ही प्रारम्भ किया गया है। रामायण और महाभारत प्रबन्धवक्रता के उदाहरण है प्रबन्धवक्रता की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-

''इतिवृत्तान्यथावृत्तरससग्पदपेक्षया
रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्।
तस्या एव कथा मूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः।
विनेयानन्दनिष्पत्यै सा प्रबन्ध वक्रता।।''

प्रबन्धवक्रता का एक और प्रकार इस रूप में वर्णित है-

''त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा।
इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समानम्।
तदुत्तरकथावर्ति विरसतवजिहासया।
कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रस्य वक्रता।।''

जहाँ नायक के उत्कर्ष के लिये इतिहास के एक देशी कथानक से समापन किया जाता है। विरसता को दूर करने के लिये सुकवि उसमें विचित्रता का सन्निवेश करता है। इसका उदाहरण किरातार्जुनीय काव्य है।

13.8 त्रिविध मार्ग

कवियों के प्रस्थान हेतु, काव्य क्रिया के कारण को मार्ग कहते हैं ये मार्ग तीन प्रकार के होते हैं। वे हैं – (1) सुकुमार (2) विचित्र (3) उभयात्मक मध्यम मार्ग।

''सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।।'' व.जी. 1/24

कुन्तक के अनुसार यह मार्ग भेद कविस्वभाव भेद पर अवलम्बित हैं न कि देश भेद पर। कविस्वभाव, प्रतिभा या शक्ति को देशविशेष की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

(1) सुकुमारमार्ग

कालिदास प्रभृति महाकवि इसी मार्ग के कवि हैं। मार्ग का स्वरूप निम्नलिखित कारिकाओं में है।

''अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।
अयत्नविहित स्वल्पमनोहारिविभूषणः।। व.जी. 1/25

भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्य कौशलः।
रसादिपरमार्थशमनः संवादसुन्दरः।। वही 26

अविभावित संस्थान रामणीयकरञ्जकः।
विधि वैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः।। वही 27

यत्किं च नापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते।। वही 28

सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुम काननेनेव षट्पदाः।। वही 29''

अर्थात् यह मार्ग कवि की अम्लान प्रतिभा से उद्भिन्न, नूतन शब्द और अर्थ से कोमल मन का संवादी, सौकुमार्य स्वभाव से प्रवाहित होने वाला, अतिशय लावण्य से सम्पन्न, खिले हुए पुष्पवनों से युक्त भ्रमरावलियों की भांति सत्कवियों का (मार्ग सुकुमार) होता है। इस मार्ग के माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य ये चार गुण होते हैं।

(2) विचित्र मार्ग

तलवार की धर के समान यह मार्ग अति दुःसञ्चार योग्य है। कुछ विदग्ध कवि ही इस मार्ग से जा सकते हैं।

''सोऽतिदुःसंचरो येन विदग्धकवयो गताः।
खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः।।'' 1/43

प्रतिभा के प्रथम प्रभात का यह मार्ग है। यहाँ शब्द अर्थ दोनों में वक्रता प्रस्फुटित सी प्रतीत होती जान पड़ती है। इसमें अनेक अलंकारों का निबन्धन किया जाता है। ये अलंकार अपनी जगमगाहट से काव्य की शोभा बढ़ा देते हैं। अलंकार यहाँ इतना उद्रिक्त रहता है कि अलंकार्य को अपनी शोभा के साम्राज्य से दीप्तिमय करके प्रकाशित करता है। पुरानी भी वस्तु यहाँ भणिति वैचित्र्य से लोकोत्तर उत्कृष्टता को पहुंचा दी जाती है।

''यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम्।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते।।'' 1/38

इस मार्ग का कवि अपनी प्रतिभा के प्रसाद से वस्तु के अन्यथा रूप को हृदयग्राही दूसरे रूप में रूपान्तरित कर प्रस्तुत करने में सक्षम होता है। यहाँ विवक्षित अनाख्येय वस्तु की प्रतीयमानता निबन्धित की जाती है, जिसमें वाच्य-वाचक शक्ति का अभाव रहता है। अलौकिक सहृदय हृदयकारी कमनीय वैचित्र्य से उपबृंहित पदार्थों का स्वभावानुरूप रसनिर्भर अभिप्राय इस मार्ग में निबन्धन होता है-

''स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः।।'' 1/49

अनिर्वचनीय अभिधा लोकोत्तर अतिशयोक्ति से भ्राजमान अन्तरवक्रोक्ति का वैचित्र्य ही इस मार्ग में प्राण का काम करता है-

''विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा।।'' 1/42

यहां मार्गानुसारी चारों का वैचित्र्य रहता है। बाण के हर्षचरित में, भवभूति एवं राजशेखर के काव्यों में यह गुण देखने वाला है।

(3) मध्यम मार्ग

यह मार्ग विभिन्न रुचियों वाले सहृदयों के मन को हरण करने वाला है। इस मार्ग में सुकुमार एव विचित्र मार्ग की विभूतियाँ परस्पर स्पर्धापूर्वक विद्यमान रहती है-

''मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पदः।।'' 1/51

इस मार्ग में सहज तथा आहार्य उभयशक्ति जन्य शोभा का विलास देखने को मिलता है। माधुर्य आदि चारों गुण भी इसमें मध्यमवृत्ति अर्थात् उभयमार्गानुसारी गुणों की उभयात्मक छाया का आश्रय लेकर रचना में कोई अनिर्वचनीय ही कान्ति का आधिक्य ले आते है। -

''वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र संकीर्णतांगते।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी।।'' 1/49

''माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्यमध्यमाम्।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम्।।'' 1/50

अग्राम्य भूषा की कल्पना में प्रवीण नागर लोगों के समान कमनीय कथा के व्यसनी कुद आरोचकी वृत्ति वाले लोग ही उभयच्छायाच्छुरित इस मध्यम मार्ग के प्रति अनुराग रखते हैं। मातृगुप्त, मायुराज, मञ्जीर, प्रभृति कवियों की रचनाओं में यह मार्ग देखा जा सकता है।

13.9 बोध प्रश्न

प्र.1 वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ का सामान्य परिचय दीजिए।

प्र.2 कुन्तक के अनुसार काव्य लक्षण की समीक्षा किजिए।

प्र.3 काव्यप्रयोजन में कुन्तक के अवदान को रेखाङ्कित कीजिए।

प्र.4 वक्रोक्ति का स्वरूप एवं षट् वक्रताओं का सामान्य परिचय दीजिए।

प्र.5 वर्णविन्यास वक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता का स्वरूप एवं उदाहरण लिखें।

प्र.6 त्रिविध मार्गों का परिचय दीजिए।

13.10 उपयोगी पुस्तकें

1. वक्रोक्तिजीवितम् - डॉ. सुशीलकुमार डे
2. वक्रोक्तिजीवितम् - व्या. आचार्य विश्वेश्वर हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली-6
3. वक्रोक्तिजीवितम् - व्या. राधेश्याम मिश्र चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
4. वक्रोक्तिजीवितम् - व्या. दशरथद्विवेदी विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
5. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास -म.म.पी.वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास
6. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास - पं. बलदेव उपाध्याय

13.11 बोध - प्रश्नों के उत्तर

1. 13.3 में देखें।
2. 13.5 में देखें।
3. 13.4 में देखें।
4. 13.6 एवं 13.7 में देखें।
5. 13.7 में देखें।
6. 13.8 में देखें।

इकाई - 14

महिमभट्ट का अनुमितिवाद

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 महिमभट्ट का परिचय

14.2.1 महिमभट्ट का समय

14.2.2 पिता एवं गुरु

14.3 महिमभट्ट की कृतियाँ

14.4 महिमभट्ट के कुछ काव्य सिद्धान्त

14.4.1 महिमभट्ट के काव्य प्रयोजन

14.4.2 काव्यहेतु

14.4.3 काव्य लक्षण

14.5 व्यक्ति विवेक की रचना का प्रयोजन

14.6 ध्वनिसिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय

14.6.1 ध्वनि शब्द के विविध अर्थ

14.6.2 ध्वनिमत में काव्यस्वरूप विवेचन

14.6.3 ध्वनिकाव्य या उत्तमकाव्य

14.6.4 गुणीभूतव्यंग्य अथवा मध्यम काव्य

14.6.5 चित्रकाव्य अथवा अवरकाव्य

14.6.6 ध्वनिसिद्धान्त का निष्कर्ष

14.7 ध्वनिसिद्धान्त का अनुमान में अन्तर्भाव

14.7.1 गुणीभूत व्यंग्य की महिमभट्टकृत समीक्षा

14.7.2 लक्षणा एवं अभिधामूलक ध्वनिभेदों का अनुमान में अन्तर्भाव

14.7.3 ध्वनि के अवान्तर भेदों का निरसन एवं अनुमान में अन्तर्भाव

14.7.4 ध्वनि के प्रमुख उदाहरणों का अनुमान में अन्तर्भाव

14.7.5 वस्तुध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव

14.7.6 अलंकारध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव

14.7.7 रसध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव

14.8 महिमभट्ट की समीक्षा

14.9 सारांश

14.10 शब्दावली

14.11 बोधप्रश्न

14.12 उपयोगी पुस्तकें

14.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

पूर्व पाठों में आपने संस्कृत काव्यशास्त्र का विस्तृत परिचय प्राप्त किया है। इस पाठ के अध्ययन से आप –

- संस्कृतकाव्यशास्त्र में ध्वनिविरोधी आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित महिमभट्ट का परिचय पा सकेंगे।
- उनकी कृतियों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ध्वनि और अनुमान में अन्तर को समझ सकेंगे।
- प्रसंगत: महिमभट्ट के विभिन्न काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- ध्वनि के अतिरिक्त महिमभट्ट द्वारा चर्चित अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों तथा उनके बारे में महिमभट्ट की अभिमति जान सकेगें।
- महिमभट्ट द्वारा ध्वनि के विभिन्न भेदों का अनुमान में अन्तर्भाव एवं उसकी प्रक्रिया जान सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्यशास्त्र में छ: प्रमुख सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं- रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य। कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जो इन सम्प्रदायों में अन्तर्भूत नहीं होते।

उनमें से सर्व प्रमुख हैं आचार्य महिमभट्ट। इनका व्यक्तिविवेक नामक ग्रन्थ विख्यात है। विद्वानों के मध्य यह ग्रन्थ पाण्डित्य के निकष के रूप में समादृत है। इस ग्रन्थ की रचना ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन करके उसका अनुमान में अन्तर्भाव दिखाने के लिये की गयी थी। प्रस्तुत पाठ में हम महिमभट्ट द्वारा प्रतिष्ठापित कतिपय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों तथा उनके अनुमितिवाद का अध्ययन करेंगे।

14.2 महिमभट्ट का परिचय

संसार को असार मानने वाले हमारे पारम्परिक आचार्यों का भौतिक जीवन के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। मोक्ष ही उनके मत में परम पुरुषार्थ था। उसी की प्राप्ति हेतु वे सतत प्रयत्नशील रहते थे। अत: हमारे शास्त्रकारों ने प्राय: अपनी कृतियों में अपना परिचय नहीं दिया। कतिपय आचार्य कदाचित् नामोल्लेख किये भी है किन्तु अपने जन्म, समय, वंश, गुरु, माता-पिता आदि का परिचय उनकी कृतियों में नहीं मिलता। ऐसे आचार्यों का कालनिर्धारण विद्वान् लोग पूर्व-पर कृतियों के समीक्षण, अन्य विद्वानों द्वारा किये गये उनके नामोल्लेख तथा अन्यान्य साधनों से करते हैं। आचार्य महिमभट्ट भी इसी श्रेणी के आचार्यो में आते हैं। उन्होंने अपनी कृति में अपना कोई ज्यादा परिचय नहीं दिया। ग्रन्थ के मंगलाचरण में उन्होंने अपना नामोल्लेख अवश्य किया है–

व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् (व्यक्तिविवेक, मंगलपद्य)

इस पद्य से इतना अवश्य ज्ञात हो जाता है कि ग्रन्थकार का नाम महिमाचार्य था। मुख्यत: ये महिमभट्ट के नाम से जाने जाते है। इन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम स्वयं व्यक्तिविवेक बताया हैं। जिसका अर्थ है व्यक्ति=ध्वनि का विवेक=औचित्यानौचित्य परीक्षण। आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त की समीक्षा और उसका अनुमान में अन्तर्भाव ही इनकी इस रचना का लक्ष्य है।

14.2.1 महिमभट्ट का समय

महिमभट्ट का जन्म कब हुआ, यह कह पाना कठिन है क्योंकि उन्होंने अपने बारे में कोई जानकारी नहीं दी। ग्रन्थ का अन्तरंग परीक्षण करके विद्वानों ने व्यक्तिविवेक का रचनाकाल ईस्वीय सन् 1000 से 1050 अथवा 1100 के मध्य माना है। इनके कालनिर्धारण में हमें 1100 ईस्वी तक इसलिए जाना पड़ता है क्योंकि व्यक्तिविवेक में अभिनवगुप्त द्वारा ध्वन्यालोक पर लिखित लोचन टीका का एक अंश अक्षरश: उद्धृत मिलता है जिसे महिमभट्ट उनका नाम लिये बिना **अन्ये केचिद् विद्वन्मानिन:** (पृ० 89) कह कर

करते हैं। अभिनवगुप्त ने लोचन की रचना 999 से 1015 ई. के बीच की होगी और व्यक्तिविवेक की रचना उसके कम से कम 25 वर्ष बाद हुई होगी। अत: व्यक्तिविवेक की रचना का समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही माना जा सकता है। व्यक्तिविवेक में महिमभट्ट की स्वाभाविक प्रक्रिया का समीक्षण कर विद्वान् इसकी रचना के समय महिमभट्ट की आयु 60-70 वर्ष के आस-पास मानते हैं। अत: इनका जन्म 950 ई. के आस-पास हुआ होगा।

14.2.2 पिता एवं गुरु

महिमभट्ट नें व्यक्तिविवेक में अपने पिता का नामोल्लेख किया है-

श्रीधैर्यस्याङ्गभुवा महाकवे: श्यामलस्य शिष्येण।
व्यक्तिविवेको विदधे राजानकमहिमकेनाऽयम्।। (व्यक्तिविवेक -3.36)

इस श्लोक से इतना ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम धैर्य था। धैर्य के बारे में महिमभट्ट ने और कोई जानकारी नहीं दी। हॉ, उन्होंने अपने गुरु को महाकवि अवश्य कहा है। उनका नाम श्यामल था। किन्तु हमें आज तक श्यामल के नाम से कोई रचना प्राप्त नहीं हुई। कतिपय ग्रन्थों में श्यामलक के नाम से उद्धृत कुछ पद्य अवश्य मिलते हैं किन्तु महिमभट्ट के गुरु श्यामल और श्यामलक एक ही व्यक्ति हैं या नहीं, इस बारे में अब तक कोई निर्णय नहीं हो सका।

महिमभट्ट सहृदय समीक्षक थे। काव्यार्थ को समझने तथा उसका निकर्ष प्रस्तुत करने में महिमाचार्य सिद्धहस्त थे। उन्होंने अपने पोतों की ज्ञानवृद्धि के लिये व्यक्तिविवेक नामक इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस तथ्य का उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है-

आधातुं व्युत्पत्तिं नप्तृणां योगक्षेमभाजानाम्।
सत्सु प्रथिततनयानां भीमस्यामिततनयानाम्।। (व्यक्तिविवेक - 3-35)

आनन्दवर्धन, कुन्तक, अभिनव गुप्त, मम्मट आदि की भांति महिमभट्ट भी कश्मीर की विद्वत्परम्परा के अमूल्य मणि थे। ये व्याकरण, न्याय, मीमांसा और साहित्यशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। अपने ग्रन्थ में उन्होंने इन सभी शास्त्रों के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। व्यक्तिविवेक इनकी शास्त्रपटुता और प्रगाढ़ पाण्डित्य का सुन्दर नमूना है जो साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में समादृत है।

14.3 महिमभट्ट की कृतियाँ

महिमभट्ट की एकमात्र कृति 'व्यक्तिविवेक' नाम से प्राप्त होती है। यही इनके कीर्तिध्वज की पताका है। महिम ने 'तत्त्वोक्तिकोश' नामक अपने एक और ग्रन्थ का उल्लेख किया है किन्तु वह अप्राप्त है-

इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम्।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रतन्यते।। (व्यक्तिविवेक - 2.119)

नामोल्लेख के अतिरिक्त इस ग्रन्थ के बारे में और अधिक जानकारी नहीं मिलती। यह ग्रन्थ अब तक अप्राप्त है।

14.4 महिमभट्ट के काव्यसिद्धान्त

अन्य आचार्यों की भाँति महिमभट्ट ने भी विभिन्न काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की चर्चा की है। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

14.4.1 महिमभट्ट के काव्यप्रयोजन

काव्यलक्षण का निरूपण करते हुए महिमभट्ट ने काव्य प्रयोजन का विवेचन किया है। उनके अनुसार दृष्ट और श्रव्य उभयविध काव्यों का प्रयोजन वही है जो वेदादिशास्त्रों का है। काव्य या तो विधि-निषेधात्मक व्युत्पत्ति प्रदान करता है या फिर कृत्याकृत्य के विवेक का उपदेश -

सामान्येनोभयमपि च तत् शास्त्रवद्विधि-निषेधव्युत्पत्तिफलम् (व्यक्तिविवेक, पृ. 95)

14.4.2 काव्यहेतु

महिमभट्ट ने काव्यहेतु के रूप में शक्ति, व्युत्पत्ति या अभ्यास का अधिक विवेचन नहीं किया। उनके मत में ये दोनों एक दूसरे के कार्य और कारण भी नहीं है। वस्तुत: महिमभट्ट शक्ति और व्युत्पत्ति दोनों को समवेत रूप में काव्य का हेतु मानते हैं। उन्होंने कहा है-

तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिभ्यां निबन्धो य: स्खवद्गते:
शब्दस्य सोऽपि विज्ञेयोऽनुमानविषयोऽन्यवत्।। (व्यक्तिविवेक, पृ. 121)

यहाँ प्रयुक्त "स्खलद्गते: शब्दस्य निबन्ध:" वाक्य उनके मत में अभ्यास के भी काव्यहेतुत्व का संकेत करता है।

14.4.3 काव्यलक्षण

महिमभट्ट ने रसपरक काव्यलक्षण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार कवि का विभावादि संयोजनात्मक वह व्यापार ही काव्य है जिसमें रसाभिव्यक्ति अनिवार्य रूप से होती है-

'कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यम्' (व्यक्तिविवेक, पृ. 95)

14.5 व्यक्तिविवेक की रचना का प्रयोजन

महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक की रचना का प्रयोजन ग्रन्थ के आरम्भ में ही प्रस्तुत किया है-

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वने: प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।।

अर्थात् ध्वनि के समस्त भेदों और प्रभेदों का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाने के लिये महिमाचार्य परा वाणी को प्रणाम करके व्यक्तिविवेक की रचना करता है।

इस प्रकार व्यक्तिविवेक की रचना कर मुख्य प्रयोजन ध्वनिसिद्धान्त का अनुमान में अन्तर्भाव है। इस इकाई का मुख्य उद्देश्य महिमभट्ट के अनुमितिवाद का परिचय प्रस्तुत करना है। उससे पूर्व यहां ध्वनि का भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है-

14.6 ध्वनिसिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय

ध्वनि-सिद्धान्त काव्य-विवेचना के क्षेत्र में परिपूर्ण शास्त्र का रूप लेकर प्रकट हुआ। 'ध्वनि' शब्द इतना अधिक गूँज गया कि उसके विरोधी भी उन तथ्यों की उपेक्षा न कर सके जिनकी स्थापना आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में की थी। ध्वनिवादियों के लिए वह ग्रन्थ आकर-ग्रन्थ बन गया। काव्य-स्वरूप विवेचन की ऐसी पद्धति ध्वनिमत द्वारा प्रस्तुत की गयी जिसकी समानता में कोई ठहर न पाया। इसे समझने के लिए 'ध्वनि' शब्द के अर्थ पर विचार अपेक्षित है।

14.6.1 'ध्वनि' शब्द के विविध अर्थ

ध्वनि-शब्द 'ध्वन शब्दे' धातु से 'इ' प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है। यही कारण है कि पतञ्जलि ने 'ध्वनि' को शब्दपर्याय बताया है- **'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि शब्द इत्युच्यते।'** अर्थात् अर्थबोधक ध्वनि ही लोक में 'शब्द' कहा जाता है। इससे 'ध्वनि' शब्द के दो पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं- (1) शब्द-पक्ष जो ध्वनन कारक है और (2) अर्थ-पक्ष जो ध्वनित या प्रतीत होता है (व्याकरण मत में 'स्फोट' भी ध्वनित होता है)। यदि एक अर्थ दूसरे अर्थ का बोधक हो तो पूर्व अर्थ को भी ध्वनि कहा जा सकता है, और दूसरे को भी ध्वनि कहते हैं, अत: इस शब्द की व्युत्पत्ति एवं तज्जनित अर्थ की विवेचना अपेक्षित है। 'ध्वनि' शब्द पाँच प्रकार से व्युत्पन्न कहा जा सकता है-

(क) ध्वननं ध्वनि: - यह भाववाच्य कृदन्त है। जब कहा जाता है कि अमुक वस्तु या अर्थ की 'ध्वनि' हुई तो इसी व्युत्पत्ति वाले 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

(ख) **ध्वनति इति ध्वनिः** - ध्वनित करने वाला (व्यञ्जक) ध्वनि है। यह कर्तृवाच्य कृदन्त है। अर्थ को ध्वनित करने वाला शब्द इसी व्युत्पत्ति से 'ध्वनि' कहा जाता है। एक अर्थ को ध्वनित करने वाला शब्द इसी व्युत्पत्ति से 'ध्वनि' कहा जाता है। एक अर्थ यदि दूसरे अर्थ का ध्वनन करता हो तो ध्वननकर्ता अर्थ भी इसी प्रकार 'ध्वनि' कहा जा सकता है।

(ग) **ध्वन्यते यः स ध्वनिः** - जो ध्वनित हो वह ध्वनि है। यह कर्मवाच्य कृदन्त है। प्रतीयमान अर्थ के लिए इसका प्रयोग होता है। **'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'** में इसी व्युत्पत्तिवाले ध्वनि शब्द का प्रयोग है।

(घ) **ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनिः** - जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है। यह करण-वाच्य कृदन्त है। इस व्युत्पत्ति से शब्दशक्ति को 'ध्वनि' कह सकते है। **'ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः'** कहकर भट्टनायक ने इस ओर संकेत किया है।

(ङ) **ध्वन्यते यस्मिन् स ध्वनिः** - जिसमें ध्वननकार्य सम्पन्न हो वह ध्वनि है। यह अधिकरण-वाच्य कृदन्त है। इस व्युत्पत्ति से उस काव्य को 'ध्वनि' कहते हैं जिसमें व्यंग्यार्थ की मुख्यता रहती है-

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः।।

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। (ध्वन्यालोक - 2/13)

आचार्य अभिनवगुप्तपादाचार्य ने तृतीय का अन्तर्भाव प्रथम में मानकर काव्य व्यापार को ध्वनन क्रिया से अभिन्न मानते हुए 'ध्वनि' कहा है (ध्वनतीति वा, ध्वन्यते इति वा, ध्वननमिति वा, ध्वनिः)। चतुर्थ का अन्तर्भाव द्वितीय में करके काव्य को 'ध्वनि' नाम दिया है। इस प्रकार वाचक पद, वाच्य अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार और व्याङ्ग्यप्रधान काव्य, सभी को 'ध्वनि' कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि वाच्य-वाचक, व्यङ्ग्य और व्यञ्जना, सभी का समाहार काव्य में होता है, अतः वह भी ध्वनि है। (द्रष्टव्य- ध्वन्यालोक 1/13 में लोचन)

14.6.2 ध्वनिमत में काव्य स्वरूपविवेचन

आचार्य वामन 'सौन्दर्य' को अलङ्करणमात्र मानकर चले थे परन्तु आचार्य आनन्दवर्धन ने उसे काव्य के प्रधानीभूत अर्थ के रूप में प्रतिष्ठा देते हुए ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठा दी और भरत-सम्मत 'रस' के आधार पर काव्य विवेचना की। वाल्मीकि का उल्लेख करते हुए उन्होंने घोषणा की कि रस ही काव्यात्मा है जो व्यङ्ग्य (ध्वनि) रूप में उपलब्ध होता है। काव्य का शुभारम्भ ही भाव-तत्त्व के आधार पर हुआ है, अतः ध्वनिकार ने उन्हें छोड दिया है। वे ऐसा मानकर चले हैं कि प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ काव्यगत गुण, अलङ्कार, रीति आदि प्रकारों से भिन्न है और उन सबमें उसी प्रकार व्याप्त रहता है जिस प्रकार दृश्यमान अङ्गों में उनसे भिन्न लावण्य-तत्त्व व्याप्त रहता है। ध्वनिकार का अभिमत इस प्रकार है -

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।

(1) जिस प्रकार सुन्दरी की अङ्ग-संघटना को ही सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता, वह उसी में से व्यक्त होने वाला तत्त्व है, उसी प्रकार काव्य के चमत्कार को गुण, अलङ्कार आदि वाच्यार्थसीमा में नहीं गिना जा सकता, प्रत्युत वह उनसे प्रतीत होने वाला तत्त्व-विशेष है।

(2) गुण, रीति, अलङ्कार और दोषाभाव काव्य के बाह्य तत्त्व हैं जो ध्वनिमत में यथावत् मान्य हैं परन्तु उन्हें काव्य का साध्य नहीं माना जा सकता - साध्य तो वह चमत्कार है जो आन्तर तत्त्व है और उक्त बहिरङ्ग तत्त्वों में से व्यक्त होता है। वही काव्य-सौन्दर्य (अनुभूतितत्त्व) है जो सहृदयों का प्राप्य तथा काव्य द्वारा प्रेषणीय परम प्रयोजन है।

(3) यही अन्तरङ्ग सौन्दर्यानुभूति काव्यात्मा है और वही सहृदयों की प्रशस्ति का विषय है। उसे कभी वाच्यरूप में नही लाया जा सकता- वह प्रतीयमान रूप (व्यङ्ग्य रूप) में ही आता है। इस प्रकार काव्य के दो पक्ष स्पष्ट हैं- वाच्यपक्ष जिसमें लक्ष्यार्थ भी आ जाता है और जो अभिव्यक्तिपक्ष है, तथा व्यङ्ग्यपक्ष जो काव्य का अन्तरङ्ग भावपक्ष है। द्वितीय ही काव्य-सर्वस्व है।

(4) व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का साध्य होकर काव्य में आता है। व्यङ्ग्य अर्थ के वस्तु, अलङ्कार और रस तीन प्रकार देखे जाते हैं। तीनों रूपों में व्यङ्ग्य वाच्य से भिन्न ठहरता है। यहाँ तक कि वाच्य अलङ्कार की अपेक्षा व्यङ्ग्य अलङ्कार अतिशय चमत्कारी होता है।

(5) ध्वनिकार एक ओर रस को काव्यात्मा मानते हैं, दूसरी ओर प्रतीयमान के तीनों भेदों को काव्यात्मा के सन्दर्भ में उपस्थापित करते हैं जिससे एक प्रकार का विरोधाभास आता है। समस्या पर विचार करते हुए आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने समाधान दिया है। प्रधानीभूत व्यङ्ग्य के रूप में जहाँ रसादि आते हैं वहाँ कोई विरोध नहीं हैं। वैसे स्थलों में भी चरमपरिणति रस में ही होती है।

(6) उक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है, असंलक्ष्यत-क्रम-व्यङ्ग्य अर्थ काव्य का अपरिहार्य अन्तरङ्ग तत्त्व है जो प्रधान व्यङ्ग्य के रूप में आता और तो रसध्वनि काव्य बनता है, अन्यथा (अन्य व्यंग्य-भेदों की प्रधानता में) संलक्ष्य -क्रम-व्यङ्ग्य काव्य बनते हैं जिनमें चरम आत्मभूत अर्थ रसादि व्यङ्ग्य ही ठहरता है। व्यङ्ग्य अर्थ गौण या तिरोहित रहकर भी किसी-न किसी प्रकार काव्य में अवश्य रहता है और उसी के आधार पर काव्य की परिभाषा की जा सकती है।

14.6.3 ध्वनि-काव्य या उत्तम काव्य

जिस वाक्य, पद या प्रबन्ध में वाच्यार्थ अपने को अथवा शब्द अपने वाच्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ के प्रति उपसर्जन या गौण कर देते हैं, फलतः अन्य अर्थ की व्यञ्जना कर चलते हैं, वह उत्तम ध्वनि-काव्य होता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थ चमत्कार में वाच्यार्थ का अतिक्रमण कर जाता है वहाँ ध्वनि नामक उत्तम काव्य होता है -

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। (ध्वन्यालोक 1/13)

यदि वाच्य का अनुयायी होकर व्यङ्ग्यार्थ अपनी प्रधानता खो देता है अथवा व्यङ्ग्य बोध होकर अप्रधान रहता है तो वहाँ ध्वनि-काव्य नहीं हो सकता। जहाँ शब्द और वाच्यार्थ (लक्ष्यार्थ) व्यङ्ग्य के प्रति इस प्रकार तत्पर हो जाते हैं कि किसी अलङ्कार का प्रवेश अलग से चमत्कारी नहीं लगता प्रत्युत वह व्यङ्ग्य का अङ्ग बन जाता है, वही ध्वनि-काव्य का क्षेत्र है। उसमें व्यङ्ग्यों का भी परस्पर संकर नहीं होना चाहिए। वह चमत्कार, जो किसी अन्य उक्ति से असम्भव हो, जहाँ शब्द द्वारा व्यक्त होता है, वहीं ध्वनि-काव्य होता है।

कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनका मूल अर्थ और होता है जबकि रूढ़ अर्थ बदलकर अन्य हो जाता है- जैसे, लावण्य, भ्रमर, मदन आदि, ये शब्द मूल अर्थ की व्यञ्जना करने पर भी ध्वनि के विषय नहीं होते, अर्थात् वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य रहता है क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य की अपेक्षा गौण रहता है।

14.6.4 गुणीभूतव्यङ्ग्य अथवा मध्यम काव्य

सामान्यतया गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य का वह प्रकार है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के साथ अन्वित होकर अपना चमत्कार वाच्य की अपेक्षा गौण कर लेता है और वाच्यार्थ की रमणीयता प्रकर्ष को प्राप्त कर लेती है। अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा में व्यङ्ग्यार्थ का चमत्कार अतिशायी न हो तो मध्यम काव्य होता है -
अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् (काव्यप्रकाश)

14.6.5 चित्रकाव्य अथवा अवरकाव्य

ऊपर देखा गया कि व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कार कहीं प्रधान होता है और कहीं गौण। इसी आधार पर दो

काव्य-भेदों-ध्वनि और गुणीभूत-व्यङ्ग्य की व्यवस्था है। उन दोनों से भिन्न काव्य चित्रकाव्य होता है जिसमें कहीं शब्दालङ्कार और कहीं अर्थालङ्कार की प्रधानता रहती है- अर्थालङ्कार भी वाच्य रूप होता हैं जिसमें व्यङ्ग्य का अभाव रहता है।

मम्मट ने शब्दचित्र और वाच्यचित्र भेद से द्विविध चित्रकाव्य माना है-

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्। (काव्यप्रकाश)

ध्वनि सिद्धान्त की मान्यता में इस काव्य भेद की विरल सम्भावना है क्योंकि कितना भी रसनिरपेक्षभाव (या व्यंग्य से तटस्थता) से रचना की जाय, कोई न कोई रस भावादि आ ही जाता है। वस्तु पर ही काव्य रचा जायगा और वस्तु सब की सब जो जगत् में उपलब्ध है किसी-न-किसी भाव का अङ्ग हुए बिना नहीं रह सकती, विशेषत: विभावरूप में तो सभी पदार्थ आ सकते हैं। रसादि विशेष चित्तवृत्तियों का नाम है और ऐसी कौन-सी वस्तु होगी जो संवेदन या चित्रवृत्ति का उत्पन्न न करे। इस स्थिति मे चित्रकाव्य का इतना ही अर्थ हो सकता है कि रस-भावादि के निर्वाह की अपेक्षा न करके कवि जब शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार की योजना करता है तब काव्यार्थ को रसादिशून्य कल्पित किया जा सकता है। रसादि-तात्पर्य की अपेक्षा में कोई भी चेतन या अचेतन पदार्थ रस भाव के विभाव बन जाते हैं। यह भी हो सकता है कि काव्य रचना का अभ्यास करने वाला कोई व्यक्ति चित्रकाव्य लिखता है परन्तु परिपक्व हो जाने पर वैसा नही करता। विशृङ्खल कवि-वाणी में भी चित्रकाव्य सम्भव है जहाँ भावनापेक्ष रचना हो जाती है-

यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्य-प्रकारो न सम्भवत्येव। (ध्वन्यालोक, 3/42)

ध्वनि के अन्य अनेक भेद है किन्तु यहाँ वह हमारा विवेच्य विषय नहीं है। अत: अब विस्तार नहीं किया जा रहा।

14.6.6 ध्वनिसिद्धान्त का निष्कर्ष

ध्वनिकार आनन्दवर्धनकृत ध्वनिलक्षण का विवेचन करने पर उसका सारांश यही निकलता है कि सहृदयश्लाघ्य वह अर्थ जिसे काव्य की संज्ञा दी जाती है दो प्रकार का होता है- - **वाच्य एवं प्रतीयमान** (वाच्यप्रतीयमानख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ)। वाच्य अर्थ का सद्भाव उपमादि अलंकारों से सिद्ध है। अभिधा से वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने के अनन्तर वक्ता, श्रोता एवं प्रकरण आदि के वैशिष्ट्य से उसी वाक्य से अर्थान्तर की भी प्रतीति होती है। उसी को प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ कहा गया है। यह प्रतीयमान **वस्तु, अलंकार** एवं **रसादि** तीन प्रकार का ही होता है। सभी प्रतीयमान अर्थ व्यंग्य अवश्य होते है पर सभी ध्वनिव्यपदेश के भागी नहीं होते। अपितु वही ध्वनि कहे जाते हैं, जिनमें वाच्य अर्थ या वाच्य अलंकार की अपेक्षा चारुता अधिक होती है।

जिस प्रकार शब्द एवं उसके वाच्य अर्थ में वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध होता है और संकेतग्रह से ही उस सम्बन्ध का निर्धारण होता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ प्रतीयमान के व्यंजक होते हैं तथा प्रतीयमान एव उनके बीच व्यंग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध होता है। वह व्यंग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध क्या है? इस पर प्रकाश डालते हुए ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा है कि - वह सम्बन्ध गमकत्व ही है जो वाच्याचकभाव सम्बन्ध के अनुसार बनता है। अर्थात् वक्ता, श्रोता और प्रकरणादि वैशिष्ट्य से प्रतीयमानार्थ का जो अवधारण होता है वह औपाधिक ही होता है।

14.7 ध्वनिसिद्धान्त का अनुमान मे अन्तर्भाव

महिमभट्ट शब्द और अर्थ में वाच्यवाचक के अतिरिक्त अन्य किसी भी सम्बन्ध को स्वीकार करने के लिए इसलिए प्रस्तुत नहीं है कि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। अर्थान्तर व प्रतीयमान के प्रति शब्द की कारणता या गमकता संभव नहीं। प्रत्युत प्रकरणादि विशिष्ट वाच्यार्थ की ही कारणता वहाँ पर होती है। अत: अर्थान्तर या प्रतीयमान की प्रतीति शब्दगम्य न होने से वह शब्द-व्यापार का विषय कदापि नहीं हो सकती।

प्रतीयमान या अर्थान्तर की प्रतीति शाब्दी न होकर एकमात्र आर्थी है। अर्थ के अर्थान्तर का गमक होने से प्रतीयमान

की प्रतीति शब्दव्यवहार का विषय न होकर एकमात्र अर्थ व्यवहार का विषय है जो एक अर्थ से अर्थान्तर का लिंगलिंगी रूप अनुमान ही हो सकता है।

14.7.1 गुणीभूत व्यंग्य की महिमभट्ट कृत समीक्षा

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनिकाव्य के दो भेद किये हैं- ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य।

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का कहना है कि काव्य के स्वरूप की व्युत्पत्ति के लिए ही ध्वनिकार ने ध्वनि एवं गुणभूत व्यंग्य नामक भेद एवं उनके प्रभेदों का निरूपण किया है। किन्तु सबसे पहले उन्हें काव्य का सामान्य-लक्षण करना चाहिए था, उक्त प्रकार से विशेष लक्षण नहीं। किन्तु ऐसा न कर ध्वनिकार ने जो प्रधानेतर भाव की कल्पना करते हुए काव्यविशेष का ही निरूपण किया है, और ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्य के जो दो भेद किये हैं उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी। विशेष प्रतीति के लिए, निमित्त के रूप में जिसका आश्रयण किया जाता है, उसका प्रतिपाद्य वह विशेष ही होता है, अन्य नहीं। अन्यथा अतिप्रसंग दोष की सम्भावना होती है। उदाहरणस्वरूप दण्डी-व्यक्ति की प्रतीति के लिए दण्ड का प्रयोग होने पर, वहाँ प्रतिपाद्य होने से व्यक्ति की ही प्रधानता होती है, दण्ड की नहीं। इसी प्रकार व्यंग्य की प्रतीति के लिए निमित्त-रूप में जिस वाच्य का आश्रयण होता है, वही व्यंग्य का प्रतिपाद्य नहीं हो सकता। गुणीभूतव्यंग्य काव्य में यही होता है। वहाँ व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य में चारुत्व के अधिक होने से वाच्य की ही प्रधानता होती है। और उस चारुत्वातिशय का निमित्त व्यंग्य ही होता है।

उक्त विवेचन को ही ग्रन्थकार ने निम्नलिखित संग्रहकारिकाओं में उपनिबद्ध किया है।

यदि काव्ये गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपीष्टैव चारुता।
प्रकर्षशालिनि तर्हि व्यर्थ एवादरो ध्वनौ।। व्यक्तिविवेक, 1।96

यदि गुणीभूतव्यंग्य नाम भेद में ही काव्य का उत्कर्षरूपी सौन्दर्य अभीष्ट है तो ध्वनिकार ने ध्वनि के प्रति इतना आदर कि वही काव्य की आत्मा हो सकता है, व्यर्थ ही में प्रदर्शित किया। क्योंकि बिना आत्मा के जिस प्रकार जीवन की सत्ता असम्भव है उसी प्रकार काव्यात्मा ध्वनि के बिना काव्य का कोई भी प्रकार सम्भव नहीं होगा।

नहि काव्यात्मभूतस्य ध्वनिस्तत्रास्ति सम्भवः।
तेन निर्जीवितैऽवास्य स्यात् प्रकर्षे कथैव का।। व्यक्तिविवेक, 1।97।।

वहाँ (गुणीभूतव्यंग्य के स्थलों में) काव्य के आत्मभूत तत्त्व ध्वनि की सत्ता कथमपि सम्भव नहीं। अतः गुणीभूतव्यंग्य काव्य अपनी आत्मा ध्वनि के अभाव में सर्वथा निर्जीव ही ठहरता है, उसके उत्तम या मध्यम काव्य होने की तो बात ही क्या? कहने का आशय यह है कि काव्य का कोई भी भेद पहले काव्य होना चाहिए अनन्तर उसका उत्तम, मध्यम या अधम भेद। काव्यात्मा ध्वनि के अभाव में काई भी रचना ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार काव्य नही कही जा सकती, फिर उसके एक भेद होने की तो बात ही क्या?

अतोऽतदात्मभूतस्य येऽभावं जगदुर्ध्वनेः।
ते मुधैव प्रतिक्षिप्ताः स्वोक्तिभावमपश्यता।। व्यक्तिविवेक, 1/98।।

अतः जिन लोगों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा होने का विधान किया है उन्होंने अपनी उक्ति के भाव को न देखते हुए अपनी ही दूसरी उक्ति का खण्डन कर दिया। अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य को काव्य का एक भेद कहने से ध्वनि की काव्यात्मता का स्वतः अपलाप हो जा जाता है।

अथेष्यते स तत्रापि रसादिव्यक्त्यपेक्षया।
काव्यमेवान्यथा न स्याद्रसात्मकमिदं यतः।। व्यक्तिविवेक, 1।99।।

सिद्धान्तपक्ष तो यह है कि यदि गुणीभूतव्यंग्य आदि स्थलों में काव्यत्व अभीष्ट है तो वह रसादि की अभिव्यक्ति को लेकर ही बन सकता है क्योंकि काव्य सदा रसात्मक ही होता है।

इत्थञ्च गम्यमानार्थस्पर्शमात्रमलङ्कृतिः।

वाच्यस्येत्येतदुक्तं स्यान्मता सैवानुमा ततः।। व्यक्तिविवेक, 1।100।।

इस प्रकार ध्वनिकार आनन्दवर्धन के ध्वनि का अभिप्राय यदि यही है कि प्रतीयमान के संस्पर्श मात्र से वाच्य अलंकृत हो उठता है तो वह अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नही है।

14.7.2 लक्षणा एवं अभिधामूलक ध्वनिभेदो का अनुमान में अन्तर्भाव

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।।

यहाँ न तो पृथ्वी कोई लता है, न सुवर्ण पुष्प, और न उसका चयन ही हो सकता है। अतः सुवर्ण पुष्पा पृथ्वी का चयन यह वाक्य यथाश्रुत रूप में अन्वित नहीं हो सकता। इसलिए मुख्यार्थबाध होने की लक्षणा द्वारा वह विपुल धन और उसके अनायास उपार्जन से व्यक्ति का सरलतापूर्वक समृद्धिशाली होना व्यक्त करता है। लक्षणामूलक होने से इसे अविवक्षितवाच्यध्वनि कहते हैं। जहाँ पर वाच्य अर्थ विवक्षित होता है किन्तु वह व्यंग्यपरक होता है उसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते है। यह अभिधामूलक होता है। इसका उदाहरण है-

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः।।

यहाँ पर अधरान्वित तव पदार्थ का प्रयोजकत्वसम्बन्ध से विम्बफलकर्मक दशन के साथ भी अन्वय होकर, तुम्हारे अधरारुण्यलाभ से गर्वित विम्बफल का तुम्हारे सम्बन्ध से ही, मुख्यतः तुमको लक्ष्य में रखकर ही, दशन कर रहा है। यह अर्थ विवक्षित है, इसीलिए 'तवाधरपाटलं इस समस्तपद का प्रयोग किया है। शुकशावक को उचित तारुण्यकाल पर उसकी प्राप्ति और रसज्ञता, यह सब पुण्यातिशययलभ्य है, यह अर्थ और इसके साथ अनुरागी का स्वाभिप्रायख्यापन अर्थ व्यंग्य है।

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने ध्वनि के इन दोनों भेदों की सत्ता का खण्डन किया है। उनका कथन है कि - ध्वनिकार ने ध्वनि के अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितान्यपरवाच्य नामक जो दो भेद किये हैं, वहाँ अविवक्षितत्व का तात्पर्य क्या है? क्या वह वाच्य की अनुपादेयता है या अन्यपरता? यदि वहाँ वाच्य अनुपादेय है तो पूर्ण रूप से या अंशतः? वाच्य को सर्वात्मना अग्राह्य मानने पर उसका व्यञ्जकत्व भी अनुपादेय (अग्राह्य) ही होगा और इसका प्रयोग काव्य में उसी प्रकार सदोष होगा जैसे पुनरुक्तआदि का। क्योकि जब वाच्य ही विवक्षित नहीं तो उसके अधीन व्यंग्य तो सुतरां अविवक्षित होगा। यदि यह कहें कि अर्थ की वाच्यात्मकता ही अविवक्षित है, व्यंग्यात्मकता नहीं, तो ठीक है, किन्तु उस अविवक्षित अंश का शब्दतः उपादान होना चाहिए। विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निरूप्यमाण होकर उसका पर्यवसान उसकी स्वयं की अप्रधानता में ही होता है। इस प्रकार अविवक्षितत्व, अन्यपरत्व एवं उपसर्जनीकृतस्वार्थत्व सब एक-दूसरे के अपरपर्य्याय हैं और इन सबका एक ही अर्थ है। प्रकारान्तर से इन सबसे ध्वनि के स्वरूप का ही कथन होता है उसके प्रकार या भेद पर प्रकाश नहीं पड़ता। पदार्थ के धर्म का अनुसरण करने पर अवान्तर विषय का जो संस्पर्श होता है वह उसका प्रकार या भेद कहा जाता है। जैसे शाबलेय आदि गोत्व के भेद होते हैं। कोई वस्तु या विषय अपना ही प्रकार कदापि नहीं हो सकता, अन्यथा अनवस्थादोष आयेगा। उक्त विवेचन के अनुसार अविवक्षित-वाच्य एवं विवक्षितान्यपर-वाच्य नामक ध्वनि-भेदों में किसी विशेष का ग्रहण नहीं होता। अतः वह ध्वनि के प्रकार किस प्रकार हो सकते हैं।

ध्वनि का दूसरा भेद जो विवक्षितान्यपरवाच्य है, उसकी सत्ता तो और भी अस्पष्ट एवं सन्देहास्पद है। क्योंकि यदि विवक्षितत्व प्राधान्य को कहते है तो उसका अन्यपरत्व कैसे होगा। वह उसी समय किस प्रकार विवक्षित होने से प्रधानता का अनुभव कर सकता है? अतः वाच्य के विवक्षितत्व अर्थात् उसकी प्रधानता एवं अन्यपरत्व अर्थात् अप्रधानता, युगपत् प्रत्यक्ष अनुभवविरूद्ध होने से, विवक्षितान्यपरवाच्य भेद की अनुपपन्नता स्वतः सिद्ध हो जाती है। एकाश्रयत्वेन प्रधानेतरभाव मानने से भी इसलिए काम नहीं चलता कि एकाश्रयत्वेन प्राधान्याप्राधान्य सम्बन्धवत्ता उसी अर्थ में ही ठीक होती है जो विशेषण के रूप में

अभिमत होते हैं, अन्य विषय में नहीं। वहीं एक वस्तु, प्रधान और अप्रधान दोनों हो सकती है, जो विशेषण है। विशेष्यवस्तु तो सर्वदा प्रधान ही होती है। 'रामस्य पाणिरसि' इत्यादि वाक्य में 'पाणि' में कठोरता रूप उत्कर्ष का आधान ही है। किंच विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनि की सत्ता को स्वीकार कर लेने पर भी वाच्य की अन्यपरता स्वत: सिद्ध है। अन्यपरता ही उपसर्जनीकृतात्मता है जो ध्वनि के प्रत्येक भेद प्रभेद में सामान्य रूप से स्वत: विद्यमान है।

यदि विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनिभेद में से अन्यपरत्व अंश निकालकर उसका विवक्षितवाच्य मात्र नाम रखा जाय, तो जहाँ पर वाच्य ही विवक्षित अर्थात् प्रधान होता है, ऐसा गुणीभूत व्यंग्य भी ध्वनिकाव्य हो जायेगा। और इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य में काव्य की उत्तमता का निषेध नही होगा। इस पर व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि - यदि अविवक्षितवाच्य में अन्यपर का प्रयोग नही करते तो विवक्षितान्यपरवाच्य में भी उसका प्रयोग नहीं होना चाहिए। क्योंकि अनुमेयार्थसंस्पर्श में ही अन्वयव्यतिरेक से काव्य की चारुता निहित होती है।

प्रधानेतरभाव की चर्चा से किसी प्रकार का संस्कार विशेष सिद्ध नही होता तथा दोनों ही ध्वनि के सामान्य भेद हैं।

14.7.3 ध्वनि के अवान्तरभेदों का निरसन एवं अनुमान में अन्तर्भाव

ध्वनिकार ने अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूल-ध्वनि के अर्थान्तर संक्रमितवाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य नामक दो प्रभेद किये है। दोनों क्रमश: उपादान एवं लक्षणलक्षणामूलक होते हैं। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का कथन है कि - उक्त दोनों भेद सर्वथा अनुपपन्न है। अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि का जो उदाहरण 'अग्निर्माणवक:' दिया गया है उससे यही सिद्ध होता है कि अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य गुणवृत्ति लक्षणा का भेद है न कि ध्वनि का। उससे लक्षणा के एक भेद गौणी का ही समर्थन होता है। उपचारत: अर्थात् सादृश्यसम्बन्ध से ही गौणी लक्षणा होती है। अन्यून एवं अनतिरिक्त (न कम न अधिक होने के) भाव से निहित साधर्म्य के बोध के लिए, एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर जो आरोप होता है, उसी को उपचार कहते हैं। आरोप्य आरोपकभावरूप होने से वह उपचार, आरोप्य एवं आरोपक उभयार्थविषयक होता है। जब शब्द का वही अर्थ सामान्य विशेषभाव की कल्पना से उभयरूप में इस उपचार का विषय होता है, तो वहाँ पर अर्थ प्रकरणादि से निश्चित विशेषांश ही उत्कर्षापकर्ष से समारोपित हो साधर्म्य के बोध का हेतु होता है, सामान्य अंश नहीं-

किञ्च अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये यदुदाहरणं तदग्निर्माणक इतिवद् गुणवृत्तेरेव सङ्गच्छते। तस्य गुणवृत्ति प्रकारत्वसमर्थनात्। व्यक्तिविवेक, पृ. 146

जैसे 'तदमृतम् अमृतम्', (वह अमृत अमृत ही है) इत्यादि स्थलों में द्वितीय अमृत पद का अर्थ परसंजीवनाधायकत्व रूप विशेष ही है। तथा 'स इन्दुरिन्दु:' (वह चन्द्रमा चन्द्रमा ही है) में प्रयुक्त द्वितीय इन्दु पद का अर्थ संतापनिवर्तकत्व विशेष ही है। कहने का सारांश यह है कि **'सामान्यं विशेषात् नातिरिच्यत। निर्विशेषं न सामान्यम्'** (सामान्य विशेषों से बाहर नहीं है, न विशेष ही सामान्य से रहित हो सकते हैं) इत्यादि न्याय से विशेष की कुक्षि में ही सामान्य का पात सम्भव है। अत: किसी वस्तु में उसी का आरोप सर्वथा सम्भव हैं।

यही नहीं अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का तो अनुमान में साक्षात् अन्तर्भाव सम्भव है। उदाहरणस्वरूप - **'रामोऽस्मि सर्वं सहे'** इत्यादि स्थलों में प्रयुक्त रामादिपद, प्रकरण विशेष से निश्चित उत्कर्षापकर्षलक्षण धर्म विशिष्ट संज्ञी का ही बोध कराते हैं, संज्ञा मात्र का नहीं। यहाँ पर जो अर्थ वाच्य होता है वही आश्रयभाव से अनुमित धर्मरूप अर्थान्तर में संक्रमित अर्थात् परिणत हो जाता है। अनुमेय दो प्रकार का होता है। धर्मरूप एवं धर्मीरूप। धर्मरूप अनुमेयार्थ ही अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि का विषय होता है। वहाँ पर धर्म की ही वाच्यार्थगतत्वेन प्रतीति होती है। धर्मीरूप अनुमेयार्थ तो **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** आदि की तरह शास्त्रीय अनुमान का विषय होता है। काव्य का नहीं। धर्मविशेष की प्रतिपत्ति में प्रकरणादि ही हेतु के रूप

में आते हैं, रामादि शब्द नहीं।

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के भी दो भेद किये गये है - अलक्ष्यक्रम-व्यंग्य और संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य। आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि शब्दशक्तिमूल अनुरणन रूप संलक्ष्य क्रम-व्यंग्य तो किसी प्रकार सम्भव नहीं। क्योंकि शब्द का अभिधा के अतिरिक्त अन्य व्यापार सर्वथा असंभव एवं अस्वीकार्य है। इस प्रकार ध्वनि के सभी प्रकार के भेदों की अनुपपन्नता एवं उनके अनुमान में अन्तर्भाव का विवेचन, महिमभट्ट ने बड़ी ही विद्वत्तापूर्वक किया है। ध्वनिकार की मान्यताओं की गहन मीमांसा कर महिमभट्ट ने यह दिखाने का सफल प्रयास किया है कि ध्वनि के भेद-प्रभेद कपोल-कल्पित एवं प्रवादमात्र हैं। इस सम्पूर्ण विवेचन का सार निम्नलिखित संग्रहकारिकाओं में ग्रन्थकार ने स्वयं संकलित कर दिया है-

नाविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्युक्ता प्रकारता।
न हि प्रकारस्तस्यैव स एवेत्युपपद्यते।। व्यक्तिविवेक, 1।101।

अविवक्षितावाच्य ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य नामक भेद भी ठीक नहीं हैं क्योकि कोई वस्तु स्वयं अपना ही प्रकार नहीं हो सकती।

भक्तिः पदार्थवाक्यार्थरूपत्वात् द्विविधा मता।
तद्बुद्धिश्चानुमानान्तर्भूता यदुपपादिता।। व्यक्तिविवेक, 1।102।।

पदार्थ एवं वाक्यार्थ रूप दो प्रकार की जो भक्ति कही गई है उसमें उक्त दोनों भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है।

तिरस्कृतवाच्यस्य ध्वनेर्भक्तेश्च का भिदा।
द्वितीयोऽपि प्रकारो यः सोऽपि संगच्छते कथम्।।
परस्परविरुद्धत्वाद् विवक्षातत्परत्वयोः। व्यक्तिविवेक, 1।103-4।।

अतः अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य ध्वनि और भक्ति (लक्षणा) में क्या अन्तर है? विवक्षितान्यपरवाच्य संज्ञक ध्वनि का जो दूसरा (अभिधामूल) भेद है वह भी विवक्षा और अन्यपरत्व के परस्पर विरुद्ध होने से कैसे संभव हो सकता है?

यः शब्दशक्तिमूलोऽन्यप्रभेदो वर्णितो ध्वनेः।।
सोऽयुक्तोऽन्यत एवासौ तत्रेष्टार्थान्तरे मतिः।
शब्दे शक्त्यन्तराभावस्याऽसकृत् प्रतिपादनात्।। व्यक्तिविवेक, 1।104-5।।

शब्दशक्तिमूल विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो दूसरा भेद संलक्ष्य एवं अलक्ष्य क्रम नाम से वर्णित किया गया है वह भी युक्त नहीं क्योंकि विवक्षित अन्य अर्थ का बोध दूसरे प्रकार से ही होता है तथा शब्द में अभिधा के अतिरिक्त अन्य शक्ति के संभव न होने का प्रतिपादन किया ही जा चुका है।

14.7.4 ध्वनि के प्रमुख उदाहरणों का अनुमान में अन्तर्भाव

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने ग्रन्थ के अन्तिम तृतीय विमर्श में ध्वनि के उन उत्कृष्ट उदाहरणों की व्याख्या अनुमान की प्रक्रिया से की है जिनको ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में मुख्यरूप से उदाहृत किया है। ध्वनि के अनन्त भेदप्रभेदों में तीन को मुख्य माना गया है- **वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि** एवं **रसादिध्वनि।** शेष इन्हीं के अवान्तर भेद होते है। अतः इन तीनों के ही प्रख्यात उदाहरणों की व्याख्या, अनुमान की प्रक्रिया से यथोचित रूप से सम्पादित कर देने पर 'स्थलीपुलाक' न्याय से ध्वनि के अशेष उदाहरणों का अनुमान की प्रक्रिया में अन्तर्भाव स्वयं सिद्ध हो जायेगा।

14.7.5 वस्तु ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव

ध्वन्यालोक में वस्तु ध्वनि के अनेक उदाहरण-प्रत्युदाहरण दिये गये हैं किन्तु ध्वनिकार को जो उदाहरण परम अभीष्ट है, तथा अभिनवगुप्त ने लोचन में विशद व्याख्या कर जिसे वस्तु-ध्वनि का विशुद्ध उदाहरण बताया है वह हाल की गाथा सप्तशती की निम्न गाथा है-

भ्रम धार्मिकविस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुहरवासिना दृप्तसिंहेन।।

यह गाथा मूलतः प्राकृतम में है जिसका प्रसंग यह है कि कोई प्रेमीयुगल गोदावरी नदी के तट के उपवन में मिलने का कार्यक्रम बनाता है, किन्तु भ्रमणार्थ समागत एक वृद्ध धार्मिक उनके मिलन-कार्य में विघ्न पहुंचाता है। उन्हें रोकने के लिए वे सम्भवतः उनके पीछे एक कुत्ता छोड़ते है। इस पर भी जब वह नहीं मानते तो एक दिन वह चतुर नायिका बड़े ही भोलेपन के साथ उपर्युक्त गाथा को पढती है जिसका वाच्यार्थ यह है कि 'हे वृद्ध, धार्मिक अब आप निश्चिन्त होकर भ्रमण करें क्योंकि जो कुत्ता आपको तंग करता था उसे गोदावरी तट के कुञ्ज से आकर दुर्दान्त सिंह ने मार डाला।'

आचार्य महिमभट्ट का कथन है कि चूंकि दोनों अर्थो की प्रतीति क्रमपूर्वक होती है, पहले विधिरूप वाच्य अर्थ की, अनन्तर निषेधात्मक प्रतीयमान अर्थ की, अतः धूम एवं अग्नि के समान दोनों अर्थो में साध्य साधन-भाव अन्तर्निहित है। प्रथम अर्थ भ्रमण का विधायक है। उसकी प्रतीति के लिए वैदग्ध्यविवेक की आवश्यकता नहीं। तथा उसके साध्य भ्रमण का विधान एवं साधन भ्रमण के अवरोधक कुत्ते का विनाशरूप अर्थ होता है। यहाँ दोनों का शब्दतः उपादान हुआ है। अतः विधिरूप अर्थ वाच्य ही है। निषेधरूप द्वितीय अर्थ की प्रतीति उसी बोद्धा को संभव है जो मारितः में प्रयुक्त णिच् के अर्थ का पर्यालोचन करने में समर्थ है। तथा वाक्य की प्रयोजिका कामुकी के ४स्वरूप की गवेषणा करने पर, प्रथम अर्थ के सामर्थ्य से, प्रकरणादि बोध के अनन्तर ही द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है। वह सामर्थ्य इस बात के कथन मे ही है कि कुत्ते की मृत्यु हो जाने पर वहाँ पर उससे भी अधिक भयंकर जीव सिंह विद्यमान है। अतः यह कथन ही निषेधात्मक द्वितीय अर्थ का प्रतिपादक है। इस प्रकार इन दोनों अर्थो में साध्यसाधनभाव अन्तर्निहित है, यही समझना चाहिए। साध्य-साधनरूप इन दोनों अर्थो के बीच अबिनाभाव-नियम रूप व्याप्ति का आधार, इनका वैपरीत्य सम्बन्ध ही है, जो लोक प्रमाण से सिद्ध है। इस प्रकार उपर्युक्त पद्य का निषेधात्मक द्वितीय अर्थ अनुमेय ही है, यह सिद्ध हो जाता है। अतः उक्त रीति से विदग्ध मुग्धा नायिका की उक्ति का, विश्रब्ध धार्मिक को उसके हित निवेदन के ब्याज से विधि मुख से भ्रमण के प्रतिषेधात्मक अर्थ में ही पर्यवसान होता है, और वह अनुमेय ही होता है।

अनुमान की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए व्यक्तिविवेककार ने कहा है कि यहाँ पर उक्त पद्य में **'भ्रम धार्मिकविस्रब्धः'** वाक्य का अर्थ भ्रमण की विधि ही वाच्य है। **'स शुनकोऽद्यमारितस्तेन'** इत्यादि से दृप्तसिंह के द्वारा कुत्ते का मारण रूप वाक्यार्थ ही आर्थ हेतु होता है। भ्रमण का प्रतिषेधरूप अर्थ तो सर्वथा अनुमेय ही है, वाच्य कदापि नहीं। क्योंकि यहां पर **'गोदावरी कच्छ-कुञ्जवासिना'** से धर्म पक्ष का, दृप्तसिंह से भ्रमणाभावरूप साध्य के निमित्त दृप्तसिंह सद्भाव रूप हेतु का, तथा **कुञ्जवासिना** से धर्म के धर्मी पक्ष में सद्भाव का निर्देश हुआ है। अतः भ्रमण का निषेध अर्थ अनुमेय ही है, व्यंग्य नहीं। अनुमान की प्रक्रिया निम्न प्रकार से है-

गृहं भयकारणेन निवृत्तिमत्, भीरूभ्रमणयोग्यत्वात्।
यद्यद्भीरुभ्रमणं तत्तद् भयकारणनिवृत्युपलब्धिपूर्वकम्, यथा नगरोद्यानादि।

स्वार्थानुमान की इस अन्वयव्याप्ति से भ्रमण का विधान होता है जो वाच्यार्थ है। अनुमेयार्थ की प्रतीति के विषय में अनुमान निम्नलिखित व्यतिरेकव्याप्ति के प्रकार से होता है-

1. **गोदावरी तटे भीरुभ्रमणाभावः, सिंहोपलब्धेः (भयकारणनिवृत्यभावात्)**
2. **यत्र यत्र भयकारणनिवृत्यभावः (भयकारणोपलब्धिः) तत्र तत्र भीरुभ्रमणाभावः यथा महदरण्यम्।**
3. **गादावरीतटेऽपि भयकारणसिंहोपलब्धिभावोऽतस्तत्रापि धार्मिकभ्रमणाभावः।**

इस व्यापक विरुद्धोपलब्धि से गोदावरीतट पर धार्मिक के भ्रमण न करने का अर्थ अनुमेय ही है।

14.7.6 अलंकारध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव

ध्वन्यालोक में प्रस्तुत अलंकारध्वनि के उदाहरणों में महिमभट्ट ने जिसे चुना है वह ध्वनिकार आनन्दवर्धन की स्वयं की रचना है। वह है-

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जडराशिरयं पयोधिः।।

यहाँ पर प्रसंग यह है कि कोई परम सुन्दरी नायिका किसी युवक पर मुग्ध है और उसे अपनी और आकृष्ट करने के लिये अपने हावभाव, कटाक्षादिप्रदर्शित करती है। किन्तु उस व्यक्ति पर जब उसका कुछ भी प्रभाव नही होता तो वह अपना तिरस्कार समझती है और उसका मुख कोपरंजित हो उठता है। उसे सान्त्वना देते हुए कोई सखी या द्रष्टा कह रहा है कि हे तरलतयाक्षि! लावण्य कान्ति से परिपूरित प्राची दिशा के समान तुम्हारे मुख की इस मुस्कराहट पर यदि यह समुद्र क्षुब्ध नहीं हो उठता तो उस पर बुरा मानने की क्या बात है? क्योंकि इस प्रकार उसने यह स्पष्टतया व्यक्त कर दिया कि वह वास्तव में जैसा उसका जलराशि नाम है वैसा ही जडराशि है भी। उसमें चैतन्य का लेश तक नहीं, फिर उससे किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया की आशा ही क्यों की जाय?

आचार्य महिमभट्ट ने इसी पद्य की अनुमानपरक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि जिस प्रकार पूर्ण-चन्द्र को देखकर जलराशि समुद्र में क्षोभ न हो तो उसे जड़राशि समझकर उसकी अवहेलना ही करनी होगी उसी प्रकार यदि विविधगुणों से समन्वित नायिका के मुख के सौन्दर्य को देखकर युवकहृदय विचलित न हो गया तो वह निस्सन्देह जड़ है। यही श्लोक का वाच्यार्थ है। यहाँ नायिका के परम सुन्दर मुख को देखकर (पयोधि) समुद्र में होने वाले स्वाभाविक क्षोभ के अभाव का वर्णन, नायिका के अनिन्द्य सुन्दर मुख में पूर्ण-चन्द्र के आरोप के बिना नही होता। अतः वही इस आरोप का हेतु हो जाता है। मूख पर पूर्णेन्दु का आरोप रूपक अलंकार है जो साध्य है। नायिका के सुन्दर मुख को देखकर भी समुद्र में क्षोभ का न होना (ज्वारभाटे का न आना) यह अर्थ वाच्य है जो हेतु के रूप में उपन्यस्त हुआ है। इसमें ही मुख एवं चन्द्र में रूप्यरूपक भाव रूपी रूपकालंकार की अनुमिति होती है। एवं वाक्यार्थ तथा प्रतीयमान अर्थ में हेतुहेतुमद्भाव के यथावत् बैठे जाने से यहाँ अनुमान की प्रक्रिया ही काम करती है। इस प्रकार ध्वनिकारकृत अलंकार ध्वनि के इस स्थल में रूपकादि अलंकार की अनुमिति ही होती है।

14.7.7 रसध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव -

रसध्वनि के उदाहरण की अनुमेयता का निरूपण करते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि विभावादि से जो रसादि की प्रतीति होती है, उसका भी अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव की प्रतीति ही रसादि की प्रतीति का साधन होती है। वे विभावादि रत्यादि स्थायिभावों कारण, कार्य एवं अनुमान कराते हुए ही रसादि की निष्पत्ति कराते हैं। प्रतीयमान रत्यादि स्थायीभाव ही रसावस्था को प्राप्त कर रसपद से व्यपदिष्ट कराते हैं। प्रतीयमान रत्यादि स्थायीभाव ही रसावस्था को प्राप्त कर रसपद से व्यपदिष्ट होते हैं। प्रतीयमान रत्यादि स्थायीभाव ही रसावस्था को प्राप्त कर रसपद से व्यपदिष्ट होते हैं। अतः उनकी प्रतीति में क्रम अवश्यम्भावी है। शीघ्रतावश वह परिलक्षित नहीं होता। यह कथन स्वयं ध्वनिकार का है।

कुमारसम्भव के वसन्त वर्णन में पुष्पाभरण से विभूषित देवी पार्वती के शिव के समीप आगमन से लेकर मदनदहन पर्यन्त, परिवृत्त-धैर्य शम्भु की चेष्टाविशेष का समूचा वर्णन रसध्वनि का उदाहरण है, जिसकी व्याख्या अनुमान की प्रक्रिया से ही ठीक-ठीक हो सकती है। स्थालीपुलाक न्याय से एक उदाहरण की व्याख्या यहाँ दी जाती है।

शिवपार्वती यथेच्छ विहार कर रहे थे कि इसी बीच मे ग्रीष्मकाल आ उपस्थित हुआ जिसकी जमुहाई से

ही मधुमास के कुसुमविकास का उपसंहार हो गया तथा चारों और मल्लिका के श्वेत पुष्प ऐसे खिल उठे मानो महाकाल रूपी शिव ने अट्टहास ही किया हो।

अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नुदजृम्भत।
ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।।

यहाँ पर प्राकरणिक महाकाल नामक देवताविशेष विषयक प्रतीति ही साध्य है। अट्टहास सम्बन्ध एवं युगसंहार व्यापार यह दोनों ही उसके साधन हैं, जिनका वह कार्य है। इनमें कार्यकारणमूलक साध्यसाधनभाव का निर्धारण आगम-प्रमाण से होता है। अतः उससे ही समासोक्ति के क्रम से अप्राकरणिक अर्थान्तर की प्रतीति सिद्ध होती है। वह सिद्धि उभयार्थवर्ती महाकाल शब्द की शक्ति से कदापि नहीं हो सकती।

इसी प्रकार भाव, रसाभास एवं भावशान्ति आदि के ध्वनिकार द्वारा उदाहृत पद्यो का विशद विवेचन ग्रन्थकार महिमभट्ट ने अनुमान की प्रक्रिया के अनुसार किया है। संक्षेप में किये गये उक्त विवेचन के आधार पर, हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि महिमभट्ट ने ध्वनि के सभी प्रकार के भेदों के उदाहरण प्रत्युदाहरणों का अनुमान का प्रक्रिया में अन्तर्भाव किया है। उक्त समूचे विवेचन का सारांश ग्रन्थकार ने स्वयं निम्नलिखित कारिकाओं में संगृहीत कर दिया है।

तदिदं विस्तरस्याऽस्य तात्पर्यमवधार्यताम्
यार्थान्तराभिव्यक्तौ वस्सामग्रीष्टा निबन्धनम्।।

सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता।
अन्यतोऽन्यस्य हि ज्ञानमनुमैकसमाश्रयम्।।

उपर्युक्त समूचे विवेचन का यह तात्पर्य समझना चाहिए-

आप ध्वनिवादी को अर्थान्तर (व्यंग्य) की अभिव्यक्ति के लिए (प्रकरण-पर्यालोचनादि) जो सामग्री अपेक्षित होती है वही सामग्री हम अनुमितिवादियों को गमक (हेतु) के रूप में सम्मत है। ध्वनि में अर्थान्तर की अभिव्यक्ति का आधार प्रकरण पर्यालोचन माना गया है। अनुमितिवाद में वही प्रकरणपर्यालोचन लिंग अर्थात् हेतु का काम करता है।) फिर वहाँ अनुमिति के होने में कोई बाधा नही होती है। क्योंकि किसी वस्तु से उससे भिन्न प्रकार की वस्तु का ज्ञान एकमात्र अनुमान के आधार पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

वाच्यवाचकयोः स्वार्थप्राधान्यप्रतिषेधतः
ध्वनेः शक्त्यन्तराभावाद् व्यक्तेश्चानुपपत्तितः।।

क्योंकि ध्वनिवादी ने वाच्य एवं वाचक के द्वारा अपने अर्थ की अपेक्षा दूसरे अर्थ की प्रधानतया अभिव्यक्ति को ध्वनि कहा है। वाच्य एवं वाचक के द्वारा अपने अर्थ से अर्थान्तर की प्रधानतया अभिव्यक्ति की बात का निषेध यहाँ किया गया है। अभिधा के अतिरिक्त ध्वनि नाम की कोई शक्ति सम्भव नहीं। व्यञ्जना की भी सिद्धि नहीं हो पाती। अतः प्रकरणादि हेतु है एवं अन्य अर्थ साध्य। इस प्रकार महिमभट्ट द्वारा प्रदर्शित ध्वनि भेदों की चर्चा यहाँ अतिसंक्षेप में की गयी है। विस्तार के लिए उनके व्यक्तिविवेक नामक ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये।

14.8 महिमभट्ट की समीक्षा

परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यो ने महिमभट्ट के अनुमितिवाद का प्रबल विरोध किया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट आदि ने अनेक हेतु प्रदर्शित कर महिमभट्ट की आलोचना की है। उन्होंने व्यञ्जना की उपस्थापना में प्रबल युक्तियाँ देकर अपने सिद्धान्त का समर्थन किया है और उसे दृढतर बनाया है। इन अंशों का अध्ययन काव्यप्रकाश आदि आकर ग्रन्थों से करना चाहिये।

14.9 सारांश

प्रस्तुत पाठ में आपने महिमभट्ट का संक्षिप्त जीवनवृत्त पढा है। आपने देखा है कि वे मूलतः न्यायशास्त्र के आचार्य

थे। आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिष्ठापित ध्वनिसिद्धान्त का अवगाहन कर उसे न्याय की अनुमान प्रक्रिया में ढालना उनके जैसे विदग्ध नैयायिक द्वारा ही सम्भव था। न केवल ध्वनि के किसी एक भेद का, अपितु वस्तु, रस और अलंकार नामक तीनों ध्वनियों तथा उनके भेद-प्रभेदों का खंडन उन्होंने बड़ी निपुणता से किया है।

14.10 शब्दावली

1.	व्यक्तिविवेक	–	वह ग्रन्थ जिसमें ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया गया है।
2.	व्युत्पत्ति	–	लोक, शास्त्र एवं व्यवहारादि का ज्ञान
3.	विधि-निषेध	–	उत्सर्ग और अपवाद
4.	ध्वनि	–	आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिष्ठापित काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त
5.	शब्दार्थौ	–	शब्द और अर्थ
6.	लावण्य	–	सौन्दर्य
7.	प्रतीयमान	–	व्यङ्ग्यार्थ
8.	उत्तमकाव्य	–	जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान हो।
9.	अलक्ष्यक्रम व्यंग्य	–	ध्वनि का एक भेद।
10.	अनुमान	–	नैयायिकों द्वारा स्वीकृत एक प्रमाण।

14.11 बोधप्रश्न

1. महिमभट्ट का समय है-

   (क) 9 वीं शताब्दी (ख) 7 वीं शताब्दी

   (ग) ईसा पूर्व (घ) 11 वीं शताब्दी

2. महिमभट्ट की रचना है-

   (क) ध्वन्यालोक (ख) काव्यमीमांसा

   (ग) दशरूपक (घ) व्यक्तिविवेक

3. महिमभट्ट ने खण्डन किया है-

   (क) अलंकारों का (ख) गुणो का

   (ग) ध्वनि का (घ) प्रत्यक्ष का

4. ध्वनि के मुख्य भेद होते है-

   (क) तीन (ख) दो

   (ग) एक (घ) दस

5. 'इत्थं च गम्यमानार्थ' इत्यादि कारिका है-

   (क) अभिनवगुप्त की (ख) मम्मट की

   (ग) महिमभट्ट की (घ) व्यास की

निबन्धात्मक प्रश्न -

1. निम्नलिखित उदाहरण की महिमभट्ट के अनुसर व्याख्या कीजिए-

   सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
   शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।।

2. महिमभट्ट के अनुसार ध्वनि के अवान्तर भेदों का अनुमान में अन्तर्भाव प्रदर्शित कीजिए।

3. विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के बारे में महिमाचार्य की उक्तियों का विवेचन कीजिये।

4. वस्तुध्वनि के अनुमान में अन्तर्भाव की प्रक्रिया समझाइये।

5. अलंकार ध्वनि क्या है। महिमभट्ट की इस विषय में अभिमति स्पष्ट कीजिए।

14.12 उपयोगी पुस्तकें

1. तर्कसंग्रह – अन्नम्भट्ट, अर्कनाथ चौधरी, जयपुर

2. काव्यप्रकाश – पारसनाथ द्विवेदी, आगरा

3. ध्वन्यालोक – जगन्नाथपाठक, वाराणसी

4. व्यक्तिविवेक – रेवाप्रसादद्विवेदी, वाराणसी

5. व्यक्तिविवेकानुशीलनम् – के.पी. केशवन्, जयपुर

6. संस्कृत काव्य एवं काव्यशास्त्र– राधावल्लभत्रिपाठी, नई दिल्ली

14.13 बोध प्रश्नो के उत्तर

1. (घ)

2. (घ)

3. (ग)

4. (क)

5. (ग)

निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर पाठ से विद्यार्थी स्वयं खोज कर लिखें।

ISBN No. : 13/978-81-8496-147-8